धर्मकल्पद्रुम ।

षष्ठ खण्ड

—:०※०:—

Dharma Kalpadruma

Vol. VI.

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

AS THE BASIS OF

All Religion and Philosophy

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

—

काशीधाम ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधानकार्यालय
शास्त्र-प्रकाश विभागद्वारा प्रकाशित ।

—

द्वितीय संस्करण
१९५९

संशोधित मूल्य [~~मूल्य ३॥~~)
8.00

श्रीविश्वनाथो जयति

धर्मकल्पद्रुम

षष्ठ खण्डका द्वितीय संस्करण

सर्वशक्तिमान् अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान्की असीम अनुकम्पासे धर्मकल्पद्रुमके षष्ठ खण्डका यह दूसरा संस्करण श्रीभारतधर्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित हुआ। यह खण्ड समाप्त हो जानेसे इस धार्मिक विश्वकोषकी एक कड़ी टूट गयी थी। प्रेमी पाठकोंकी माँग बराबर आ रही थी। इस संस्करणके प्रकाशन द्वारा यह बृहद् ग्रन्थ पुनः सर्वाङ्गपूर्ण हो गया है। सभी विद्वान् एकमत होकर यह स्वीकार करते हैं कि सनातनधर्मका ऐसा ग्रन्थ जिसमें धर्मका साङ्गोपाङ्ग विशद विवेचन सरल प्राञ्जल भाषामें किया गया हो, दूसरा अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक परमाराध्य भगवत्पूज्यपाद महर्षि श्री ११०८ स्वामी ज्ञानानन्द महाराजश्रीने अपने सुयोग्य शिष्य श्री १०८ स्वामी दयानन्दजी महाराजके द्वारा धर्मकल्पद्रुम नामक इस धार्मिक विश्वकोषका प्रणयन कराकर मानवजातिका जो अनन्त उपकार किया है, इसके लिये मानवजाति पूज्यपादकी सदा ऋणी रहेगी।

आज पदार्थविद्या (सायन्स) की उन्नतिसे अनेक सुखके साधन उपलब्ध हैं, घर बैठे पृथिवीके किसी भी भागसे बात कर सकते हैं एवं सुन सकते हैं, कुछ ही घन्टोंमें पृथिवीके किसी भी प्रदेशमें पहुँच सकते हैं। इतना ही नहीं अब तो चन्द्रलोकमें पहुँचनेकी भी कल्पना की जा रही है, तब भी संसारमें हाहाकार मचा है, शान्ति कहीं दिखायी नहीं देती है। विनाशकेलिये नित्य नये आविष्कार हो रहे हैं। एक ज़ाति दूसरी जातिको विनष्ट करनेकी चेष्टामें लगी है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और समस्त संसारमें भय, आतङ्क, उद्वेग, ईर्षा-द्वेषकी अग्नि धधकती दिखायी देती है। इसका एक ही कारण है कि धर्मज्ञानके अभावमें मानवजाति परम पिता परमेश्वरसे विमुख हो गयी है। प्राचीन कालमें भारतके तपोधन महर्षिगण पृथिवीकी सब अन्य जातियोंको उनकी शान्ति-सुखका पथ प्रशस्त किया करते थे, आज उन्हीं ऋषियोंकी सन्तान भारतवासी दूसरे देशोंकी नकल करनेमें ही अपना गौरव मानती है। ऐसी स्थितिमें मानवजातिका कोई पथ-प्रदर्शक नहीं रहा। आज भी पृथिवी भरमें भारत ही एकमात्र ऐसा राष्ट्र है, जो पथभ्रष्ट पृथिवीकी मानवजातिको मार्ग दिखा सकता है। इसके लिये आवश्यक है कि ऐसे अमूल्य ग्रन्थोंका अध्ययन-अध्यापन हो, जिससे देशके भावी कर्णधार छात्रोंमें ईश्वरभक्ति, आस्तिकता, त्याग, सहिष्णुता, सेवाभाव, गंभीर चिन्ता, उच्चविचार, सदाचार, संयम आदि गुणोंकी प्रारंभसे

ही प्रतिष्ठा हो। श्रीभारतधर्ममहामण्डलके शास्त्र-प्रकाशविभागद्वारा ऐसे मौलिक ग्रन्थोंका प्रणयन एवं प्रकाशन होता आता है, और अब भी हो रहा है। उससे स्वयं लाभ उठाना एवं अपने इष्ट-मित्र सहयोगियोंको लाभान्वित करना मानवमात्रका कर्तव्य है।

काशीधाम
अक्षय तृतीया
सम्वत् २०१६

देवीनारायण
(विद्यावारिधि, एडवोकेट)
जनरल सेक्रेटरी
श्रीभारतधर्ममहामण्डल

धर्म्मकल्पद्रुम ।

षष्ठ खण्डकी विषय-सूची ।

पञ्चम समुल्लास ।

ओंतत्सत् ।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुम ।

षष्ठ खण्ड ।

पञ्चम समुल्लास ।

मायातत्त्व ।

आत्मतत्त्व और जीवतत्त्व नामक अध्यायोंमें यह दिखाया जा चुका है कि मायाके वैभवसे ही ब्रह्मभाव और ईश्वरभाव इन दोनोंका पार्थक्य तथा विराड्भावकी लीलाका विस्तार अनुभवमें आता है और जीवका जीवत्व भी महामायाके कारणसे ही प्रकट है। जगज्जननी महामायाको वेदान्तशास्त्रमें माया कहते हैं। अस्तु, प्रायः तीनों मीमांसादर्शनोंने एकमत हो कर उनको माया नामसे ही अभिहित किया है। सांख्य और योगशास्त्रने उनको ही प्रकृति नामसे अभिहित किया है। अन्यान्य शास्त्रोंने उन्हींको शक्ति नामसे वर्णन किया है। किस किस दर्शनशास्त्रने महामायाके स्वरूपको किस प्रकारसे अनुभव किया है इसको वर्णन करनेसे पहले दो पौराणिक गाथाएँ नीचे दी जाती हैं। उन दोनों गाथाओंके पाठ करनेसे पुराणकी अलौकिक वर्णनशैली द्वारा महामायाका सर्वोपरि अधिदैव रहस्य तथा उनकी परा और अपरा शक्तिका लौकिकभाषा-पूर्ण वर्णन प्रकट होगा। पूज्यपाद महर्षियोंने इस अतिगहन दार्शनिक विषयको कैसी सरल रीतिसे जिज्ञासुओंके हृदयङ्गम करानेका यत्न किया है सो निम्नलिखित वर्णनोंसे प्रकट है। पहला विषय सुप्रसिद्ध देवीभागवत ग्रन्थमें ऐसा कहा गया है :—

ब्रह्मोवाच—

एकमेवाऽद्वितीयं यद्ब्रह्म वेदा वदन्ति वै ।
सा किं त्वं वाऽप्यसौ वा किं सन्देहं विनिवर्त्तय ॥
निःसंशयं न मे चेतः प्रभवत्यविशङ्कितम् ।
द्वित्वैकत्वविचारेऽस्मिन् निमग्नं क्षुल्लकं मनः ॥
स्वमुखेनाऽपि सन्देहं छेत्तुमर्हसि मामकम् ।
पुण्ययोगाच्च मे प्राप्ता संगतिस्तव पादयोः ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा कि वेद एक अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं सो वह ब्रह्म आपही हैं वा वह ब्रह्म कोई और है, इस मेरे सन्देहको निवृत्त करें। मेरा सशङ्क चित्त निस्सन्देह नहीं हो सकता है, द्वित्व और एकत्वके विचारमें मेरा क्षुद्र मन निमग्न है। अपने मुखसे मेरा यह सन्देह आप निवृत्त कर सकती हैं। मैंने पुण्योंके योगसे आपके चरणोंका सङ्ग पाया है।

पुमानसि त्वं स्त्री वाऽसि वद विस्तरतो मम ।
ज्ञात्वाऽहं परमां शक्तिं मुक्तः स्यां भवसागरात् ॥
इति पृष्टा मया देवी विनयावनतेन च ।
उवाच वचनं श्लक्ष्णमाद्या भगवती हि सा ॥

देव्युवाच—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्व्वदैव ममास्य च ।
योऽसौ साऽहमहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात् ॥

आप पुरुष हैं या स्त्री हैं यह विस्तारपूर्व्वक कहें जिसमें मैं परमा शक्तिका ज्ञान प्राप्त करके भवसागरसे मुक्त हो जाऊँ। इस प्रकार विनयपूर्व्वक नम्र होकर मैंने भगवतीसे प्रार्थना की, तब उन आद्या भगवतीने सुमधुर वाणीसे आज्ञा की। इस पुराणोक्त लौकिक भाषाके अनुसार ब्रह्मा भगवती-सम्वादका रहस्य समझनेके लिये यहाँपर इतना कह देना उचित होगा कि एक ब्रह्माण्डके समष्टि अन्तःकरणके अधिष्ठातृ-देव ब्रह्मा हैं और परम ब्रह्मकी शक्तिको शास्त्रोंमें भगवती महामाया करके वर्णन किया है। इन दोनों अधिदैव स्वरूपोंका रहस्य चित्तमें रखनेसे इस गाथाके रहस्यको समझनेमें सुगमता होगी। श्रीब्रह्माजीके

प्रश्नके उत्तरमें भगवती बोलीं, मेरा और ब्रह्मका सदा एकत्व है, कभी भी कोई भेद नहीं है, जो वे हैं वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही वे हैं; केवल बुद्धिविभ्रमसे भेद प्रतीत होता है। इन वचनोंका तात्पर्य्य यह है कि जैसे कोई वक्ता कहे कि मुझमें और मेरी वक्तृताशक्तिमें कोई भेद नहीं है क्योंकि वक्तृताशक्तिके अभावसे वह वक्ता, वक्ता-शब्दवाच्य नहीं हो सकता, वस्तुतः उस वक्तामें और उसकी वक्तृताशक्तिमें अभेद है; ठीक उसी प्रकार "अहंममेतिवत्" ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमें अभेद है। दोनों ही एक हैं, एक ही दो हैं।

आवयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः।
विमुक्तः स तु संसारात् मुच्यते नाऽत्र संशयः॥
एकमेवाऽद्वितीयं वै ब्रह्म नित्यं सनातनम्।
द्वैतभावं पुनर्याति काल उत्पित्सुसंज्ञके॥
यथा दीपस्तथोपाधेर्योगात्संजायते द्विधा।
छायेवादर्शमध्ये वा प्रतिबिम्बं तथावयोः॥

हम दोनोंका जो सूक्ष्म अन्तर जानता है वही बुद्धिमान् है और वही संसारसे मुक्त होता है यह निःसन्देह है। एक अद्वितीय नित्य और सनातन ब्रह्म ही सृष्टिकालमें द्वैतभावको प्राप्त होते हैं। जैसे दीप उपाधिके द्वारा छायाके सम्बन्धसे प्रकाश अन्धकाररूपसे दो भावमें प्रतीत होता है और जैसे काचमें प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वैसे ही हम दोनोंकी प्रतीति होती है।

भेद उत्पत्तिकाले वै सर्गार्थं प्रभवत्यज!।
दृश्यादृश्यविभेदोऽयं द्वैविध्ये सति सर्व्वथा॥
नाऽहं स्त्री न पुमाँश्चाऽहं न क्लीवं सर्गसंक्षये।
सर्गे सति विभेदः स्यात् कल्पितोऽयं धिया पुनः॥
अहं बुद्धिरहं श्रीश्च धृतिः कीर्तिः स्मृतिस्तथा।
श्रद्धा मेधा दया लज्जा क्षुधा तृष्णा तथा क्षमा॥

हे ब्रह्मा! उत्पत्तिके समयमें सृष्टिके अर्थ ही भेदप्रतीति होती है। यह दृश्य और अदृश्यका विभेद द्वैतभावमें ही सर्व्वथा होता है। तात्पर्य्य यह है कि सृष्टिदशामें ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति वैसे ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे प्रकट होते हैं जैसे कि वक्तृता देते समय वक्ता और वक्तृताशक्ति अलग अलग प्रतीत होती है और

वक्तृताके अन्तमें वक्तृताशक्ति वक्तामें लय हो जाती है। प्रलय हो जानेपर मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं पुरुष नहीं हूँ, और न क्लीव हूँ, केवल सृष्टिकालमें ही बुद्धि द्वारा कल्पित यह भेद होता है। सृष्टिदशामें मैं बुद्धि हूँ, मैं श्री हूँ, धृति, कीर्त्ति, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा तथा क्षमा मैं हूँ।

कान्तिः शान्तिः पिपासा च निद्रा तन्द्रा जराऽजरा।
विद्याऽविद्या स्पृहा वाञ्छा शक्तिश्चाऽशक्तिरेव च ॥
वसा मज्जा च त्वक् चाऽहं दृष्टिर्वागनृता ऋता।
परा मध्या च पश्यन्ती नाड्योऽहं विविधाश्च याः ॥
किं नाऽहं पश्य संसारे मद्वियुक्तं किमस्ति हि।
सर्वमेवाऽहमित्येवं निश्चयं विद्धि पद्मज ! ॥

कान्ति, शान्ति, पिपासा, निद्रा, तन्द्रा, जरा, अजरा, विद्या, अविद्या, स्पृहा, वाञ्छा, शक्ति और अशक्ति मैं ही हूँ। मैं वसा, मज्जा और त्वक् हूँ, दृष्टि, अनृता और ऋता वाक्, परा, मध्या और पश्यन्ती एवं विविध प्रकारकी नाडियां मैं ही हूँ। देखो संसारमें मैं क्या नहीं हूँ, मुझसे रहित क्या है। हे ब्रह्मा ! मैं ही सब हूँ, इस प्रकारका निश्चय जानो।

एतैर्मे निश्चितै रूपैर्विहीनं किं वदस्व मे।
तस्मादहं विधे ! चाऽस्मिन् सर्गे वै वितताऽभवम् ॥
नूनं सर्व्वेषु देवेषु नानानामधरा ह्यहम्।
भवामि शक्तिरूपेण करोमि च पराक्रमम् ॥
गौरी ब्राह्मी तथा रौद्री वाराही वैष्णवी शिवा।
वारुणी चाऽथ कौबेरी नारसिंही च वासवी ॥

मेरे इन निश्चित रूपोंसे रहित क्या है सो मुझसे कहो, हे ब्रह्मा ! इसी कारण मैं इस संसारमें व्यापक हूँ। सब देवताओंमें मैं नानारूपधरा हूँ और शक्तिरूपसे पराक्रम करती हूँ। गौरी, ब्राह्मी, रौद्री, वाराही, वैष्णवी, शिवा वारुणी कौबेरी नारसिंही और वासवी मैं ही हूँ।

उत्पन्नेषु समस्तेषु कार्य्येषु प्रविशामि तान्।
करोमि सर्व्वकार्य्याणि निमित्तं तं विधाय वै ॥

जले शीतं तथा वह्नावौष्ण्यं ज्योतिर्दिवाकरे।
निशानाथे हिमा कामं प्रभवामि यथा तथा॥
मया त्यक्तं विधे! नूने स्पन्दितुं न क्षमं भवेत्।
जीवजातं च संसारे निश्चयोऽयं ब्रुवे त्वयि॥

कार्य्योंके उत्पन्न होनेपर इन उक्त रूपोंमें प्रवेश करके उन कार्य्योंको ही निमित्त करके सब काम करती हूँ। जलमें शैत्य, अग्निमें औष्ण्य, सूर्य्यमें ज्योति और चन्द्रमामें हिमरूपा, इसी प्रकार जैसेमें तैसी मैं ही बन जाती हूँ। हे ब्रह्मा! मेरे परित्याग करनेपर संसारमें जीवमात्र चेष्टा करनेमें भी असमर्थ हो जाते हैं, यह मैं तुमको निश्चय रूपसे कहती हूँ।

अशक्तः शङ्करो हन्तुं दैत्यान् किल मयोज्झितः।
शक्तिहीनं नरं ब्रूते लोकश्चैवातिदुर्बलम्॥
रुद्रहीनं विष्णुहीनं न वदन्ति जनाः किल।
शक्तिहीनं यथा सर्वे प्रवदन्ति नराधमम्॥
पतितः स्खलितो भीतः शान्तः शत्रुवशं गतः।
अशक्तः प्रोच्यते लोके नाऽरुद्रः कोऽपि कथ्यते॥

मेरे छोड़ देनेपर शङ्कर दैत्योंको मारनेमें असमर्थ हैं, संसार शक्तिहीन मनुष्यको अतिदुर्बल कहता है। उस नराधमको मनुष्य शक्तिहीन ही कहते हैं रुद्रहीन वा विष्णुहीन नहीं कहते। पतित, फिसला हुआ, भीत, शान्त और शत्रुके वशमें गया हुआ मनुष्य संसारमें अशक्त कहा जाता है, अरुद्र नहीं कहा जाता।

तद्विद्धि कारणं शक्तिर्यथा त्वं च सिसृक्षसि।
भविता च यदा युक्तः शक्त्या कर्त्ता तदाऽखिलम्॥
यथा हरिस्तथा शम्भुस्तथेन्द्रोऽथ विभावसुः।
शशी सूर्य्यो यमस्त्वष्टा वरुणः पवनस्तथा॥
धरा स्थिरा तदा धर्तुं शक्तियुक्ता यदा भवेत्।
अन्यथा चेदशक्ता स्यात् परमाणोश्च धारणे॥

अतः शक्तिको ही कारण जानो। इसी तरह तुम सृष्टि करनेकी इच्छा करते हो तो जब तुम शक्तिसे युक्त होगे तब सब संसारकी सृष्टि कर सकोगे।

इसी तरह हरि हैं। शम्भु, इन्द्र, अग्नि चन्द्र सूर्य्य यम त्वष्टा वरुण और पवन भी वैसे ही हैं। पृथिवी तब स्थिर होकर धारण करनेमें समर्थ होती है जब वह शक्तियुक्ता होती है, अन्यथा एक परमाणुके धारण करनेमें भी अशक्ता होती है।

यथा शेषस्तथा कूर्म्मो येऽन्ये सर्वे च दिग्गजाः ।
मद्युक्ता वै समर्थाश्च स्वानि कार्य्याणि साधितुम् ॥
जलं पिवामि सकलं संहरामि विभावसुं ।
पवनं स्तम्भयाम्यद्य यदिच्छामि तथाचरम् ॥
तत्त्वानां चैव सर्वेषां कदाऽपि कमलोद्भव ! ।
असतां भावसन्देहः कर्त्तव्यो न कदाचन ॥

इसीतरह शेष, कूर्म्म और अन्य सब दिग्गज शक्तियुक्त होकर ही अपने कर्म्मोंके साधन करनेमें समर्थ होते हैं, यदि मैं वैसा करनेकी इच्छा करूँ तो आज सब जलको पीजाऊँ, अग्निका संहार करलूँ और पवनका स्तम्भन करलूँ। हे ब्रह्मा ! असत्‌रूप सब तत्त्वोंका कदापि भावरूप सन्देह नहीं करना चाहिये ।

कदाचित् प्रागभावः स्यात् प्रध्वंसाभाव एव वा ।
मृत्पिण्डेषु कपालेषु घटाभावो यथा तथा ॥
अद्याऽत्र पृथिवी नास्ति क्व गतेति विचारणे ।
सञ्जाता इति विज्ञेया अस्यास्तु परमाणवः ॥
शाश्वतं क्षणिकं शून्यं नित्याऽनित्यं सकर्तृकम् ।
अहंकाराऽग्रिमं चैव सप्तभेदैर्विवक्षितम् ॥

जैसे मृत्पिण्ड और कपालोंमें घटाभाव होता है वैसे ही तत्त्वोंका कभी प्रागभाव और कभी प्रध्वंसाभाव हुआ करता है। आज यहां पृथिवी नहीं है, पृथिवी कहां गई ऐसा विचारते ही पृथिवीके परमाणु उत्पन्न हो जाते हैं। यह जगत् शाश्वत, क्षणिक, शून्य, नित्य, अनित्य, सकर्तृक और अहंकार है आदिमें जिसके; इस प्रकारसे सात भेदोंसे वर्णन किया गया है।

गृहाणाज ! महत्तत्त्वमहङ्कारस्तदुद्भवः ।
ततः सर्व्वाणि भूतानि रचयस्व यथा पुरा ॥
व्रजन्तु स्वानि धिष्ण्यानि विरच्य निवसन्तु वः ।
स्वानि स्वानि च कार्य्याणि कुर्व्वन्तु दैवभाविताः ॥

गृहाणेमां विधे ! शक्तिं सुरूपां चारुहासिनीम् ।
महासरस्वतीं नाम्ना रजोगुणयुतां वराम् ॥

हे ब्रह्मा ! महत्तत्त्वको ग्रहण करो और उससे उत्पन्न अहङ्कारको भी ग्रहण करो तब जैसे पूर्व्व समयमें थे वैसेही सब भूतोंकी रचना करो। तुम तीनों जाओ और अपने अपने लोक बनाकर निवास करो एवं दैवके द्वारा भावित होकर अपने अपने कार्य्योंको करो। हे ब्रह्मा ! इस शक्तिको ग्रहण करो, यह सुरूपा चारुहासिनी श्रेष्ठा रजोगुणयुता सरस्वती नाम्नी है।

श्वेताम्बरधरां दिव्यां दिव्यभूषणभूषिताम् ।
वरासनसमारूढां क्रीडार्थं सहचारिणीम् ॥
एषा सहचरी नित्यं भविष्यति वराङ्गना ।
माऽवमंस्था विभूतिं मे मत्वा पूज्यतमां प्रियाम् ॥
गच्छ त्वमनया सार्द्धं सत्यलोकं बताशु वै ।
बीजाच्चतुर्विधं सर्व्वं समुत्पाद्य साम्प्रतम् ॥

यह श्वेताम्बरधरा, दिव्या, दिव्यभूषणभूषिता, श्रेष्ठा आसनपर समारूढ़ा और क्रीड़ाकेलिये सहचारिणी है। यह वराङ्गना नित्य तुम्हारी सहचरी होगी, तुम इस मेरी विभूतिको पूज्यतमा और प्रिया समझकर अवमान मत करना। तुम इसको साथ लेकर शीघ्र सत्यलोकको जाओ और बीज जो विद्यमान है उससे अब सब चतुर्विधा सृष्टि उत्पन्न करो।

लिङ्गकोशाश्च जीवैस्तैः सहिताः कर्म्मभिस्तथा ।
वर्त्तन्ते संस्थिताः काले तान्कुरु त्वं तथा पुरा ॥
कालकर्म्मस्वभावाख्यैः कारणैः सकलं जगत् ।
स्वभावस्वगुणैर्युक्तं पूर्व्ववत्सचराचरम् ॥
माननीयस्त्वया विष्णुः पूजनीयश्च सर्व्वदा ।
सत्त्वगुणप्रधानत्वादधिकः सर्व्वतः सदा ॥

जीव और कर्म्मोंके सहित लिङ्गकोष कालमें विद्यमान हैं उनको पूर्ववत् उत्पन्न करो। काल, कर्म्म और स्वभाव नामक कारणोंसे सचराचर सकल जगत्को पूर्व्ववत् स्वभाव और स्वगुणोंसे युक्त करो। सत्त्वगुणप्रधान होनेके कारण विष्णु सबसे अधिक हैं और सदा सर्व्वदा तुम्हारे द्वारा माननीय और पूजनीय हैं।

यदा यदा हि कार्य्यं वो भविष्यति दुरत्ययम् ।
करिष्यति पृथिव्यां वै अवतारं तदा हरिः ॥
तिर्य्यग्योनावथान्यत्र मानुषीं तनुमाश्रितः ।
दानवानां विनाशं वै करिष्यति जनार्दनः ॥
भवोऽयं ते सहायश्च भविष्यति महाबलः ।
समुत्पाद्य सुरान्सर्वान् विहरस्व यथासुखम् ॥

जब जब तुम्हारा दुरत्यय कार्य्य होगा तब तब विष्णु पृथिवीमें अवतार धारण करेंगे। रिय्य्ग योनि अथवा मनुष्य शरीरधारण करके विष्णु दानवोंका नाश करेंगे। ये महाबलशाली शिव भी तुम्हारे सहायक होंगे, तुम सब देवताओंको उत्पन्न करके यथेच्छ विहार करो।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या नानायज्ञैः सदक्षिणैः ।
यजिष्यन्ति विधानेन सर्व्वान्वः सुसमाहिताः ॥
मन्नामोच्चारणात्सर्व्वे मखेषु सकलेषु च ।
सदा तृप्ताश्च सन्तुष्टा भविष्यध्वं सुराः किल ॥
शिवश्च माननीयो वै सर्व्वथा यत्तमोगुणः ।
यज्ञकार्य्येषु सर्व्वेषु पूजनीयः प्रयत्नतः ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य, समाहितचित्त होकर तुम सबोंका सदक्षिण नाना यज्ञोंके द्वारा विधिपूर्व्वक यजन करेंगे। सब देवतालोग सकल यज्ञोंमें मेरे नामोच्चारणसे सदा तृप्त और सन्तुष्ट होंगे। तमोगुणाधिष्ठाता होनेसे शिव सब यज्ञ कार्य्योंमें सर्व्वथा माननीय और प्रयत्नपूर्व्वक पूजनीय हैं।

यदा पुनः सुराणां वै भयं दैत्याद्भविष्यति ।
शक्तयो मे तदोत्पन्ना हरिष्यन्ति सुनिग्रहाः ॥
वाराही वैष्णवी गौरी नारसिंही सदाशिवा ।
एताश्चाऽन्याश्च कार्य्याणि कुरु त्वं कमलोद्भव ! ॥
नवाक्षरमिमं मन्त्रं बीजध्यानयुतं सदा ।
जपन् सर्व्वाणि कार्य्याणि कुरु त्वं कमलोद्भव ! ॥

जब फिर देवताओंको दैत्योंसे भय होगा तब उस भयको सुन्दर विग्रह धारण करके उत्पन्न हुई मेरी शक्तियाँ हरण करेंगी। वाराही, वैष्णवी, गौरी, नारसिंही और सदाशिवा एवं अन्यान्य शक्तियाँ उत्पन्न होंगी, हे ब्रह्मा ! तुम अपने कार्य्यको करो। हे ब्रह्मा ! सदा बीज और ध्यानसंयुक्त इस नवाक्षर मन्त्रको जप करते हुए तुम सब कार्य्योंको करो।

मन्त्राणामुत्तमोऽयं वै त्वं जानीहि महामते ! ।
हृदये ते सदा धार्य्यः सर्व्वकामार्थसिद्धये ॥
इत्युक्त्वा मां जगन्माता हरिं प्राह शुचिस्मिता ।
विष्णो ! व्रज गृहाणेमां महालक्ष्मीं मनोहराम् ॥
सदा वक्षःस्थले स्थाने भविता नाऽत्र संशयः ।
क्रीडार्थं ते मया दत्ता शक्तिः सर्व्वार्थदा शिवा ॥

हे महामते ! इसको तुम मन्त्रोंमें उत्तम मन्त्र जानो और तुम सब काम और अर्थोंको सिद्धिकेलिये सदा हृदयमें धारण करो। ब्रह्माजी कहते हैं कि, मुझको इस प्रकार कहकर जगन्माता महामाया पवित्र और मन्द मन्द हास्य करती हुई विष्णुको आज्ञा करने लगीं, हे विष्णो ! जाओ इस मनोहरा महालक्ष्मीको ग्रहण करो। मैंने क्रीडाके लिये यह सर्व्वार्थदा मङ्गलरूपिणी शक्ति तुमको दी है, यह सदा तुम्हारे वक्षःस्थलमें रहेगी यह निःसन्देह है।

त्वयेयं नावमन्तव्या माननीया च सर्व्वदा ।
लक्ष्मीनारायणाख्योऽयं योगो वै विहितो मया ॥
जीवनार्थं कृता यज्ञा देवानां सर्व्वथा मया ।
अविरोधेन संगेन वर्तितव्यं त्रिभिः सदा ॥
त्वं च वेधाः शिवस्त्वेते देवा मद्गुणसम्भवाः ।
मान्या पूज्याश्च सर्व्वेषां भविष्यन्ति न संशयः ॥

इसका तुम अपमान मत करना, सर्वदा इसका मान करना, मैंने यह लक्ष्मीनारायण योग किया है। मैंने सर्वथा देवताओंके जीवनार्थ ही यज्ञोंकी सृष्टि की है, तुम तीनोंको सदा विरोधरहित संगसे बर्ताव करना चाहिये। तुम, ब्रह्मा, और शिव, ये तीनों मेरे गुणोंसे उत्पन्न हुए देवता हैं, अतः सबोंके माननीय और पूजनीय होंगे यह निःसंदेह है।

ये विभेदं करिष्यन्ति मानवा मूढचेतसः ।
निरयं ते गमिष्यन्ति विभेदान्नाऽत्र संशयः ॥
यः हरिः स शिवः साक्षात् यः शिवः स स्वयं हरिः ।
एतयोर्भेदमातिष्ठन् नरकाय भवेन्नरः ॥
तथैव द्रुहिणो ज्ञेयो नाऽत्र कार्य्या विचारणा ।
अपरो गुणभेदोऽस्ति शृणु विष्णो ! ब्रवीमि ते ॥

जो मूढ़चित्त पुरुष इन तीनोंमें भेद करेंगे, वे उस भेदके करनेसे नरकमें जावेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है जो हरि हैं वेही साक्षात् शिव हैं और जो शिव हैं वेही स्वयं हरि हैं। इन दोनोंमें जो भेद देखता है, वह नरकमें जाता है। इसी तरह ब्रह्माको भी जानना चाहिये, इसमें कोई विचार नहीं करना चाहिये। हे विष्णो ! और भी गुणभेद है, उसको सुनो मैं तुमको कहती हूँ।

मुख्यः सत्त्वगुणस्तेऽस्तु परमात्मविचिन्तने ।
गौणत्वेऽपि परौ ख्यातौ रजोगुणतमोगुणौ ॥
लक्ष्म्या सह विकारेषु नाना भेदेषु सर्व्वदा ।
रजोगुणयुतो भूत्वा विहरस्वानया सह ॥
वाग्बीजं कामराजं च मायाबीजं तृतीयकम् ।
मन्त्रोऽयं त्वं रमाकान्त ! मद्दत्तः परमार्थदः ॥

परमात्माके चिंतनमें तुह्मारा सत्त्वगुण मुख्य होगा और रजोगुण तथा तमोगुण गौण रहेंगे। विभिन्न प्रकारके विकारोंमें रजोगुणयुक्त होकर इस लक्ष्मीके साथ सर्व्वदा बिहार करना। वाग्बीज कामबीज और तीसरा मायाबीज, इस मेरे दिये हुए परमार्थप्रद मंत्रको हे रमाकान्त ! ग्रहण करो।

गृहीत्वा जप तं नित्यं विहरस्व यथासुखम् ।
न ते मृत्युभयं विष्णो ! न कालप्रभवं भयम् ॥
यावदेष विहारो मे भविष्यति सुनिश्चयः ।
संहरिष्याम्यहं सर्वं यदा विश्वं चराचरम् ॥
भवन्तोऽपि तदा नूनं मयि लीना भविष्यथ ।
स्मर्त्तव्योऽयं सदा मन्त्रः कामदो मोक्षदस्तथा ॥

इस मंत्रको ग्रहण करके नित्य इसका जप करो और यथेच्छ विहार करो, हे विष्णो ! जबतक मेरा यह विहार रहेगा, तुमको मृत्युका भय और कालसे उत्पन्न भय नहीं रहेगा, यह निश्चय है। जब मैं इस चराचर सब विश्वका संहार करूंगी तुम लोग भी उस समय निश्चय ही मुझमें लीन हो जाओगे। यह कामप्रद और मोक्षप्रद मंत्र सदा जपना चाहिये।

उद्गीथेन च संयुक्तः कर्त्तव्यः शुभमिच्छता ।
कारयित्वाऽथ वैकुण्ठं वस्तव्यं पुरुषोत्तम ! ॥
विहरस्व यथाकामं चिन्तयन्मां सनातनीम् ।

ब्रह्मोवाच ।

इत्युक्त्वा वासुदेवं सा त्रिगुणा प्रकृतिः परा ॥
निर्गुणा शङ्करं देवमवोचदमृतं वचः ।

देव्युवाच ।

गृहाण हर गौरीं त्वं महाकालीं मनोहराम् ॥
कैलासं कारयित्वा च विहरस्व यथासुखम् ।
मुख्यस्तमोगुणस्तेऽस्तु गौणौ सत्त्वरजोगुणौ ॥
विहारासुरनाशार्थं रजोगुणतमोगुणौ ।
तपस्तप्तुं तथा कर्त्तुं स्मरणं परमात्मनः ॥
शर्व्व ! सत्त्वगुणः शान्तो ग्रहीतव्यः सदाऽनघ ! ।
सर्व्वथा त्रिगुणा यूयं सृष्टिस्थित्यन्तकारकाः ॥

शुभेच्छु व्यक्तिको इस मन्त्रके साथ उद्गीथका संयोग करके तब इसको जपना चाहिये। हे पुरुषोत्तम ! वैकुण्ठ बनवाकर वहां तुमको रहना चाहिये और मुझ सनातनीको स्मरण करते हुए यथेच्छ विहार करना चाहिये। ब्रह्माजीने कहा कि इस प्रकार विष्णुको कहकर वह त्रिगुण और निर्गुणापरा प्रकृति महामाया अमृत समान वचन शिवदेवसे आज्ञा करने लगीं। महामायाने कहा कि हे हर! तुम इस महाकाली मनोहरा गौरीको ग्रहण करो और कैलास बनवा कर यथेच्छ विहार करो। तुम्हारा मुख्यगुण तमोगुण होगा और सत्त्व तथा रजोगुण गौण होंगे। असुरोंके नाशके अर्थ रजोगुण और तमोगुणका व्यवहार करना, परन्तु तपस्या करनेके लिये तथा परमा-

त्माका स्मरण करनेके लिये हे अनघ शम्भो ! सदा शान्त सत्त्वगुण ग्रहण करना। सृष्टिस्थिति और लय करनेवाले तुम तीनों त्रिगुणात्मक हो।

एभिर्विहीनं संसारे वस्तु नैवात्र कुत्रचित्।
वस्तुमात्रं तु यद्दृश्यं संसारे त्रिगुणं हि तत्॥
दृश्यं च निर्गुणं लोके न भूतं नो भविष्यति।
निर्गुणः परमात्माऽसौ न तु दृश्यः कदाचन॥
सगुणा निर्गुणा चाहं समये शङ्करोत्तमा।
सदाऽहं कारणं शम्भो ! नच कार्य्यं कदाचन॥

इन तीनों गुणोंसे रहित इस संसारमें कहीं भी कोई भी वस्तु नहीं है, दृश्यवस्तुमात्र इस संसारमें त्रिगुणात्मक हैं। निर्गुण दृश्यवस्तु इस संसारमें न हुई है और न होगी, परमात्मा निर्गुण हैं, परन्तु वे कदापि दृश्य नहीं हैं। हे शङ्कर ! मैं समयानुसार सगुण और श्रेष्ठ निर्गुणरूपा होती हूँ, हे शम्भो ! मैं सदा कारणरूपा हूँ, कार्य्यरूपा कदापि नहीं हूँ।

सगुणा कारणत्वाद्वै निर्गुणा पुरुषान्तिके।
महत्तत्त्वमहङ्कारो गुणाः शब्दादयस्तथा॥
कार्य्यकारणरूपेण संसरन्ते त्वहर्निशम्।
सदुद्भूतस्त्वहङ्कारस्तेनाऽहं कारणं शिवा॥
अहङ्कारश्च मे कार्य्यं त्रिगुणोऽसौ प्रतिष्ठितः
अहंकारान्महत्तत्त्वं बुद्धिः सा परिकीर्त्तिता॥

कारणरूपा होनेसे सगुणा हूँ। और परमपुरुषके निकट निर्गुणरूपा हूँ। महत्तत्त्व अहङ्कार और शब्दादि गुण कार्य्यकारणरूपसे निरन्तर विस्तारको प्राप्त होते हैं। सत्से अहङ्कार उत्पन्न हुआ है, इस कारण मैं मङ्गलरूपिणी उसका कारण हूँ। अहङ्कार मेरा कार्य्य है जो त्रिगुणात्मक है, अहङ्कारसे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ, जिसको बुद्धि कहते हैं। यहाँ अहंकारसे महत्तत्त्वकी उत्पत्तिका रहस्य यह है कि, अहङ्कार अहंतत्व नहीं है यह अहंकार वह अहङ्कार है कि जब एक अद्वितीय ब्रह्मसत्तासे सगुण द्वैतावस्था प्रकट होनेके लिये प्रकृतिपुरुषात्मक ब्रह्मानन्दप्रद अहङ्कार प्रकट हुआ।

महत्तत्त्वं हि कार्य्यं स्यादहङ्कारो हि कारणम्।
तन्मात्राणि त्वहङ्कारादुत्पद्यन्ते सदैव हि ॥
कारणं पञ्चभूतानां तानि सर्व्वसमुद्भवे।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च ॥
महाभूतानि पञ्चैव मनः षोडशमेव च।
कार्य्यं च कारणं चैव गणोऽयं षोडशात्मकः ॥

महत्तत्त्व कार्य्य है और अहङ्कार कारण है, सदाही अहङ्कारसे तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। वे तन्मात्राएँ सब जगत्की उत्पत्तिमें पञ्चभूतोंकी कारणरूप हैं। पांच कर्मेन्द्रिय पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच महाभूत और सोलहवाँ मन, यह षोडशात्मकगण (समूह) कार्य्य और कारण हैं।

परमात्मा पुमानाद्यो न कार्य्यं न च कारणम्।
एवं समुद्भवः शम्भो ! सर्वेषामादिसम्भवे ॥
संक्षेपेण मया प्रोक्तः तव तत्र समुद्भवः।
व्रजन्त्वद्य विमानेन कार्य्यार्थं मम सत्तमाः ! ॥
स्मरणाद्दर्शनं तुभ्यं दास्येऽहं विषमे स्थिते।
स्मर्त्तव्याऽहं सदा देवाः ! परमात्मा सनातनः ॥
उभयोः स्मरणादेव कार्य्यसिद्धिरसंशयम्।

आदिपुरुष परमात्मा न कार्य्य हैं और न कारण हैं। हे शंभो ! इस प्रकारसे सबका आदिसर्गमें समुद्भव होता है, वहां तुम्हारा मैंने संक्षेपसे समुद्भव कहाहै। हे सत्तमो ! मेरे कार्य्यके लिये अभी विमानमें बैठकर जाओ, मैं विषम समय उपस्थित होनेपर स्मरण करनेसे तुमको दर्शन दूँगी। हे देवताओं ! सदा मेरा स्मरण करना और सनातन परमात्माका भी स्मरण करना। दोनोंके स्मरणसे निःसन्देह कार्य्यसिद्धि होगी। ऊपर लिखित पौराणिक गाथासे महामायाका वैज्ञानिक स्वरूप बहुत कुछ प्रकट होता है। अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म जब सगुण होते हैं तब गुणमयी उनकी शक्ति जो उन्हींसे प्रकट होती हैं, उन्हींका नाम महामाया है। अव्यक्तावस्थामें ब्रह्मशक्ति ब्रह्ममें ही लीन रहती हैं और व्यक्तावस्थामें उनकी ब्रह्ममयी शक्ति उन्हींसे

प्रकट होकर उन्हींमें जगत्को सृष्टि, स्थिति और लयरूपमें दिखाती हैं। ब्रह्म अव्यक्त निष्क्रिय और गुणातीत हैं और उनकी शक्ति महामाया उन्हींमें व्यक्तभावको प्राप्त करती हैं, जगत्रूप कार्य्यको प्रकट करती हैं और त्रिगुणमयी हैं। महामायाकी त्रिगुणात्मक तीन शक्तियाँही ब्रह्मा विष्णु और महेशको तीन गुणोंके अलग अलग अधीश्वर बना देती हैं। जहाँतक दृश्य है, जहाँ तक त्रिगुणका वैभव है, जहाँ तक सृष्टि-स्थिति-लयका कार्य्य है, ये सब महामायाकृतही हैं। शास्त्रकारोंने ब्रह्मशक्ति महामायाकी चार अवस्थाएँ कही हैं, यथा-सूर्यगीतामें कहा गया है :—

तत्त्वज्ञाः पुरतो वोऽहं जगच्छ्रेयोऽभिलाषया ।
अतिगूढं रहस्यं तच्छृणुध्वं यद्ब्रवीम्यहम् ॥
वाङ्मनोऽगोचराया मे शक्तेर्भेदाः क्रमेण ह ।
चत्वार ईरिताः स्थूलसूक्ष्मकारणभेदतः ॥
चतुर्थस्तु तुरीयः स्याज्ज्ञानरूपो न संशयः ।
निश्चलो हि ममाङ्गे स सततं तिष्ठति ध्रुवम् ॥
या च कारणरूपा मे तृतीया शक्तिरस्ति सा ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां जनयित्री मता परा ॥
द्वितीयस्याश्च सूक्ष्मायाः साहाय्येन त्रयस्त्विमे ।
ब्रह्माण्डजनुराधानस्थितिनाशकरा मताः ॥
स्थूला तु दृश्यमानेऽत्र संसारेऽनन्तरूपताम् ।
कुर्व्वती चाऽपि वैचित्र्यं व्याप्नोत्यप्यखिलं जगत् ॥
इयं तु सप्तधा भिन्ना योगिभिर्दृश्यते सदा ।

हे तत्त्वज्ञानियो! आपके सामने जगत्कल्याणकी अभिलाषासे मैं अत्यन्त गूढ़ रहस्य कहता हूँ उसे सुनिये। वाणी और मनसे अगोचर जो मेरी शक्ति है, उसके भेद क्रमशः चार कहे गये हैं, यथाः—स्थूल, सूक्ष्म, कारण और चौथा तुरीय। तुरीय शक्ति ज्ञानरूपा है इसमें सन्देह नहीं। यही तुरीया शक्ति निश्चलरूपसे मेरे अङ्गमें निरन्तर रहती है। मेरी कारणरूपा तृतीया ब्रह्मा विष्णु और महेशकी जननी है! द्वितीया सूक्ष्मशक्तिकी सहायतासे ब्रह्मा, विष्णु और महेश ब्रह्माण्डका सर्जन, पालन और संहार किया करते हैं और प्रथमा

स्थूल शक्ति इस दृश्यमान संसारमें अनन्तरूप बनाया करती है एवं सम्पूर्ण जगत्‌में विचित्रताको उत्पन्न करती हुई व्यापकरूपसे स्थित रहती है। योगिगण इस शक्तिको सप्तधा विभक्त देखते हैं।

पूर्वकथित इन शास्त्रीय सिद्धान्तोंका तात्पर्य यह है कि, निर्गुण ब्रह्ममें स्वरूपज्ञानरूपा सच्चिदानन्दमयभावप्रकाशिनी जो अद्वैतशक्ति सदा बनी रहती है, वही तुरीया शक्ति है। व्यक्तदशामें जो द्वैतभावको उत्पन्न करती है और ब्रह्मानन्दकी अभिव्यक्तिके अर्थ जो सगुण जगत्‌की कारण बनती है, वही ब्रह्मा-विष्णु, महेशकी जननी कारणशक्ति है। इन्हीं कारणशक्तिरूपिणी महामायाका स्थान मणिद्वीपमें कल्पना करके सुप्रसिद्ध देवीभागवत ग्रन्थने जो अपूर्व्व वर्णन किया है सो ऊपर प्रकाशित ही हो चुका है। महामायाका सूक्ष्म रूप त्रिगुणविलासका कारण है। वेही तीन शक्तियां महामायाने ब्रह्मा विष्णु और महेशको दी हैं, जिनका वर्णनभी ऊपरकी गाथामें आचुका है। सूक्ष्मशक्तिके येही तीन रूप अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें अलग अलग रूप धारण करते हुए उक्त अलग अलग ब्रह्माण्डों तथा उक्त ब्रह्माण्डोंके अलग अलग जीव-पिण्डोंमें यथाक्रम सृष्टि, स्थिति और लयका कार्य्य सुसम्पन्न किया करते हैं। यही महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली कहाती हैं। महामायाकी स्थूलशक्ति स्थूलजगत्‌में सात भेदोंमें विभक्त है, ऐसा पूज्यपाद महर्षियोंका मत है। शक्तिका त्रिभावभेद सूक्ष्मशक्तिमें है और शक्तिका सप्तधा भेद स्थूलशक्तिमें विद्यमान है। महामायाके सूक्ष्म त्रिगुणात्मक विभाग किस प्रकार सृष्टिमें सर्वव्यापक हैं, सो त्रिगुण-तत्त्व नामक अध्यायमें दिखाया जायगा। महामायाके राज्यके सप्त विभाग कैसे अतीन्द्रिय-ज्ञानमय राज्यतक विस्तृत हैं, सो दर्शनशास्त्र, ज्ञानयज्ञ और राजयोगआदि अध्यायोंमें दिखाया गया है। स्थूलप्रकृतिके ये सप्तविभाग सृष्टिके सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म और स्थूलसे अतिस्थूल अङ्गोंमें विद्यमान हैं। इस संसारमें वैद्युतिक शक्ति (electric power) आदि जो शक्तियां प्रकट हैं, वे इन्हीं सप्त अङ्गोंके अन्तर्गत हैं। ऐसी ही अनेक शक्तियां जो अब मनुष्यके सन्मुख अपरिज्ञात हैं सो भविष्यमें प्रकट हो सकती हैं। महामायाकी तुरीयशक्ति वाक्, मन और बुद्धिसे अगोचर है और वह तत्त्वातीत परमतत्त्वरूपी स्वरूपमें ही विलास करती है। महामायाकी कारण शक्ति वाक्, मन और बुद्धिसे अगोचर होनेपर भी तत्त्वज्ञानद्वारा अनुमेय है। ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी जननी होनेके कारण

केवल इन्हीं तीनों आदिदेवोंके साथ उनका कभी कभी साक्षात्कार हो सकता है, जैसाकि ऊपर लिखित पौराणिक गाथासे प्रकट है। महामायाकी सूक्ष्मशक्ति स्थूल प्रपञ्चमय जगत्में बुद्धिगम्य होकर कार्य्यब्रह्मके सब कार्य्योंको किया करती है और महामायाकी स्थूलशक्ति जगत्के भीतर और बाहर परिव्याप्त है। जिस प्रकार शरीरके नख और रोमआदि शरीरमें रहकरभी शरीरसे अलग किये जा सकते हैं, उसीप्रकार महामायाकी स्थूलशक्ति जगत्से मिलकर तथा जगत्में अलगरूप दिखाकर कार्य्य करती हुई प्रतीत होती है। कुछ भी हो, ये चारों महामायाके ही रूपान्तर हैं।

एक ही ब्रह्मशक्ति पुनः द्विधारूपको धारण करती है उसका अपूर्व वर्णन सप्तशतीगीतामें इस प्रकारसे कहा गया है, किः—

एवं स्तवादियुक्तानां देवानां तत्र पार्व्वती ।
स्नातुमभ्याययौ तोये जाह्नव्या नृपनन्दन ! ॥
साऽब्रवीत्तान्सुरान्सुभ्रू भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का ।
शरीरकोशतश्चाऽस्याः समुद्भूताऽब्रवीच्छिवा ॥
स्तोत्रं ममैतत् क्रियते शुम्भदैत्यनिराकृतैः ।
देवैः समेतैः समरे निशुम्भेन पराजितैः ॥
शरीरकोशाद्यत्तस्याः पार्व्वत्या निःसृताऽम्बिका ।
कौशिकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते ॥
तस्यां विनिर्गतायान्तु कृष्णाऽभूत्साऽपि पार्व्वती ।
कालिकेति समाख्याता हिमाचलकृताश्रया ॥

सप्तशतीगीतामें वर्णन है कि, जब देवतागण असुरोंसे भयभीत होकर दैवराज्यकी पुनः प्रतिष्ठा तथा असुरोंका बलनाश करानेके अर्थ भगवतीके निकट उपस्थित हुए और स्तुति की, तो उनके स्तोत्रादिमें निरत रहनेके समय हे राजा सुरथ ! भगवती पार्वती श्रीगंगाजीके जलमें स्नान करनेको आईं, उन सुभ्रू भगवतीने देवताओंसे कहा कि, तुम किसकी स्तुति करते हो। इतना कहते ही उन्हीं भगवतीके शरीर-कोशसे एक अन्य मङ्गलमयी भगवती उत्पन्न हुईं और वे बोलीं, शुम्भ दैत्यसे निराकृत और संग्राममें निशुम्भ दैत्यसे पराजित समस्त देवगण यह मेरा ही स्तोत्र पाठ कर रहे हैं। उन पार्वती भगवतीके

शरीरकोशसे अम्बिका निकली हैं, इसी कारण सब संसारमें उनको कौशिकी कहते हैं। उन अम्बिका भगवतीके निकलनेपर वे पार्वती भगवती कृष्णा हो गई और उनका कालिका नाम प्रसिद्ध हुआ एवं हिमालयमें विराजमान हुई। महामायाके द्विधाभावापन्न होनेका यह लौकिकभाषामय वर्णन है। इन्हीं दोनों भेदोंका समाधिभाषामय वर्णन श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार है:—

भूमिरापो नलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां।
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्य्यते जगत्॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस प्रकारसे मेरी आठ प्रकारकी प्रकृति अपरा नाम्नी है। हे अर्जुन! इस अपरा प्रकृतिसे पृथक् मेरी जीवभूता पराप्रकृति है, जिसने इस जगत्को धारण कर रखा है। सगुण ब्रह्मकी त्रिगुणमयी प्रकृति गुणवैषम्यको प्राप्त होनेके अनन्तर इन्हीं ऊपर कथित दो भावोंमें परिणत होती है। एक चेतनमयी जीवभूता बनकर कर्म्मप्रवाह उत्पन्न करती है, पाप-पुण्य सर्जन करती है, सुख-दुःख स्वर्ग-नरकआदि भोग प्रकट करती है, अनादि-अनन्त जीव-प्रवाहका स्रोत बहाती रहती है, यही परा प्रकृति है और दूसरी अपरा प्रकृति चतुर्विंशति तत्त्वमयी जैसा कि सांख्यशास्त्र मानता है, पञ्चकोशमयी जैसा कि वेदान्तशास्त्र मानता है अथवा अष्टभेदमयी जिस प्रकार कि गीताशास्त्र मानता है, जड़राज्य प्रकट करती है। सप्तशती गीताकी वर्णन की हुई पूर्व्वकथित गाथामें महामायाकी व्यक्तावस्थासम्बन्धीय इन्हीं दोनों प्रकृतिका वर्णन किया गया है, क्योंकि मनुष्य, देवता आदि सब प्रकारकी जीवभूता सृष्टिकी एकमात्र भरण-कर्त्री प्रतिपालिनी अन्तर्यामिनी और ईश्वरी महामाया ही हैं और जीवभूता सृष्टिसे ऊपर कथित इन दोनों भावोंका ही साक्षात् सम्बन्ध है। जीवजगत्में शक्तिका कारणस्थल तो पराप्रकृति है और कार्य्यस्थल अपराप्रकृति है। इसी कारण पूर्व्वकथित गाथामें देवताओंकेद्वारा पार्वतीदेवीकी स्तुति किये जानेपर इन्हींके शरीरकोशसे कौशिकी देवीका आविर्भाव हुआ था। पार्व्वतीदेवीके स्थूलकोशसे उत्पन्न होनेके कारण वे कौशिकी कहाईं। परा और अपरा प्रकृतिका सम्बन्ध भी ऐसा ही है। तदनन्तर कौशिकी देवीने आविर्भाव होते

ही पार्वती देवीसे कहा कि, ये देवतागण मेरी स्तुति कर रहे हैं। वस्तुतः शक्तिका आधार तो अपरा प्रकृति ही है। विना शक्तिके स्थूलविकाशके असुरोंका पराजय भी असम्भव है। इसकारण कौशिकी देवीका गौरीदेवीसे ऐसा कहना स्वतः सिद्ध है। इस विज्ञानसे पूर्व्वकथित गाथाका वैज्ञानिक रहस्य स्पष्ट हो गया। अब यदि यह शङ्का हो कि, पार्वती देवीके कोशसे कौशिकी देवीका प्राकट्य होते ही पार्व्वती देवीका रंग कृष्ण क्यों होगया और काली क्यों कहाई। इस वैज्ञानिक शङ्काका समाधान यह है कि, जीवप्रवाह प्रवाहरूपसे अनादि अनन्त है। जीवभूता पराप्रकृति महामाया ही उसका कारण है। इस वैज्ञानिक तत्त्वका विस्तारित वर्णन ज़ीवतत्त्व नामक अध्यायमें हो चुका है। मनुष्यकी अचिन्तनीय जीवप्रवाह-उत्पन्नकारिणी और चिज्जडग्रन्थिरूपसे जीवत्वविधायिनी पराप्रकृतिसे जब स्थूल प्रपञ्चात्मक सृष्टि-स्थिति-लय-विधायिनी अपरा प्रकृतिका आविर्भाव होता है तो पुनः स्थूलप्रपंचके साथ परा प्रकृतिका वैसा सम्वन्ध नहीं रहता जैसा कि चिज्जडग्रन्थिके उदय होते समय स्वभावसिद्धरूपसे रहता है। पञ्चकोशमय चतुर्विंशति तत्त्वमय अथवा भगवद्गीताकथित अष्टतत्त्वमय स्थूलप्रपञ्च प्रकट होते ही पराप्रकृति महाकाली-रूपसे जीवसृष्टिके लयस्थान और सब स्थूल प्रपञ्चकीसा क्षीस्वरूप बन जाती हैं। वे ही तब महाकाली या महाकाल कहलाती हैं। पार्व्वती देवीके कोशसे कौशिकी देवीके प्रकट होते ही उनका रंग कृष्ण होने और उनका नाम कालिका होनेका यही वैज्ञानिक समाधान है। अपरा प्रकृति ही अपने शरीरमें इस विराट् प्रपञ्चको धारण करती हैं और परा प्रकृति अपने स्वभावसे चिज्जड-ग्रन्थि उत्पन्न करके जीव-सृष्टि प्रकट कर देती हैं और साक्षी रहती हैं, क्योंकि 'यथापूर्व्वमकल्पयत्' रूपिणी सृष्टि बार बार हुआ करती है। अनन्त कोटिब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, स्थित रहते हैं और समयपर महाकालीके मुखमें लयको प्राप्त होते हैं। इसी कारण शास्त्रोंमें महाकालको अनादि और अनन्त कहा है।

महाकालकी शक्ति महाकाली जब इस स्थूल प्रपञ्चको अन्तमें ग्रास कर लेती हैं, तो स्थूल प्रपञ्चका प्रलयस्थान वे ही हैं। महाकालीके सन्मुख यह स्थूल प्रपञ्च उत्पन्न होता है, उन्हींमें स्थित रहता है और अन्तमें उन्हींमें लयको प्राप्त होता है। भेद इतना ही है कि, महाकाल निर्विकार हैं और साक्षीरूप हैं और उनकी शक्ति महाकाली स्थूलप्रपञ्चके साथ नृत्य करनेवाली हैं। देवता और देवीका किस प्रकार सम्वन्ध है, सो ऋषि, देवता और पितृतत्त्व नामक

अध्यायमें दिखाया गया है। अस्तु सब रंग और सब छाया जिस रंगमें लयको प्राप्त होते हैं वही कृष्ण रंग है। सप्त वर्ण सप्तछाया ये सब ही कृष्णवर्णमें लय हो जाते हैं, इसी कारण कृष्णवर्ण सृष्टिका प्रलयस्थान है। इसी कारण महाकालीका रंग कृष्ण है। यही करालवदनी कालीके सर्व्वान्तक गुणका वर्णरहस्य है।

विद्याकी सहायतासे जीव मुक्त होता है। विद्यारूपिणी महामाया ही अविद्यासे उत्पन्न जीव-आवरणकारी कोषोंका प्रलय करके तत्त्वज्ञान-प्राप्त जीव-गणको मुक्ति प्रदान किया करती हैं। अविद्या जीवके बन्धनका कारण है और विद्या जीवकी मुक्तिका कारण है। ज्ञानजननी विद्या और अज्ञानजननी अविद्या है। जिस प्रकार जगज्ज्योतिका प्रकाश जगत्को प्रकाशित करता है और उस प्रकाशका अभाव ही अन्धकार कहलाता है, उसी प्रकार ब्रह्मप्रकृति महामायाके अवस्थाभेदसे ही विद्या और अविद्याभाव समझने योग्य हैं।

ब्रह्मशक्ति महामाया जब अपनी दृष्टि अपने पतिकी ओर रखती हैं तभी वे विद्या कहाती हैं परन्तु जब वे बहिर्मुखीन हो अपने पुरुषसे अपनी दृष्टिको हटाकर अपनी दृष्टिकी विपरीत गति कर डालती हैं और बहिर्मुखिनी हो परिणामिनी होती हैं, स्वपतिविमुख उसी दशाका नाम अविद्या है। जबतक वे समझती रहती हैं कि, परमात्मा परमपुरुषने मेरे पतिके अर्थ ही परमानन्द-विलासरूप इस सृष्टिलीलाको उत्पन्न किया है, तबतक वे विद्या नामके योग्य हैं, और जब वे स्वअहंकारको धारण करके प्रत्येक जीव-पिण्डमें अलग अलग विभक्त हो जाती हैं और पतिलक्ष्यको छोड़ देती हैं, तब वे अविद्या कहाती हैं। ब्रह्मशक्ति महा-माया जबतक सगुणब्रह्म ईश्वरके सम्पूर्ण अधीन रहकर उनकी सेवामें नियुक्ता रहती हैं, तबतक वे ही विद्या हैं और जब जगत्प्रसविनी वह महाशक्ति प्रत्येक जीवको अपने अधीन करके स्वाधीना और स्वेच्छाचारिणी बन जाती हैं, तब वही जीवसम्मोहनकारिणी अविद्या कहाती हैं। ईश्वरका ईश्वरत्व-विधान करनेवाली प्रकृति विद्या हैं और जीवकी जीवत्वविधायिनी अविद्या हैं। वास्तवमें उपासनामीमांसाके अनुसार परब्रह्म और परमेश्वर अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म और सगुणब्रह्म इन दोनोंमें भेद-कल्पना केवल महामायाकी महिमा बढ़ानेके लिये ही है। जैसा कि दर्शन शास्त्रोंमें कहा गया है :—

ब्रह्मेशयोरैक्यं पार्थक्यन्तु प्रकृतिवैभवात्।

ब्रह्म एक और ईश्वर ही है केवल प्रकृतिके वैभवके कारण पार्थक्य हुआ

करता है। ब्रह्म और ईश्वर अभिन्न हैं, जो कुछ पार्थक्यप्रतीति होती है, वह मायाके सम्बन्धके कारण ही होती है। वेदान्तादि शास्त्रोंमें अपनी ज्ञानभूमिके पुष्टिसाधनके अर्थं ईश्वरको सोपाधिक कहकर ब्रह्मपदसे नीचेकी स्थिति प्रदान की गई है। इस विषयकी उक्ति शास्त्रोंमें निम्नलिखित प्रकारसे पाई जाती है :—यथा, पञ्चदशीमें—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥
सत्त्वशुद्धिविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्व्वज्ञ ईश्वरः ॥
मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ।
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः ॥
उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्य्यस्य विचारणात् ।
असङ्गं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते इत्यसङ्गत्वनिर्णयः ॥
मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥
आनन्दमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत् सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥

चिदानन्दमय ब्रह्मके प्रतिबिम्बसे युक्ता तमोरजःसत्त्वमयी प्रकृति दो प्रकारकी होती है। वह शुद्धसत्त्वगुण और मलिन सत्त्वगुण भेदसे माया और अविद्या कहाती हैं। मायाप्रतिबिम्बित चेतन मायाको अपने अधीन करके सर्व्वज्ञ ईश्वर होते हैं। जैसे मेघाकाश और महाकाशकी विवेचना क्षुद्र लोग नहीं कर सकते, इसी प्रकार ब्रह्म और ईश्वरका ऐक्य दूरदर्शी लोग उपक्रम-आदि लिङ्गोंसे तात्पर्य्य-विचारपूर्व्वक देखा करते हैं। ब्रह्म असङ्ग हैं और मायावी महेश्वर सर्जनादिकार्य्य करते हैं। सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त इस प्रकारसे उपक्रम करके उपसंहार किया गया है। जहाँ वाणीकी

गति नहीं है यह असङ्गत्वका निर्णय है और दूसरे मायी प्रभु मायासे निरूद्ध होकर विश्वका सर्जन करते हैं, यह अन्य श्रुति कहती है। अतः ईश्वरका सर्जन कार्य्य है। इन आनन्दमय ईश्वरने बहु होनेकी इच्छा की, जिससे सुषुप्तिमें स्वप्नकी तरह हिरण्यगर्भरूप उत्पन्न हुआ।

इस प्रकारसे अनेक प्रमाण वेदान्तशास्त्रमें पाये जाते हैं। सांख्यदर्शनमें जो अपनी ज्ञानभूमिके अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमानका लक्षण निर्णीत हुआ है, उस लौकिकप्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है, इसीसे "ईश्वरकी अलौकिक प्रत्यक्षसे सिद्धि होनेपरभी अपनी भूमिमें उसकी सिद्धि नहीं होती है "यह विज्ञान सांख्यदर्शनके अन्तर्गत "ईश्वरासिद्धेः" इस सूत्रकेद्वारा प्रतिपादित होकर अपनी भूमिमें ईश्वरकी असिद्धि प्रकल्पित हुई है; परन्तु दैवीमीमांसादर्शनमें "ब्रह्म और ईश्वरकी एकता सिद्ध होकर केवल प्रकृति-सम्बन्धही भेद-भ्रान्तिका हेतुभूत है" इस प्रकार प्रमाणित हुआ है। सत्यप्रदर्शिनी श्रुतिने इन दोनों भावोंको एकाधारमें वर्णन करनेके अर्थ सच्चिदानन्द-सत्ताके साथ अनन्त महासमुद्रकी तुलना की है। वायुके संयोगसे समुद्रके उपरिभागमें उत्ताल तरङ्गमालाका लीला विस्तार होनेपर भी तलदेशमें प्रशांत जलराशि विद्यमान रहती है। श्रुतिने तलदेशके प्रशान्त जलके साथ ब्रह्मकी एवं उपरिभागके तरङ्गायित जलके साथ ईश्वरकी तुलना की है। जलके विचारसे अधोभागका जल और ऊर्ध्वभागका जल अभिन्न है उसी प्रकार ब्रह्म और ईश्वर अभिन्न हैं। भिन्नता केवल वायुसंयोगसे तरङ्गोंकी भिन्नताके सदृश मायाके संयोगसे सृष्टिवैभवविलासके द्वारा होती है। ब्रह्मभावके साथ मायाका सम्बन्ध नहीं रहनेसे वे सृष्टिसे अतीत हैं, किन्तु ईश्वरभावके साथ मायाका सम्बन्ध होनेसे इस भावमें सिसृक्षा और सृष्टिविलास हुआ करता है। श्रुतिने इन दोनों भावोंको और भी कुछ स्पष्ट दिखानेके अर्थ कहा है किः—

सोऽयमात्मा चतुष्पात् पादोऽस्य सर्व्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।

आत्मा चतुष्पाद हैं, उनके एक पादमें सर्व्वभूतमय विराट्सृष्टि विकसित है, परन्तु अन्य तीनपाद अमृत हैं अर्थात् सृष्टिसे अतीत हैं।

श्रीभगवान्ने गीतामेंभी इसी भावको प्रतिध्वनिरूपसे कहा है किः—

विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

मैं अपने एक अंशसे समस्त विश्वमें व्याप्त होकर स्थित हूँ।

यह एक अंश ईश्वर हैं और अन्य तीन अंश ब्रह्म हैं। ब्रह्मभावके साथ सृष्टिका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसीकारण ब्रह्मभाव-प्रतिपादक मन्त्र क्लीबलिङ्ग हैं एवं ईश्वरभावके साथ मायाका सम्बन्ध है, इसी कारण इस भावकी प्रतिपादक श्रुतियां प्रायः ही पुल्लिङ्ग होती हैं। ईशोपनिषद्में कहा है कि:—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

ब्रह्म शुक्र एवं अकाय अर्थात् सूक्ष्म-शरीर-रहित है, ब्रह्म अव्रण एवं अस्नायु अर्थात् स्थूल-शरीररहित हैं और ब्रह्म शुद्ध एवं अपापविद्ध अर्थात् कारणशरीर-रहित हैं। इस प्रकार समष्टिभावसे प्रकृतिके तीनों शरीरोंके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध न रहनेसे माया-सम्बन्ध-शून्य ब्रह्मभावके प्रतिपादक शुक्र अकाय अव्रण अस्नाविर शुद्ध अपापविद्ध आदि सब विशेषण ही क्लीवलिंग कहे गये हैं। दूसरी ओर इसी मन्त्रकी तृतीय पंक्तिमें कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी, मनीषी, स्वयम्भू आदि विशेषणोंके ईश्वरभावद्योतक होनेसे इनको पुल्लिङ्ग कहा गया है।

इस प्रकार एक ही मन्त्रमें इस श्रुतिने दोनों भावोंका चित्र अच्छा दिखाया है। भावद्वय तात्त्विक रीतिसे एक होनेपरभी प्रकृतिवैभवके सम्बन्धसे वा उस सम्बन्धके अभाव होनेसे द्विधा प्रतीत होते हैं। इसी कारण स्मृतिकारने लिखा है कि :—

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित् सर्व्ववस्तुनियामिका ।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥

समस्त वस्तुओंकी नियमनकारिणी जो ईश्वरीयशक्ति है उसके संयोगसे ब्रह्म ही ईश्वरताको प्राप्त होते हैं। ब्रह्मभावके पृथक् दर्शनके विषयमें श्रुतिने कहा है कि

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ।

यत्तदद्दश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुःश्रोत्रं
तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्व्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

वहां चक्षु नहीं पहुँच सकता, न वाणी पहुँचती है और न मन पहुँचता है। जिनकी ओरसे उनको प्राप्त न होकर मनसहित वाणी वापस लौट आती है, उन आनन्दस्वरूप ब्रह्मका ज्ञान होजानेसे साधक कभी भयभीत नहीं होता है अर्थात् निर्भय हो जाता है। वे जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अचक्षु अश्रोत्र, अपाणि, अपाद, नित्य, विभु, सर्व्वव्यापक, सुसूक्ष्म, अव्यय और भूतयोनि ब्रह्म हैं, उनके दर्शन धीर साधकगण किया करते हैं।

प्रकृतिसे सर्व्वथा अतीत अवाङ्मनसगोचर परब्रह्मके वास्तविक तत्त्वके विषयमें श्रुतिने और भी कहा है कि:—

नाऽन्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं
न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाऽप्रज्ञं
अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षण-
मचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं
चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

ब्रह्म अन्तःप्रज्ञ नहीं हैं, बहिःप्रज्ञ नहीं हैं, उभयतःप्रज्ञ नहीं हैं, ब्रह्म प्रज्ञानघन प्रज्ञ वा अप्रज्ञ नहीं हैं। ब्रह्म अदृश्य, अव्यवहार्य्य अर्थात् व्यवहारसे अतीत, अग्राह्य, अलक्षण और अचिन्त्य अर्थात् गुणसे लक्षणसे और चिन्तासे अतीत, अव्यपदेश्य अर्थात् निर्देशातीत, एकात्म्यप्रत्ययसार अर्थात् आत्म-प्रत्ययमात्रसिद्ध, प्रपञ्चोपशम अर्थात् प्रपञ्चातीत, शान्त, शिव, अद्वैत एवं चतुर्थ अर्थात् तुरीयपदवाच्य हैं।

ब्रह्मके इस भावके साथ ही निर्मल आकाशकी तुलना की गई है। श्रुतिमें लिखा है कि:—

आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः अविनाशी आत्मा।
आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः स वा एष अज आत्मा ॥

ब्रह्म आकाशके समान सर्वव्यापी नित्य और अविनाशी हैं। ईश्वरभावके वर्णनके समय श्रुतिने मायाका सम्बन्ध दिखाया है यथाः—

मायान्तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्याऽवयवभूतैश्च व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

प्रकृति माया है एवं ईश्वर मायी हैं। चराचर जगत् उनके ही अवयव-रूपसे व्याप्त है।

ऐत्तरेय श्रुतिमें कहा है किः—

स ईक्षते नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति ।
सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ।
स ईक्षते मे नु लोकाश्च लोकपालाश्च मेभ्यः सृजा इति ॥

सृष्टिके प्रथम वे (ईश्वर) प्रकृतिके ऊपर दृष्टिपात करते हैं, उनके ईक्षणसे ही प्रकृतिमाता शक्तिमती होकर चराचर विश्वकी सृष्टि करती रहती हैं।

मुण्डकादि उपनिषदोंमें कहा है किः—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि
जीवन्ति यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।

उनसे ही सकल भूतोंकी उत्पत्ति होती है, उनकी सत्ताके प्रभावसे ही सकल भूतोंकी स्थिति होती है एवं उनमें ही सकलभूतोंका विलय हुआ करता है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति सर्वं न हि तस्य वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥

उनके हाथ नहीं हैं, तथापि वे ग्रहण करते हैं, उनके चरण नहीं हैं तथापि गमन कर सकते हैं, उनके चक्षु नहीं हैं, तथापि दर्शन कर सकते हैं, उनके कर्ण नहीं हैं, तथापि श्रवण कर सकते हैं, वे सर्वज्ञ हैं परन्तु उनका ज्ञाता कोई नहीं है, वे महान् हैं एवं परम पुरुष हैं।

ब्रह्मका यह ईश्वरभाव माया-संयुक्त होनेपरभी मायाके अधीन नहीं है। स्मृतिकारोंने परब्रह्मको परमात्माके आध्यात्यभावरूपसे वर्णन करके कहा है किः—

यत्तद्ब्रह्म मनोवाचामगोचरमितीरितम्।
तत्सर्व्वकारणं विद्धि सर्व्वाध्यात्मिकमित्यपि ॥
अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे संप्रवर्त्तते ॥

परब्रह्म मन और वाणीसे अगोचर, सर्व्वकारण, सबके अध्यात्म, अनादि अनन्त, अज, दिव्य, अजर, ध्रुव, अव्यय, अप्रतर्क्य एवं अविज्ञेय हैं।

स्वेच्छामायाख्यया यत्तज्जगज्जन्मादिकारणम्।
ईश्वराख्यं तु तत्तत्त्वमधिदैवमिति स्मृतम् ॥
सर्व्वज्ञः सद्गुरुर्नित्यो ह्यन्तर्यामी कृपानिधिः।
सर्व्वसद्गुणसारात्मा दोषशून्यः परः पुमान् ॥

उनके जिस भावमें उनकी इच्छारूपिणी महामाया संयुक्ता होकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूप विराट्का आविर्भाव करती हैं, उसी अधिदैवभावका नाम ईश्वर है। वे सर्व्वज्ञ, सद्गुरु, नित्य, अन्तर्यामी, करुणासिन्धु, अनन्त सद्गुणाधार, दोषशून्य एवं परमपुरुष हैं।

इसप्रकार मध्यमीमांसादर्शनमें ब्रह्मभाव और ईश्वरभावकी एकता दिखाते हुए मायाविलासविभेदके अनुसार उक्त भावोंका पार्थक्य निर्दिष्ट हुआ है। सुतरां मीमांसाशास्त्रके इस विज्ञानके अनुसार यह सिद्ध हुआ कि, ब्रह्मपद और ईश्वरपद इन दोनोंमें भेद कुछभी नहीं है, केवल महामायाके वैभवके कारण ही भेदकी प्रतीति होती है।

ब्रह्मशक्ति महामाया अपने प्रभावसे ही विद्यारूप धारण करती हुई मन, वाक् और बुद्धिसे अगोचर तत्त्वातीत परमपदरूपी सच्चिदानन्दमय स्वरूपको तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्तके सन्मुख प्रकट कर देती हैं। वे ही महामाया अपने स्वभावसे त्रिगुणात्मक जगत्को प्रसव करती हैं, स्थित रखती हैं और पुनः अपने अङ्गमें लय कर देती हैं। यही ब्रह्मप्रकृति महामायाका स्वस्वभाव है। ब्रह्म-शक्ति महामाया ही अपने आनन्दविलासका त्याग करके स्वतन्त्र स्वतन्त्र ब्रह्माण्ड और स्वतन्त्र स्वतन्त्र पिण्ड प्रसव करती हैं, यही अनादिसिद्ध कर्म्मो-त्पत्तिका रहस्य है। महामायाका स्थूल प्रपञ्चमय जड़रूप परिणामशील है; परन्तु उनका जो आदि स्वरूप है वह निर्विकार है जिसकी पहले तुरीया शक्ति-

रूपसे वर्णन किया गया है। यह पहले ही कह चुके हैं कि, महामायाके प्रभावसे ही एक अद्वितीय ब्रह्म ही अधिदैवरूपी सगुण ईश्वररूपमें प्रतीयमान होते हैं और घटाकाशरूपसे प्रत्येक पिण्डमें जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र चेतनसत्ताकी प्रतीति है, वह भी महामायाके वैभवसे ही है। इसी कारण श्रीगीतोपनिषद्में कहा गया है किः—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवाऽत्र देहे देहभृताम्वर!॥

अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं कि, हे अर्जुन! परमब्रह्म अक्षर हैं, स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है, जीवभावकी उत्पत्ति करनेवाला जो त्याग है, वही कर्म्म कहाता है, जड़प्रकृति अधिभूत है, ईश्वर अधिदेव हैं और प्रत्येक देहमें कूटस्थरूपसे मैं ही स्थित हूँ।

इस भगवद्वचनका तात्पर्य यह है कि जो निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाले और अद्वितीय परमात्मा हैं; एवं जिनके अङ्गमें पहुँचते ही महामाया उनमें मिलजाती है, वेही महामायाको तुरीय-अवस्थामें धारण करनेवाले अक्षर कहलाते हैं। यही अक्षरपद निर्गुण परब्रह्मपद है। इसी पदमें अद्वैतावस्थारूपसे महामाया अपने तुरीयरूपमें नित्य विराजमान रहती हैं। सत्रूपी महामाया जब चिद्विलाससे ब्रह्मानन्द उत्पन्न करनेके अर्थ अपने पतिरूप ब्रह्मभावमें द्वैतभावको धारण करती हुई व्यक्तावस्थाको प्राप्त होती है, महामायाकी उस व्यक्तावस्थाका जो त्रिगुणात्मक स्वभाव है, वही अध्यात्म कहाता है; अर्थात् अग्निका स्वभाव जिसप्रकार उष्णत्व है, उसी प्रकार व्यक्तावस्थाप्राप्त प्रकृतिका स्वभाव सत्त्व, रज और तमोमय है। प्रकृतिमें जो सत्त्व, रज, तमका विकाश होता है, वह किसी कारणसे नहीं होता, वह उसका स्वभाव ही है। उपासना-मीमांसाशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि, ब्रह्मानन्दकी अभिव्यक्तिके लिये ही ब्रह्मके सत् और चित्भावके अवलम्बनसे प्रकृतिपुरुषात्मक सगुण ब्रह्मका आविर्भाव होता है। ब्रह्मशक्ति महामाया जबतक अपने पतिके सम्पूर्ण अधीन होकर उनके सन्मुखीन रहती हैं, वह महामायाकी विद्यादशा ही चिद्विलासमय ब्रह्मानन्दके प्रकट करनेका कारण है। महामाया जब

भूतोंकी उत्पत्तिकेलिये अपनी इस परमानन्द-दशाका त्याग करती हैं, तभी कर्म्मकी उत्पत्ति होती है । पति-अनुगामिनी सती जबतक पतिसे सङ्गता होकर गर्भधारण नहीं करती, तबतक वह सती स्वयं भी पतिसंगरूपी विषयसुखको अनुभव कर सकती है और अपने पतिको भी शृङ्गारका आनन्द प्रदान कर सकती है; परन्तु वह ललना गर्भधारण करते ही अपने सब सुख, अपने सब आनन्द और अपने पतिसेवा-परायणतारूप कर्त्तव्यसे च्युत हो जाती है। सुतरां इस दृष्टिसे स्त्रीका गर्भधारण करना पक्षान्तरसे उसका विषयसुख-त्याग करना हुआ, ऐसा समझना उचित है। इसी उदाहरणके अनुसार ब्रह्मशक्ति मूलप्रकृति महामायाका जो भूतोंकी उत्पत्ति करनेवाला और विद्याभावमें स्वभावसिद्ध ब्रह्मानन्दके अनुभवका जो त्याग है उसीको कर्म्म कहते हैं। भूतोंकी उत्पत्तिके साथ-ही-साथ कर्म्मकी उत्पत्ति होती है। जीव और कर्म ये सहजात हैं। अस्तु, इस प्रकारसे कर्म्मकी उत्पत्ति महामाया ही करती हैं। कर्म्मोंके अनुसार परिणामी स्थूलप्रपञ्च जब स्थूल अधिभूत रूपको धारण करता है, वही महामायाका स्थूल अधिभूत रूप ही क्षर कहलाता है, क्योंकि वह अधिभूत क्षररूप परिणामी है। त्रिगुणके कारण वह स्थूलप्रपञ्च सदा एक अवस्थामें कदापि नहीं रह सकता, यही क्षरभावका रहस्य है। अक्षर ब्रह्मभाव जैसा निर्विकार है, क्षररूपी अधिभूत भाव वैसे ही सब समय विकारी और परिणामी है। स्थूल अधिभूत भावके इस परिणाम-का कारण महामाया ही हैं। इस स्थूलप्रपञ्चके, इस विकारवान् जगत्के, इस परिणामी संसारके और इस अनन्तपिण्ड और अनन्तब्रह्माण्डमय विराट्के जो द्रष्टा अधिदैव हैं, वही पुरुष अर्थात् ईश्वर हैं। विराट्में द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध स्थापन करनेवाली ब्रह्मशक्ति महामाया ही हैं और यह सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होता है, इसका वर्णन पहले कर चुके हैं। यह सम्बन्ध भी अलौकिक है, महामाया ही इसका कार्य्य कारण और करण हैं। निर्लिप्त ब्रह्म केवल नाममात्रके लिये पुरुषरूपी ईश्वर बन जाते हैं। जैसे आकाश विभु होनेपरभी घट और मठकी उपाधिके भेदसे घटाकाश और मठाकाश-रूपमें प्रतीत होने लगता है, वास्तवमें वह विभु आकाश अविभक्त ही है; ठीक उसी प्रकारसे सर्व्वव्यापक निर्विकार निःसङ्ग ब्रह्म, महामायाकी बनाई हुई उपाधिसे प्रत्येक जीवदेहरूपी पिण्डमें कूटस्थरूपी अधियज्ञ कहलाने लगते हैं। इन सब भेदोंका, इन सब उपाधियोंका और इन सब अवस्थाओंका उत्पन्न करना

महामायाका ही खेल है। भेद इतना ही है कि, जब महामाया इन सब अवस्थाओं-की यथावत् प्रतीति कराती हैं, तभी वे विद्या कहाती हैं और जब इन अवस्थाओंकी वे यथावत् प्रतीति नहीं करातीं और सत्में असत् और असत्में सत् मान कराती रहती हैं, तभी वे अविद्या कहाती हैं। ईश्वरभाव और जीवभाव, ये दोनों भाव किस प्रकार माया-विलाससे ही पूर्ण हैं, सो निम्नलिखित स्मृतिवचनसे सिद्ध है।

प्रागुत्पत्तेरकर्म्मैकमकर्तृ च निरिन्द्रियम्।
निर्विशेषं परं ब्रह्मैवासीन्नात्रास्ति संशयः॥
तथापि तस्य चिच्छक्तिसंयुतत्वेन हेतुना।
प्रतिच्छायात्मिके शक्ती मायाविद्ये बभुवतुः॥
अद्वितीयमपि ब्रह्म तयोर्यत्प्रतिबिम्बितम्।
तेन द्वैविध्यमासाद्य जीव ईश्वर इत्यपि॥
पुण्यपापादिकर्तृत्वं जगत्सृष्ट्यादिकर्तृताम्।
अभजत्सेन्द्रियत्वं च सकर्म्मत्वं विशेषतः॥

उत्पत्तिके पहले अकर्म्म, अकर्त्ता, इन्द्रियहीन और विशेषतारहित एक परब्रह्म ही थे, इसमें सन्देह नहीं; तथापि वे चित्शक्ति अर्थात् महामायासे संयुक्त होनेके कारण उनकी प्रतिच्छायारूप माया अर्थात् विद्या और अविद्या नामक दो शक्तियाँ हुई। ब्रह्म अद्वितीय होनेपर उक्त दोनों शक्तियोंमें वे जो प्रतिबिम्बित हुए, उसीसे द्विविधता प्राप्त होकर ईश्वर और जीव हुए। जीव पुण्य पापके तथा ईश्वर जगत्की सृष्टिआदिके कर्त्ता होकर ईश्वर सकर्मत्व और जीव विशेषरूपसे इन्द्रियत्वको प्राप्त हुआ। अस्तु महामायाके प्रभावसे ईश्वरभाव और जीवभाव दोनोंका ब्रह्ममें कैसा प्राकट्य होता है, उसका यही मौलिक रहस्य है। विद्याभाव और अविद्याभावको समझानेके लिये शक्तिगीतामें अपूर्व विज्ञान कहा गया है सो यह है—

स्वभावात्प्रकृतिर्मे हि स्पन्दते परिणामिनी।
स एव स्पन्दहिल्लोलः स्वभावोत्पादितो मुहुः॥
सदैवास्ते भवन् देवाः! स्वरूपे प्रतिबिम्बितः।
तस्मान्मम प्राकृतानां गुणानां परिणामतः॥

अविद्याऽऽविर्भवेन्नूनं तरङ्गैस्तामसोन्मुखैः ।
सत्त्वोन्मुखैश्च तैर्देवाः ! विद्याऽऽविर्भावमेति च ॥
तदाऽविद्याप्रभावेण तरङ्गाणां मुहुर्मुहुः ॥
आघातप्रतिघाताभ्यां जलैः पूर्णे जलाशये ।
अगण्यवीचिसङ्घेषु नैकवैधवबिम्बवत् ॥
चिज्जडग्रन्थिभिर्देवाः ! स्वत उत्पद्य भूरिशः ।
जीवप्रवाहपुञ्जोऽयमनाद्यन्तो वितन्यते ॥

महादेवी कहती हैं, मेरी प्रकृति स्वभावसे ही परिणामिनी होकर स्पन्दित होती है। हे देवगण ! वही स्वभावजनित स्पन्दनका हिल्लोल सदा ही स्वरूपमें वारम्वार प्रतिफलित होने लगता है ; अतः मेरी प्रकृतिके गुणपरिणके कारण तमकी ओरके तरङ्गसे अविद्या और सत्त्वकी ओरके तरङ्गसे विद्या प्रकट होती है। उस समय अविद्याके प्रभावसे, वारम्वार तरङ्गोंके आघात-प्रतिघातद्वारा जलपूर्ण जलाशयके अगणित तरङ्गोंमें अनेक चन्द्रबिम्बके प्रकाशके समान स्वतः ही अनेक चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न होकर अनादि अनन्त जीवप्रवाहको विस्तार करती है। अतः तरङ्ग उठाकर तरङ्गमें चन्द्रबिम्बको फँसानेवाली अविद्या और तरङ्गको शान्त करके एक अद्वितीय चन्द्रप्रकाश दिखानेवाली विद्या कहाती हैं।

अब इस मायाके स्वरूपको भिन्न भिन्न दर्शनोंमें अपनी अपनी ज्ञान-भूमियोंके अनुसार कैसा कैसा वर्णन किया है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ॥

इत्यादि बचनोंकेद्वारा श्रुतिने माया और प्रकृतिकी एकता तथा अद्वितीय परमात्मामें मायाके द्वारा ही द्वैतभावमय अनन्त सृष्टिका विस्तार होता है, ऐसा प्रमाणित किया है। निरुक्तशास्त्रमें—

"मीयन्ते परिच्छिद्यन्तेऽनया पदार्था इति माया"

इस प्रकार कहकर मायाशक्तिके द्वारा ही अद्वितीय सत्तामें परिच्छिन्न-भाव उत्पन्न होता है ऐसा प्रमाणित किया गया है। सप्तदर्शनोंमेंसे प्रथम भूमियोंके दर्शन न्याय और वैशेषिकमें इस प्रकृति या मायाके स्वरूपके विषयमें विशेष वर्णन नहीं प्राप्त होता है; क्योंकि निम्नभूमिके दर्शन होनेसे, जैसा कि

सृष्टितत्त्वनामक प्रबन्धमें कहा गया है, इन दर्शनोंमें विकृतिके अन्तिम परिणामरूप परमाणुओंके द्वारा सृष्टि मानी गई है, प्रकृतिके वास्तविक स्वरूप तक पहुँचानेकी आवश्यकता इन दर्शनोंमें नहीं हुई है। इन दर्शनोंमें प्रकृतिके विषयमें कुछ कुछ सूत्र अवश्य मिलते हैं, यथा न्यायदर्शनमें—

"प्रकृतिविवृद्धौ विकारवृद्धेः"

"नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात्"

"प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम्"

"माया गन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा"

इसी प्रकार वैशेषिकदर्शनमें भी—

"भूयस्त्वाद्गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः"

परन्तु इन सूत्रोंमें प्रकृति या मायाका वर्णन प्रसङ्गोपात किया गया है। माया या प्रकृतिका स्वरूपनिर्णय अथवा इससे सृष्टिका क्या सम्बन्ध है; इस विषयमें ये सब सूत्र नहीं दिये गये हैं। प्रकृति माया या अविद्याका स्वरूपनिर्णय सांख्यज्ञानभूमिसे ही प्रारम्भ हुआ है। तदनुसार सांख्यदर्शनमें प्रकृतिका लक्षण किया गया है, यथा—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"

"मूले मूलाभावादमूलं मूलम्"

"परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम्"

"प्रकृतेराद्योपादानता"

"प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम्"

त्रिगुणकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। प्रकृतिका कारण कुछ नहीं है, प्रकृति ही सबका कारण है। सबका उपादान होनेसे प्रकृति परिछिन्न नहीं हो सकती है, इसलिये प्रकृति अनादि अनन्त है। प्रकृति ही समस्त सृष्टिका आदि उपादान है। प्रकृतिके परिणामसे ही समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं, बाकी सब अनित्य हैं। प्रकृतिके नित्य होनेसे कभी उसका नाश नहीं होता है। पुरुष स्वरूपस्थित होनेपर केवल प्रकृतिके सम्बन्धसे स्वतन्त्र और उदासीनमात्र हो जाता है, उसके अंशकी प्रकृति उससे पृथक् होकर मूलप्रकृतिमें मिल जाती है; परन्तु उससे मूलप्रकृतिका नाश

नहीं होता है। यही अपनी भूमिके अनुसार प्रकृतिके विषयमें सांख्यदर्शनका सिद्धान्त है। सांख्यदर्शनके अनुसार योगदर्शनमें भी प्रकृतिका लक्षण बताया गया है, यथा—

"प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।"

"विशेषाविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि"

"तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा"

प्रकाश अर्थात् सत्त्वगुण, क्रिया अर्थात् रजोगुण और स्थिति अर्थात् तमोगुण, इन तीनों गुणोंसे युक्त, स्थूलसूक्ष्म भूत और ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियोंसे युक्त तथा पुरुषके लिये भोग और मोक्ष देनेवाली प्रकृति है। प्रकृतिके गुणोंकी चार अवस्थाएँ हैं, यथा—विशेष, अविशेष, लिङ्ग और अलिङ्ग। पञ्चभूत, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन तक विशेषावस्था है। पञ्चतन्मात्रा और अहंकार तक अविशेषावस्था है। ज्ञानका आधार महत्तत्त्व ही लिङ्गावस्था है और साम्यावस्था प्रकृति अर्थात् प्रधानकी अवस्था ही अलिङ्गावस्था है। पुरुषके भोग और मोक्षके लिये ही प्रकृतिकी सत्ता है।

प्रकृतिकी तामसिक सत्ता अर्थात् अविद्याके लक्षणके विषयमें योगदर्शनमें कहा है—

"तस्य हेतुरविद्या"

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"

प्रकृति और पुरुषके परस्पर संयोगद्वारा बन्धनका कारण अविद्या है। अनित्यमें नित्यज्ञान, अशुचिमें शुचिज्ञान, दुःखमें सुखज्ञान और अनात्मामें आत्मज्ञान यही सब अविद्याका लक्षण है, जीव अविद्याके वशवर्ती होकर ही अनन्त दुःखमय संसारको भी सुखमय समझकर मिथ्या भ्रमजालमें फँसता है और पुनः पुनः आवागमनचक्रमें घटीयन्त्रकी तरह घूमता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें भी कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

परमात्मा सकल जीवोंके भीतर रहकर मायाकेद्वारा यन्त्रारूढ़की तरह जीवोंको घुमाया करते हैं। मायाके अविद्याभावके द्वारा उत्पन्न यही संसार-

चक्र है, जिसमें अनादिकालसे समस्त जीव घूम रहे हैं। प्रकृतिकी नित्यताके विषयमें योगदर्शनमें कहा है—

"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्"

स्वरूपस्थित पुरुषके लिये प्रकृतिकी सत्ता नष्ट होनेपर भी बद्धजीवके लिये प्रकृति सदा ही त्रिगुणतरङ्गमयी तथा बन्धनकारिणी है, इसलिये समस्त विश्वमें प्रकृतिकी नित्यसत्ता विद्यमान रहती है। केवल मुक्तपुरुष प्रकृतिके राज्यसे स्वयं पृथक् होकर ब्रह्मराज्यमें पहुँच जाते हैं, यथा गीतामें—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

परमात्माकी इच्छारूपिणी त्रिगुणमयी दैवीमायाको अतिक्रम करना अतिकठिन है । केवल परमात्माकी शरण लेनेसे ही जीव मायाके बन्धनसे मुक्त हो सकता है। इस प्रकार सांख्यप्रवचन-भूमिमें प्रकृति और प्रकृतिके विद्या और अविद्याका स्वरूपनिर्णय किया गया है। तदन्तर मीमांसाकी तृतीय भूमि है, क्योंकि न्याय-वैशेषिककी पहली भूमि, योग और सांख्यकी दूसरे पर्य्यायकी भूमि और तीनों मीमांसाकी तीसरे पर्य्यायकी भूमि समझने-योग्य है। तीनों मीमांसादर्शनोंमेंसे कर्ममीमांसामें मायाका स्वरूप विशेष करके नहीं निर्देश किया गया है, सो इसकी ज्ञानभूमिके अनुसार ठीक ही है। कर्ममीमांसामें कर्मकी प्रधानता होनेसे संसारकी सत्यता और नित्यता, इस दर्शनभूमिका प्रतिपाद्य विषय है, इसलिये मायाका यथार्थ स्वरूप इस दर्शनभूमिमें ठीक ठीक नहीं देखा जा सकता है । यहाँतक कि कर्मसिद्धि की दशामेंभी महात्मा जगत्को मिथ्या नहीं मान सकते हैं; प्रत्युत जगत् और ब्रह्म एक ही है और जगत् ही ब्रह्म है, ऐसा ही इस भूमिमें साधकको उपलब्ध होगा। अतः मायाका स्वरूपनिर्णय कर्ममीमांसाकी ज्ञानभूमिके अनुकूल नहीं हो सकता है। कर्म्मभीमांसामें प्रकृतिकी ही धर्म्माधर्म्मरूपमें सेवा की गई है और उसीकी शैली इस दर्शनमें भली भांति बताई गई है। प्रकृतिस्पन्दन-जनित कर्म्म और उसके नाना तरङ्गोंका भलीभांति विचार इस दर्शनशास्त्रमें किया गया है। तदनन्तर दैवीमीमांसाकी ज्ञानभूमिमें मायाका स्वरूपवर्णन देखनेमें आता है। दैवीमीमांसाने प्रकृति या मायाको ब्रह्मकी शक्ति कहकर इसी मायाकेद्वारा ही अद्वितीय ब्रह्ममें विचित्र संसारका विस्तार वर्णन किया है। यथा—

"ब्रह्मशक्त्योरभेदोऽहं ममेतिवत्"
"अतद्भाति तद्वत्ताद्योतका सा"
"तत्पूर्वावस्थे चापि मायावैभवात्"
"प्रकृतेश्च तथात्वम्"
"सर्वत्र त्रैगुण्यम्"

"मैं और मेरी शक्ति" इसमें जिसप्रकार शक्ति और शक्तिमान्की अभिन्नता सिद्ध होती है उसीकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिरूपिणी प्रकृति या मायामें अभिन्नता है। माया नास्तिमें अस्ति बतानेवाली है अर्थात् अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैतप्रपञ्चमय समस्त सृष्टिको बतानेवाली है। संसारके लयहोनेके पहले संसारका अनन्त विस्तार मायाके ही प्रभावसे होता है। माया या प्रकृति अनादि अनन्त तथा त्रिगुणमयी है। महर्षि शाण्डिल्यने भी अपने दर्शनमें—

"तच्छक्तिर्माया जड़सामान्यात्"

ऐसा कह कर मायाको परमात्माकी शक्तिरूपसे ही वर्णन किया है। परन्तु सत्यस्वरूप परमात्माकी शक्तिस्वरूपिणी होनेसे दैवीमीमांसादर्शनमें मायाको मिथ्या नहीं कहा गया है। उसमें प्रकृति अनादि, अनन्त, नित्य और सत्यरूपिणी है। भक्त साधक शक्तिमान् ईश्वरकी आनन्दमयी सत्ताको उपलब्ध करके शक्तिरूपिणी माया और शक्तिमान् ईश्वर दोनोंकी अभिन्नताको जान सकते हैं, उस समय उक्त जीवन्मुक्त महात्माकी ज्ञानदृष्टिमें—

"वासुदेवः सर्वम्"

ब्रह्मही समस्त जगत् है, इसप्रकार अनुभव होने लगता है। यही दैवीमीमांसादर्शनभूमिमें प्रदर्शित मायाका तत्त्व है। इसके बाद अन्तिम अर्थात् सप्तम ज्ञानभूमिके प्रतिपादक वेदान्तदर्शनमें मायाका स्वरूप विचित्ररूपसे वर्णन किया गया है। ज्ञानराज्यमें उन्नत साधक राजयोगसाधनकी सहायतासे अग्रसर होता हुआ जब अन्तिम ज्ञानभूमिपर प्रतिष्ठित होता है उस समय उसको प्रकृतिराज्यसे बाहर विराजमान निर्गुण ब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि होती है। इस निर्गुण ब्रह्मपदमें प्रकृतिका कोई भी विलास और सृष्टिका कोई भी संबन्ध नहीं है। वहां पर मायाविलसित जगत्का कोई भी अस्तित्व और द्वैतभावकी कोई भी स्थिति नहीं है। वहां पर मायाका कोई प्रकाश नहीं है, परन्तु ब्रह्म

भावमें पूर्णरूपसे मायाका विलय है इसलिये वेदान्तशास्त्रमें मायाको अनादि और सान्त कहा है।

अनादित्वमविद्यायाः कार्यस्यापि तथेष्यते ।
उत्पन्नायान्तु विद्यायामाविद्यकमनाद्यपि ॥
प्रबोधे स्वप्नवत्सर्वं सहमूलं विनश्यति ।
अनाद्यपीदं नो नित्यं प्रागभाव इव स्फुटम् ॥

अविद्या और तत्कार्यरूप संसार अनादि है; परन्तु जिस प्रकार जाग्रत् होने पर स्वप्नदृष्ट समस्त वस्तु नष्ट होती है उसी प्रकार विद्याके प्राप्त होने पर अनादि अविद्या और तत्कार्यसमूह आमूल नाशको प्राप्त होते हैं अतः प्रागभावकी तरह माया अनादि और सान्त है। अद्वितीयस्वरूप दशामें द्वैतमय सृष्टिका प्रपञ्च नहीं है, इसीलिये उसी अवस्था पर स्थित होकर वेदान्तशास्त्रने संसारको स्वप्नवत् मिथ्या कहा है और रज्जुमें सर्पभ्रम तथा मरुभूमिमें मृगजल भ्रमकी तरह भ्रममात्र ही कहा है, यथा—वेदान्तदर्शनके तृतीय अध्यायके द्वितीयपादमें—

"सन्ध्ये सृष्टिराह हि"
"मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्"

क्या स्वप्नसृष्टि सत्य है? इस प्रकार प्रथम सूत्रोक्त पूर्वपक्षके उत्तरमें द्वितीय सूत्रमें कहा गया है कि "नहीं, स्वप्नसृष्टि मायामात्र अर्थात् मिथ्या है, क्योंकि उसमें तात्त्विक सत्य कुछ भी नहीं है।" स्वप्नसृष्टिकी तरह मायाके द्वारा ही ब्रह्ममें मिथ्या सृष्टि रची हुई है। यही वेदान्तदर्शनका निज ज्ञानभूमिके अनुसार सिद्धान्त है। मायाके लक्षणके विषयमें वेदान्तशास्त्रमें निम्नलिखित मिलता है, यथा—पञ्चदशीमें—

निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् ।
न हि शक्तिः क्वचित् कैश्चिद्बुद्ध्यते कार्यतःपुरा ॥
न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता ।
सद्विलक्षणतायान्तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम् ॥
शून्यत्वमिति चेत् शून्यं मायाकार्यमितीरितम् ।
न शून्यं नापि सद्यादृक् तादृक् तत्त्वमिहेष्यताम् ॥

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किन्त्वेकदेशभाक्।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्त्तते ॥
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः।
सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत् सति विक्रियाः।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा ॥

जगत्कारणसद्वस्तु परमात्मासे पृथक् सत्तारहित जो परमात्माकी इच्छा-शक्ति है, उसे ही माया कहा जाता है। जिस प्रकार दाहादि कार्यद्वारा अग्निकी शक्तिका अनुमान होता है, उसीप्रकार जगत्के निर्माण आदि कार्यद्वारा ही ब्रह्मकी इच्छाशक्तिरूपिणी मायाका अनुमान होता है। जहाँ सृष्टिकार्य नहीं है, वहाँ मायाका अस्तित्व भी नहीं है। सद्वस्तुरूपी ब्रह्मकी शक्तिरूपिणी मायाकी ब्रह्मसे कोई पृथक् सत्ता नहीं है, क्योंकि अग्निमें स्वशक्तित्व नहीं हो सकता है। फिर मायाका स्वरूप क्या कहा जाय? माया शून्य नहीं है, क्योंकि शून्य उसका कार्य है। इसलिये माया शून्यसे विलक्षण और सत्से अतिरिक्त सत्में ही भासमान अघटनघटनापटीयसी सृष्टिशक्तिरूपिणी है। ब्रह्मके सकलदेशमें मायाका विलास नहीं है, केवल एकदेशमें है; क्योंकि घट आदि उत्पन्न करने-की शक्ति मिट्टीके सब अंशमें नहीं होती है, केवल आर्द्र (गीला) अंशमें ही होती है। ब्रह्मके एकपादमें ही सृष्टि है, तीन पाद सृष्टिसे परे हैं ऐसा श्रुतिने भी वर्णन किया है। परमात्माकी विचित्र इच्छाशक्तिरूपिणी यही माया, जिस प्रकार भीतको आश्रय करके नीलपीतादि वर्णसमूह अनेक प्रकारके चित्र बनाते हैं उसीप्रकार परमात्माकी सत्सत्ताको आश्रय करके उसीमें प्रस्तरमें खोदित मूर्त्तिकी तरह अनेक प्रकारकी सृष्टियोंको बनाती है। ब्रह्मके जिस भावमें मायाकी उपाधिद्वारा अनन्तसृष्टिका विस्तार होता है उसको सगुण ब्रह्म मायोपहितचैतन्य ईश्वर कहते हैं। यह भाव मायोपहित होनेसे वेदान्त-ज्ञानभूमिका प्रतिपाद्य नहीं है। वेदान्तज्ञानभूमिका प्रतिपाद्य विषय मायाराज्यसे अतीत निर्गुण परब्रह्मपद है। इस पदमें मायाका कोई भी विलास नहीं है, इसलिये इस पदपर अधिष्ठित होकर मुक्त पुरुष मायाको भ्रमरूपिणी तथा माया-विलासरूप संसारको स्वप्नवत् कह सकते हैं; परन्तु व्यावहारिक दशामें जहाँ पर मायाका विलास है तथा मायोपाधिक चैतन्य ईश्वरका राज्य है,

वहाँपर व्यावहारिक दशाकी दृष्टिसे माया भी सत्य है और जगत् भी सत्य है। मायाके स्वरूपको भलीभांति दिखाकर मायाके राज्यसे जीवको बचाकर मुक्त कर देनेकेलिये सात ज्ञानभूमिके सातों वैदिक दर्शनशास्त्र तीन पर्य्यायमें विभक्त होकर अन्तमें सर्व्वोन्नत वेदान्तभूमिमें पहुँचाकर कैसे मायासे मुक्तकर देते हैं सो विषय समझनेसे पूज्यपाद महर्षियोंके ज्ञानगरिमाका चमत्कार अनुभवमें आता है। प्रथम पर्य्यायकी न्यायवैशेषिक-भूमिमें मायाके स्थूल अंगोंका इसप्रकार ज्ञान कराया गया है जिससे तत्त्वज्ञानी मायाको देखनेकी शक्ति प्राप्त कर सके। तत्पश्चात् योगसांख्यकी दूसरी पर्य्यायकी भूमिमें मायाका सूक्ष्मस्वरूप और माया-अधिष्ठाता पुरुषका स्वरूप बताकर मायाका पूरा ज्ञान करा देनेका प्रयत्न किया गया है। तत्पश्चात् तीनों मीमांसाकी तृतीय पर्य्यायकी ज्ञानभूमिमें धर्म्माधर्म्ममूलक कर्म्म-शक्तिरूपसे मायाका शक्तिमय स्वरूप पहले दिखाया गया है, दूसरेमें मायाके विद्यामय स्वरूपका सान्निध्य कराया गया है और अन्तिम वेदान्तभूमिमें ज्ञानजननी विद्याकी सहायतासे जीवको मायाके स्वरूपमें लय करके मायाके साथ ही साथ मायातीत अद्वितीय ब्रह्मपदमें पहुँचाया गया है। अतः वेदान्तभूमिके समझनेमें इन सब बातोंका विचार रखना चाहिए और निम्नदशाके विचारके साथ उन्नतदशाके विचारका मिश्रण नहीं कर देना चाहिये। वेदान्तशास्त्रके समझनेमें मनुष्योंको प्रायः यही भ्रम हुआ करता है कि वे तात्त्विकदशाके साथ व्यावहारिक दशाका प्रभेद निर्णय करनेमें असमर्थ होकर एकके साथ दूसरेका मिलान कर दिया करते हैं। शक्ति शक्तिमान्से पृथक् नहीं रहती है, इसलिये वेदान्तशास्त्रमें ब्रह्मातिरिक्त मायाकी तथा और किसी पदार्थकी भी पृथक् सत्ता नहीं मानी गई है। मायोपहित ब्रह्मकी सत् सत्ताके ऊपर ही मायाका अनन्त विलास है, आनन्द और चित्सत्ताएँ भी मायाके द्वारा विषयानन्द और व्यावहारिक नानाज्ञानरूपसे सत्सत्ताके आश्रयसे विकाशको प्राप्त हुआ करती हैं। इसीसे संसार और जीवोंका बन्धन है। साधनद्वारा मायाकी विलासकलासे अतीत होकर मायाविलासरहित परब्रह्मराज्यमें पहुँचने पर तब जीव निःश्रेयसपदको प्राप्त कर सकता है। यही आर्यशास्त्रमें अनेक प्रकारसे वर्णित मोहिनी दुरत्यया ब्रह्मशक्ति मायाका अतिगूढ़ सूक्ष्म तत्त्व है।

पञ्चम समुल्लासका सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

त्रिगुणतत्त्व ।

ब्रह्मकी शक्ति महामाया त्रिगुणरूपिणी है। महामायाको त्रिगुणधर्मिणी कहनेमें भी हानि नहीं है। जिस प्रकार प्रकाश और तेज अग्निका स्वरूप है, जिस प्रकार उष्णत्वके विना अग्निका अस्तित्व असम्भव है, उसीप्रकार ब्रह्मशक्ति-महामाया सत्त्व, रज, तमोगुण स्वरूपसे त्रिगुणमयी है। त्रिगुणसे ही महामायां की पहचान की जा सकती है। त्रिगुण ही महामायका प्रकाश्य रूप है। ब्रह्ममयी महामाया यद्यपि अहंममेतिवत् होनेसे उसका भाव ब्रह्मभावके सदृश अचिन्तनीय है परन्तु सत्त्व रज और तम, इन तीन गुणोंके विकाशसे ही उनका स्वरूप प्रकट है। यथा—श्वेताश्वतरोपनिषद्में—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्"

प्रकृति लोहित, शुक्ल, कृष्णरूप अर्थात् रज, सत्त्व और तमोगुणमयी है। प्रकृतिके त्रिगुणमय लक्षणके विषयमें देवीभागवतके नवमस्कन्धके प्रथम अध्यायमें सुन्दर वर्णन मिलता है, यथा—

> प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।
> सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्त्तिता ॥
> गुणे सत्त्वे प्रकृष्टे च प्रकाशो वर्त्तते श्रुतः ।
> मध्यमे रजसि कृश्च तिशब्दस्तमसि स्मृतः ॥
> त्रिगुणात्मकस्वरूपा या सा च शक्तिसमन्विता ।
> प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते ॥

'प्रकृति' इस शब्दमेंसे 'प्र' शब्दका अर्थ प्रकृष्ट अर्थात् उत्तम है और 'कृति' शब्दका अर्थ सृष्टि है; अर्थात् जो देवी सृष्टिकार्यमें निपुण हैं उन्हींको प्रकृति कहते हैं। 'प्र' शब्द प्रकृष्ट सत्त्वगुणका वाचक है। 'कृ' शब्द रजोगुणका वाचक है और 'ति' शब्द तमोगुणका वाचक है। इसप्रकारसे सृष्टिकारिणी प्रकृतिमें सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुणका समन्वय पाया जाता है।

दृश्यप्रपञ्च सबही त्रिगुणमय है। परिदृश्यमान यह ब्रह्माण्ड अथवा इसका कोई भी विभाग हो सब ही त्रिगुणसे अतीत नहीं है। क्या अध्यात्म-

ज्ञानराज्य, क्या अधिदैव कर्म्मराज्य, क्या अधिभूत स्थूलप्रपञ्च, क्या ऋषि, देवता और पितृगण, क्या स्थावर, क्या जङ्गम सब ही त्रिगुणमय हैं और वह त्रिगुण प्रकृतिसम्भूत है, यथा—श्रीगीताजीमें :—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
विबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥

हे महाबाहो अर्जुन ! प्रकृतिसम्भूत सत्त्व रज और तम ये तीन गुण देहमें अविनाशी जीवात्माको बद्ध किया करते हैं। इस वचनसे यही तात्पर्य्य है कि द्रष्टा पुरुष दृश्य प्रकृतिसे जब बन्धनको प्राप्त होता है तो त्रिगुण ही उसको आबद्ध करते हैं। पुरुष निर्लिप्त निःसङ्ग और नित्यमुक्त होने पर भी त्रिगुणमयी प्रकृतिसे कैसे जीवभाव प्राप्त करके बद्ध हो जाता है, त्रिगुण किन-किन लक्षणोंसे पहचाने जा सकते हैं, उनमें चेतनको आबद्ध करके सृष्टि स्थिति लयक्रिया उत्पन्न करनेकी कैसी वैचित्र्यपूर्ण शक्ति है, तीन गुण कैसे एक दूसरेसे सम्बन्ध रखते हैं और गुणत्रयके अनुसार जीवकी गति किस प्रकारसे होती है सो श्रीमद्भगवद्गीताके निम्नलिखित वचनोंसे प्रमाणित होगाः—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्म्मसङ्गेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमदालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥
सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्म्मणि भारत ! ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत !
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्म्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ! ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन! ॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदाँल्लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्म्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥
कर्म्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्म्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥
सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥
ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

हे निष्पाप अर्जुन! उन गुणत्रयमेंसे सत्त्वगुण निर्मलत्वके कारण ज्ञानका प्रकाशक और अनामय अर्थात् शान्त है, वह जीवको सुखासक्ति द्वारा एवं ज्ञानासक्ति द्वारा बद्ध करता है। हे कौन्तेय! रजोगुणको अनुरागात्मक और तृष्णा अर्थात् अभिलाष एवं आसक्तिसे उत्पन्न जानना चाहिये, वह जीवको कर्म्मोंमें आसक्त करके बद्ध करता है। हे भारत! तमोगुण अज्ञान-सम्भूत होनेसे सकल प्राणियोंका भ्रान्तिजनक है ऐसा जानो, वह अनवधानता, अनुद्यम और चित्तकी अवसन्नता द्वारा जीवोंको बद्ध करता है। हे भारत! सत्त्वगुण जीवको सुखमें आबद्ध करता है, रजोगुण कर्ममें आबद्ध करता है और तमोगुण ज्ञानको आवरण करके प्रमादमें आबद्ध करता है। हे भारत! कभी रज एवं तमोगुणको दबा करके सत्त्वगुण बलवान् होता है, कभी सत्त्व और तमोगुणको परास्त करके रजोगुण प्रबल होता है और कभी सत्त्व और रजोगुणको दबा करके तमोगुण प्रबल होता है। जब इस देहमें श्रोत्रादि सब द्वारोंमें ज्ञानमय प्रकाश होता है तब सत्वगुणकी विशेष वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिये। हे भरतर्षभ! लोभ, प्रवृत्ति अर्थात् सर्व्वदा सकाम कर्म्म करने

की इच्छा, कर्म्मोंका आरम्भ अर्थात् उद्यम, अशम अर्थात् अशान्ति एवं स्पृहा अर्थात् विषयतृष्णा, ये सब चिन्ह रजोगुण बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं। हे कुरु-नन्दन ! विवेकभ्रंश, उद्यमहीनता, कर्त्तव्यके अनुसन्धानका न रहना, और मिथ्या अभिमान ये सब चिन्ह तमोगुणके बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं। यदि सत्त्व-गुणके विशेषरूपसे बढ़नेपर जीव मृत्युको प्राप्त हो तब वह ब्रह्मवेत्ताओंके प्रकाशमय लोकोंको प्राप्त होता है अर्थात् उसकी उत्तमगति होती है, रजोगुणकी वृद्धिके समयमें मृत्यु होनेपर कर्म्मासक्त मनुष्यलोकमें जन्म होता है एवं तमोगुण बढ़ने पर मृत व्यक्ति पशु आदि मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है। सुकृत अर्थात् सात्त्विक कर्म्मका सत्त्वप्रधान निर्मलता ही फल है ऐसा पण्डितलोग कहते हैं। राजस कर्म्मका फल दुःख और तामस कर्म्मका फल अज्ञान अर्थात् मूढ़ता है। सत्त्वसे ज्ञानोत्पत्ति होती है, रजसे लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुणसे प्रमाद, अविवेक और अज्ञान उत्पन्न होता है। सत्त्वप्रधान व्यक्ति उर्द्ध्वलोकको जाते हैं, रजोगुणप्रधान व्यक्ति मध्यलोकमें रहते हैं और निकृष्ट गुणावलम्बी तामसिक व्यक्ति अधोलोकमें जाते हैं।

पूर्वकथित सत्त्व रज और तमके लक्षणोंसे यह स्पष्ट हुआ कि सत्त्वगुण ज्ञानका प्रकाशक, रजोगुण प्रवृत्तिका उत्पन्न करनेवाला और तमोगुण अज्ञान प्रकट करनेवाला है, यही कारण है कि रजोगुण स्वाधीनगुण नहीं है। प्रवृत्ति जनक रजोगुण जब सत्त्वगुणकी ओर चलता है तो वह सात्त्विक क्रिया उत्पन्न करता है और वही रजोगुण जब तमकी ओर अग्रसर होता है तब वह ताम-सिक क्रिया उत्पन्न करता है। अस्तु, रजोगुणकी स्वाधीनता न रहनेके कारण शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि रजोगुणके अधिष्ठातृदेवता ब्रह्माजीकी उपासना साधारण तौर पर देखनेमें नहीं आती। सत्त्वगुणके अधिष्ठातृदेव विष्णु, तमो-गुणके अधिष्ठातृदेव शिव और रजोगुणके अधिष्ठातृदेव ब्रह्मा हैं; परन्तु क्या पञ्चोपासनाकी शैलीमें, क्या यागयज्ञादिके प्रकरणमें, शिव और विष्णुकी उपासना चिर प्रसिद्ध है किन्तु ब्रह्माजीकी उपासना करनेकी विधि साधारणतः देखनेमें नहीं आती। रजोगुणके स्वाधीन न होनेके कारण ही तथा रजोगुणके केवल प्रवृत्तिमूलक होनेसे ही इस संसारमें द्वन्द्वकी सृष्टि हुई है। सृष्टि राज्यमें सत्त्वगुण और तमोगुणरूपी दो परिधि होनेके कारण और रजोगुण केवल प्रवृत्ति मूलक होकर मध्यवर्त्ती रहनेके कारण यह संसार द्वन्द्वमूलक है। तमःप्रधान अन्धकार और सत्त्वप्रधान प्रकाश, तमोमूलक दुःख और सत्त्व

मूलक सुख, तमका फलरूपी नरक और सत्त्वका फलरूपी स्वर्ग, तामसिक क्रियारूपी पाप और सात्त्विक क्रियारूपी पुण्य, तमःप्रधान जड़राज्य और सत्त्वप्रधान चेतनराज्य, तमःप्रधान अधोलोक और सत्त्वप्रधान ऊर्द्ध्वलोक, तामसिक शक्तिसम्पन्न असुर और सात्त्विक-शक्तिसम्पन्न देवता, तमःप्रधान अज्ञान और सत्त्वप्रधान ज्ञान, तमःप्रधान अधर्म्म और सत्त्वप्रधान धर्म्म इत्यादि सब द्वन्द्वमूलक सृष्टिके उदाहरण हैं । रजोगुण केवल इन द्वन्द्वोंके बीचमें रहकर दोनोंकी क्रियाको सहायता दिया करता है ।

ऊपर लिखित विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके लिये इतना कहना आवश्यक है कि सूक्ष्मदशामें तम और सत्त्व द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं तथा रजोगुण मध्यवर्त्ती सहायक रहता है, परन्तु स्थूलदशामें तीनोंकी क्रिया समानरूपसे बलशाली होती है । इसी कारण सृष्टिके सब स्थूल अङ्ग और धर्म्मके सब अङ्गोपाङ्गोंके त्रिगुणात्मक होनेका प्रमाण शास्त्रोंमें मिलता है ।

शास्त्रोंमें तीन प्रकारके चित्तके लक्षण इस प्रकारसे कहे गये हैं जिनका पहले कह देना उचित समझा गया है; क्योंकि मनही सब धर्म्मसाधनोंका मूल समझा गया है । मन, चित्त, अन्तःकरण आदि सब पर्य्यायवाचक शब्द हैं ।

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचः,
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानञ्च निर्दम्भता ।
कर्म्माऽनिन्दितमस्पृहा च विनयो धर्म्मे सदैवादरः,
एते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः ॥
क्रोधस्ताड़नशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाऽधिका,
दम्भः कामुकताऽप्यलीकवचनं चाऽधीरताऽहङ्कृतिः ।
ऐश्वर्य्यादभिमानिताऽतिशयिताऽऽनन्दोऽधिकञ्चाऽटनं,
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ।
नास्तिक्यं सुविषणताऽतिशयितालस्यं च दुष्टा मतिः,
भीतिर्निन्दितकर्म्मशर्म्मणि सदा निद्रालुताऽहर्निशम् ।
अज्ञानं किल सर्व्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढ़ता,
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥

आस्तिक्य, बांटकर खाना, अनुत्ताप, सत्यवचन, मेधा, बुद्धि, धृति, क्षमा, दया, ज्ञान, दम्भ नहीं करना, अनिन्दित कर्म्म करना, निःस्पृहता, विनय और धर्म्मका सदाही आदर करना, ज्ञानियोंने सात्त्विक मनके ये गुण कहे हैं। क्रोध, ताड़न करनेमें अभिरुचि, बहुत दुःख, सुखकी अधिक इच्छा, दम्भ, कामुकता, असत्यवचन, अधीरता, अहङ्कार, ऐश्वर्य्यसे अभिमान होना, अत्यधिक आनन्द और अधिक घूमना, ये सब गुण राजसिक चित्तके हैं। नास्तिकता, विषाद, बहुत आलस्य, दुष्टमति, भय, निन्दितकर्म्म, अच्छे कामोंमें सदा आलस्य, अज्ञान, सदा क्रोधान्धता और मूर्खता, ये सब गुण तामसिक चित्तके हैं।

मनुष्यको अभ्युदय और निःश्रेयसप्रदानकारी धर्म्मके प्रधान अङ्ग दान, तप, कर्म्मयज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ हैं। इनके त्रिगुणात्मक लक्षण गीतासे नीचे प्रकाशित किये जाते हैं।

धर्म्मका प्रथम अङ्ग दान है, वह दान त्रिविध होता है, यथाः—अर्थदान, ब्रह्मदान और अभयदान। ये सब दान सात्त्विक राजसिक और तामसिक भेदसे त्रिविध होते हैं। त्रिगुणात्मक विश्व होनेसे धर्म्मके सब अङ्गही कैसे त्रिगुणात्मक होते हैं सो क्रमशः नीचे बताया जाता है :—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अदेशकाले यद्दानपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

"दान करना उचित है" इस विचारसे देशकाल और पात्रकी विवेचना करके प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ व्यक्तिको जो दान दिया जाता है, उसको सात्त्विक दान जानना चाहिये; किन्तु जो दान प्रत्युपकारकी इच्छा रखकर वा फलकी चाहना करके कष्टपूर्व्वक दिया जाता है उस दानको राजस दान कहते हैं। देश काल और पात्रकी विवेचना न करके सत्कारशून्य और तिरस्कारपूर्व्वक जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहा जाता है।

धर्म्मका दूसरा अङ्ग तप है। वह तप तीन प्रकारका होता है, यथाः—

शारीरिक तप वाचनिक तप और मानसिक तप। ये सब तप त्रिगुणात्मक सृष्टिके अनुसार त्रिविध होते हैं; यथाः—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

आत्मामें अवस्थित व्यक्तियोंके द्वारा परम श्रद्धापूर्व्वक और फलकामना-रहित होकर अनुष्ठित शारीरिक, वाचनिक और मानसिक तपको सात्त्विक कहते हैं। सत्कार, मान और पूजाके लिये एवं दम्भपूर्व्वक जो तपस्या की जाती है, इस लोकमें अनित्य और क्षणिक वह तपस्या राजस कही जाती है। अविवेकके वश होकर दूसरोंके नाशके अर्थ वा आत्मपीड़ाके द्वारा जो तपस्या की जाती है उसको तामस कहते हैं।

धर्म्मका तीसरा और सर्व्वप्रधान अङ्ग यज्ञ है। वह यज्ञ पुनः कर्म्मयज्ञ उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ भेदसे तीन प्रकारका होता है। उनमेंसे कर्म्मयज्ञके त्रिगुणात्मक भेद नीचे कहे जाते हैं, यथाः—

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

फलाकांक्षारहित व्यक्ति "यज्ञानुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य कर्म्म है" ऐसा विचारकर और परमात्मामें चित्त समर्पण करके जो विधिविहित यज्ञ करते हैं उसे सात्त्विक कहते हैं, किन्तु फल मिलने के उद्देश्यसे अथवा केवल अपने महत्त्वके ख्यापन करनेके अर्थ जो यज्ञ किया जाता है, हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! उस

यज्ञको राजस जानना चाहिये। शास्त्रोक्त विधिसे रहित, सत्पात्रमें अन्नदान शून्य, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धारहित यज्ञको तामसयज्ञ कहते हैं।

कर्म्मयज्ञके यद्यपि छः भेद हैं, यथाः—नित्यकर्म्म, नैमित्तिककर्म्म, काम्य-कर्म्म, अध्यात्मकर्म्म, अधिदैवकर्म्म और अधिभूतकर्म्म जिनका वर्णन हम पहले अध्यायोंमें कर आये हैं; परन्तु कर्म्मयज्ञकी मूलभित्ति साधारणकर्म्म है, अस्तु, कर्म्मके भी त्रिगुणात्मक तीन भेद होना स्वतः सिद्ध हैं, जो नीचे लिखे जाते हैं:—

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥

निष्काम व्यक्तियोंके द्वारा नियमितरूपसे विहित, आसक्तिशून्य और रागद्वेषरहित होकर जो कर्म्म किया जाता है उसे सात्त्विक कर्म्म कहते हैं। फलाकांक्षी वा अहङ्कारयुक्त व्यक्तियोंके द्वारा बहुत आयाससे जो कर्म्म किया जाता है उसको राजस कहते हैं। परिणाममें कर्म्मबन्धन, नाश, परहिंसा और स्वकीय सामर्थ्य इन सबकी पर्य्यालोचना न करके मोहवश जो कर्म्म प्रारम्भ किया जाता है उसको तामस कहते हैं।

जहाँ कर्म्म है वहाँ कर्त्ताका होना स्वतः सिद्ध है अतः गीतामें त्रिगुणात्मक त्रिविध कर्त्ताका निम्नलिखित लक्षण वर्णन किया है:—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते ॥
रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥

आसक्तिशून्य, "अहं" इस अभिमानसे शून्य, धैर्य्य और उत्साहयुक्त, सिद्धि और असिद्धिमें विकारशून्य कर्त्ता सात्त्विक कहा जाता है। विषया-

नुरागी, कर्म्मफलाकांक्षी, लुब्ध, हिंस्र, अशुचि, लाभालाभमें आनन्द और विषाद-युक्त कर्त्ता राजस कहा जाता है। इन्द्रियासक्त, विवेकहीन, उद्धत, शठ, पराप-मानकारी, अलस, विषादयुक्त और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामस कहा जाता है।

उपासनायज्ञके यद्यपि नौ भेद हैं जिनका वर्णन हम पहले अध्यायोंमें कर आये हैं। परन्तु उपासनायज्ञ सम्बन्धीय त्रिगुणात्मक रहस्योंके समझनेके लिये त्रिविधभक्ति, त्रिविधश्रद्धा, त्रिविध उपास्यनिर्णय और त्रिविध उपासकका जानना अवश्य उचित है, उनके प्रत्येकके त्रिगुणात्मक लक्षण शास्त्रानुसार नीचे लिखे जाते हैं :—

उपास्तेः प्राणरूपा या भक्तिः प्रोक्ता दिवौकसः ! ।
गुणत्रयानुसारेण सा त्रिधा वर्त्तते ननु ॥
आर्त्तानां तामसी सा स्याज्जिज्ञासूनाञ्च राजसी ।
सात्त्विक्यर्थार्थिनां ज्ञेया उत्तमा सोत्तरोत्तरा ॥

हे देवगण ! उपासनाकी प्राणरूपा भक्ति कही गई है। वह भक्ति गुणत्रयके अनुसार तीन प्रकारकी है। आर्त्त भक्तोंकी भक्ति तामसी, तामसी जिज्ञासु भक्तोंकी भक्ति राजसी और अर्थार्थी भक्तोंकी भक्ति सात्त्विकी जाननी चाहिये। इन तीन प्रकारकी भक्तियोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी च वुभुत्सवः! ॥
तासां तु लक्षणं विप्राः ! शृणुध्वं भक्तिभावतः ।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया बिशुद्धज्ञानमूलिका ॥
प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिकाऽपरा ।
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता ॥

प्राणियोंकी प्रकृतिके अनुसार श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, यथा :—सात्त्वि-की, राजसी और तामसी। हे धर्म्मतत्त्वके जाननेकी इच्छा करनेवाले विप्रगण ! अब उनके लक्षण भक्तिभावसे सुनो। विशुद्धज्ञानमूलक श्रद्धा सात्त्विकी है, प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसी है और विचारहीनसंस्कारमूलक श्रद्धा तामसी है।

भूतप्रेतपिशाचादीनासुरं भावमाश्रितान् ।
अर्चन्ति तामसा भक्ता नित्यं तद्भावभाविताः ॥

सकामा राजसा ये स्युः ऋषीन् पितॄँश्च देवताः।
बह्वीर्दैवीश्च मे शक्तीः पूजयन्तीह ते सदा॥
केवलं सात्त्विका ये स्युरुपासकवरा भुवि।
त एव ज्ञात्वा मद्रूपं मदुपास्तौ सदा रताः॥
पञ्चानां सगुणानान्ते मद्रूपाणां समाश्रयात्।
मद्ध्यानमग्नास्तिष्ठन्ति अथवा निर्गुणं मम॥
सच्चिदानन्दभावं तं भावं परममाश्रिताः।
मम ध्यानाम्बुधौ मग्ना नन्दन्ति नितरां सुराः!॥

तामसिक भक्त भूत, प्रेत और पिशाचादि आसुरी सम्पत्तियुक्त शक्तियोंकी उपासना तत्तद्भावोंमें भावित होकर नित्य करते हैं। सकाम राजसिकभक्त ऋषि देवता और पितर् एवं मेरी बहुतसी दैवी शक्तियोंकी उपासना सदा करते हैं और हे देवतागण! केवल जो सात्त्विक उपासकश्रेष्ठ पृथिवी पर हैं वे ही मेरे रूपको जानकर सदा मेरी उपासनामें तत्पर रहते हैं। वे मेरे पांच सगुण रूपोंके आश्रयसे मेरे ध्यानमें मग्न रहते हैं अथवा मेरे निर्गुण परम भावरूप उस सच्चिदानन्द भावका आश्रय करके मेरे ध्यानरूप समुद्रमें मग्न होकर अत्यन्त आनन्द उपभोग करते हैं।

यः श्रद्धावान् पुमान् भोगमैहलौकिकमेव हि।
विशेषतः समीहेत दम्भाऽहङ्कारसंयुतः॥
इष्टं वेदविधिं हित्वा मदुपासनतत्परः।
विज्ञेयो लक्षणादस्मात् तामसः स उपासकः॥
यः श्रद्धालुर्विशेषेण पारलौकिकमेव हि।
सुखमिच्छंस्तथा शीलगुणराशियुतो यदि॥
वेदानुसारतः सक्तो मदुपास्तौ सदा नरः।
राजसः स हि विज्ञेय उपासक इति स्मृतिः॥
सात्त्विक्या श्रद्धया युक्तः पुमान् परमभाग्यवान्।
वितृष्णो लौकिकाद्भोगात्तद्वद्वै पारलौकिकात्॥

साधकोऽनन्यया भक्त्या ज्ञातो निरतः सदा।
मदुपास्तौ स विज्ञेयः सात्त्विकोपासको वरः॥

जो श्रद्धावान् मनुष्य ऐहलौकिक भोगकी ही विशेषरूपसे इच्छा करे, दम्भ और अहङ्कारसे युक्त हो और उपयुक्त वेदविधिका त्याग करके मेरी उपासनामें तत्पर हो, इन लक्षणोंसे उस उपासकको तामसिक उपासक जानना चाहिये। जो श्रद्धालु मनुष्य पारलौकिक सुखको ही विशेषरूपसे चाहता हुआ यदि शीलगुणोंसे युक्त होकर वेदविधिके अनुसार सदा मेरी उपासनामें आसक्त रहता है तो उसको राजसिक उपासक जानना चाहिये ऐसा स्मृतिकारोंका मत है। जो परमभाग्यवान् साधक मनुष्य सात्त्विकी श्रद्धासे युक्त होकर ऐहलौकिक और पारलौकिक भोगोंकी तृष्णासे रहित होता हुआ ज्ञानपूर्व्वक अनन्य भक्तिसे मेरी उपासनामें सदा तत्पर रहता है उसको श्रेष्ठ सात्त्विक उपासक जानना चाहिये।

कर्म्मयज्ञ और उपासनायज्ञके अनुरूप ज्ञानयज्ञके भी त्रिगुणात्मक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं। अस्तु, ज्ञानयज्ञके सम्बन्धमें त्रिगुणात्मक ज्ञान, त्रिगुणात्मक बुद्धि, त्रिगुणात्मक धृति, त्रिगुणात्मक प्रतिभा, त्रिगुणात्मक श्रवण मनन और निदिध्यासनके भेद त्रिगुणरहस्यके समझनेके अर्थ शास्त्रोंसे अलग-अलग नीचे यथाक्रम लिखे जाते हैं:—

सर्व्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्व्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्॥

जिसके द्वारा विभक्तरूप सब भूतोंमें अविभक्त एक और विकारहीन भाव अवलोकित होता है उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञानमें पृथक्रूपसे सब भूतोंमें पृथक् पृथक् प्रकारके नानाभाव जाने जायँ उस ज्ञानको राजसिक ज्ञान कहते हैं; किंतु जो एक ही कार्य्यमें परिपूर्णवत् आसक्त (यह देह ही आत्मा है वा यह प्रतिमा ही ईश्वर है इस प्रकारका ज्ञान) हेतु-

शून्य, परमार्थावलम्बनहीन और अल्प अर्थात् तुच्छ ज्ञान है उसको तामस ज्ञान कहते हैं ।

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥
यया धर्म्ममधर्म्मञ्च कार्य्यञ्चाकार्य्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥
अधर्म्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्व्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥

हे पार्थ ! प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य्य, अकार्य्य, भय, अभय बन्ध और मोक्ष, जिसके द्वारा जाने जाते हैं, उसको सात्त्विकी बुद्धि कहते हैं । हे पार्थ ! जिसके द्वार धर्म अधर्म और कार्य्य अकार्य्य यथावत् परिज्ञात न हो उसको राजसी बुद्धि कहते हैं । हे पार्थ ! जो बुद्धि अधर्म्मको धर्म्म मानती है और सब विपरीत देखती है उस तमोगुणाच्छन्न बुद्धिको तामसी बुद्धि कहते हैं ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥
यया तु धर्म्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ! ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥

हे पार्थ ! सद्गुरुके उपदिष्ट योगके द्वारा विषयान्तर धारण न करनेवाली जिस धृतिके द्वारा मन प्राण और इन्द्रियोंकी क्रिया धारण की जाती है अर्थात् नियमन होती है उस धृतिको सात्त्विकी धृति करते हैं । हे पार्थ अर्जुन ! जिस धृतिके द्वारा लोग धर्म्म अर्थ और कामको प्रधानरूपसे धारण करते हैं एवं प्रसङ्गवश फलाकाङ्क्षी होते हैं उस धृतिको राजसी कहते हैं । हे पार्थ ! बिवेकविहीन व्यक्ति जिसके द्वारा निन्द्रा, भय, क्रोध, विषाद और अहङ्कारका त्याग नहीं कर सकते हैं वही तामसी धृति है ।

स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा।
प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः॥
द्रष्टुर्दृश्यस्योपलब्धौ क्षमा चेत्प्रतिभा तदा।
सात्त्विकी सा समाख्याता सर्व्वलोकहिते रता॥
यदा शिल्पकलायां सा पदार्थालोचने तथा।
प्रसरेद्राजसी ज्ञेया तदा सा प्रतिभा बुधैः॥
साधारणं लौकिकं चेत्सदसद्विमृशेत्तदा।
तामसी सा समाख्याता प्रत्युत्पन्नमतिश्च सा॥

स्मृतिका अतीत विषयोंसे सम्बन्ध है और बुद्धि आगामि विषयोंमें कार्य्यकरी है। नवीन नवीन ज्ञानविज्ञानोंको उद्भव करनेवाली प्रज्ञाको प्रतिभा कहते हैं। जब द्रष्टा और दृश्यकी उपलब्धिमें प्रतिभा समर्थ होती है तब सर्व्वलोकके हितमें तत्पर वह प्रतिभा सात्त्विकी कही जाती है। जब वह शिल्पकला और पदार्थोंकी आलोचनामें प्रसारको प्राप्त होती है, तब उस प्रतिभाको बुधगण राजसी प्रतिभा कहते हैं और जब वह साधारण लौकिक सत् असत्का विचार करे तो उसको तामसी प्रतिभा कहते हैं और वही प्रत्युत्पन्नमति है।

श्रवणं मननं तद्वन्निदिध्यासनमेव च।
एतत्त्रितयरूपो यः पुरुषार्थ इहोच्यते॥
निवृत्तिमूलकं भूत्वा सक्तं ब्रह्मनिरूपणे।
यदा चेत्त्रितयं सर्व्वं तदा तत्सात्त्विकं मतम्॥
यदा तत्त्रयमुत्पत्तिस्थित्यत्ययस्वरूपिणी।
भावे भावं समासाद्य द्वैतरूपं निषेवते॥
तदा तं राजसं देवाः! पुरुषार्थं प्रचक्षते।
यो हि नास्तिकतामूलः स तामस उदाहृतः॥

श्रवण मनन और निदिध्यासन यह जो त्रितयरूप पुरुषार्थ कहा जाता है वह त्रितयरूप पुरुषार्थ जब निवृत्तिमूलक होकर ब्रह्मके निरूपणमें लगता है तब वह सात्त्विक माना जाता है। हे देवतागण! जब उत्पत्ति,

स्थिति और लयस्वरूप भावमें भावित होकर द्वैतरूप प्राप्त होता है, तब उस त्रितयरूप पुरुषार्थको राजसिक कहते हैं और जो नास्तिकतामूलक त्रितयरूप पुरुषार्थ है वह तामसिक कहा गया है।

त्रिगुणकी व्यापकता धर्म्माङ्गोंके साथ किस प्रकारसे है सो ऊपर विस्तारित रूपसे दिखाया गया है, अब स्थूलातिस्थूल भोजनके साथ त्रिगुणका सम्बन्ध किसप्रकार से पाया जाता है सो शास्त्रीय वचनोंसे नीचे दिखाया जाता है।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

आयु, सात्त्विकभाव, शक्ति, आरोग्य, चित्तप्रसाद और रुचिके बढ़ानेवाले, रसयुक्त एवं स्नेहयुक्त, जिनका सारांश देहमें स्थायीरूपसे रहे और चित्तके परितोष करनेवाले आहार सात्त्विक पुरुषोंके प्रिय होते हैं। अतिकटु, अतिअम्ल, अतिलवण, अत्युष्ण, अतितीक्ष्ण, अतिरूक्ष, अतिविदाही, ये सब दुःख, सन्ताप और रोगप्रद द्रव्य राजसिक व्यक्तियोंके प्रिय आहार हैं। शैत्यावस्थाप्राप्त, विरस, दुर्गन्ध, पूर्व्वदिनपक, अन्यव्यक्तिका भुक्तावशिष्ट और अखाद्य जो आहार हैं, वे तामसिक व्यक्तियोंके प्रिय होते हैं।

जीवकी प्रवृत्ति सब कामोंमें सुखके कारण होती है। जीव सुखका भूखा है। जीवके सब पुरुषार्थोंका मूलकारण सुख है। वह सुख भी किस प्रकारसे त्रिगुणात्मक है सो नीचे कहा जाता है।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्॥
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्॥
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ॥
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।

जिस सुखमें सद्गुरूपदेशके द्वारा अभ्यास करनेसे परमानन्दका लाभ होता है और दुःखका अन्त होजाता है वह अनिर्वचनीय, आदिमें विषवत् किन्तु परिणाममें अमृततुल्य और आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुख सात्त्विक कहा जाता है। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे आदिमें अमृततुल्य किन्तु परिणाममें विषतुल्य सुख राजसनामसे कहा जाता है। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न आदि और अन्तमें चित्तमें मोह उत्पन्न करनेवाला जो सुख है उसे तामस कहते हैं।

विना त्यागके शान्ति नहीं। त्यागही निवृत्तिका बीजमन्त्र है। त्यागही मुक्तिका कारण है। उस त्यागके त्रिगुणात्मक होनेके विषयमें शास्त्रोंमें निम्न लिखित लक्षण कहे हैं।

कार्य्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन!।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विकः स्मृतः॥
दुःखमित्येव यत्कर्म्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥
नियतस्य तु सन्न्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः॥

हे अर्जुन! इन्द्रियसङ्ग और फलका त्याग करके "कर्त्तव्य" जानकर जो नित्यकर्म्म किया जाता है ऐसे त्यागको सात्त्विक त्याग कहते हैं। जो व्यक्ति "दुःख होता है" ऐसा जान कर दैहिक क्लेशके भयसे कर्म्मत्याग करता है वह राजस त्याग करके त्यागका फल नहीं प्राप्त करता है। नित्यकर्म्मका त्याग नहीं करना चाहिए, मोहवश जो नित्य कर्म्मका त्याग होता है उसे तामस त्याग कहते हैं।

त्रिगुणकी व्यापकसत्ता वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंमें समानरूपसे विद्यमान है इसी कारण श्रीभगवान्‌ने कहा है कि:—

त्रैगुण्यविषया वेदाः।

अस्तु, वेद और वेदसम्मत सब शास्त्रोंमें त्रिगुणात्मक रोचक भयानक

और यथार्थ अनुशासन वाक्य और परकीयभाषा लौकिकभाषा और समाधि-भाषारूपी वर्णनशैली किस प्रकारसे पायी जाती है उसके विस्तारित लक्षण नीचे कहे जाते हैं ।

वेदेष्वथ पुराणेषु तन्त्रेऽपि श्रुतिसम्मते ।
भयानकं रोचकं हि यथार्थमिति भेदतः ॥
वाक्यानि त्रिविधान्याहुस्तद्विदो मुनयः पुरा ।
दत्तावधानाः शृणुत तत्राऽस्त्येवं व्यवस्थितिः ॥
पापादज्ञानसम्भूताद्विषयाद्भीतिकृद्वचः ।
भयानकमितिप्राहुर्ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
सुकृतेऽध्यात्मलक्ष्ये च रुचिकृद्वचनं सुराः ! ।
रोचकं तद्धि विज्ञेयं श्रुतौ तन्त्रपुराणयोः ॥
अध्यात्मतत्त्वसंश्लिष्टं तत्त्वज्ञानोपदेशकम् ।
वचो यथार्थं संप्रोक्तं यूयं जानीत निर्जराः ॥
भयानकं वचो नित्यं तामसायाऽधिकारिणे ।
रोचकं राजसायैव यथार्थं सात्त्विकाय हि ॥
विशेषतो हितकरं विज्ञेयं विबुधोत्तमाः ! ॥

वेद, पुराण और श्रुतिसम्मत तन्त्रोंमें भयानक, रोचक और यथार्थ इन भेदोंसे मुनियोंने पुराकालमें तीन प्रकारके वाक्य कहे हैं। हे देवगण ! चित्त लगाकर सुनिये, इस विषयमें वक्ष्यमाण प्रकारसे व्यवस्था की गई है। पापसे और अज्ञानसम्भूत विषयसे डर दिखलानेवाले जो वचन हैं तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण उनको भयानक कहते हैं। हे देवगण ! पुण्यमें और अध्यात्म लक्ष्यमें रुचि उत्पन्न करानेवाले जो वचन वेद तन्त्र और पुराणोंमें हैं उनको रोचक जानना चाहिये। अध्यात्मतत्त्वसे संश्लिष्ट और तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेवाले वचनोंको हे देवगण ! यथार्थ वचन कहते हैं ऐसा आप जानिये। हे विबुधोत्तमो ! भयानक वचन सदा ही तामसिक अधिकारीके लिये, रोचक वचन राजसिक अधिकारीके के लिये और यथार्थ वचनन सात्त्विक अधिकारीके लिये विशेषरूपसे हितकर हैं ऐसा जानना चाहिये।

श्रुतो पुराणे तन्त्रे च त्रिधा वर्णनरीतयः।
दृश्यन्ते क्रमशः सर्व्वास्ता वच्मि भवतां पुरः॥
समाधिभाषा प्रथमा लौकिकी च तथाऽपरा।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता॥
इतिहासमयी शश्वत्कर्णयोर्मधुराऽमला।
मनोमुग्धकरी तद्वच्चित्ताह्लादविवर्द्धिनी॥
धर्म्मसिद्धान्तसंयुक्ता समासबहुला न हि।
ज्ञेया सा परकीयेति शास्त्रवर्णनपद्धतिः॥
इमामज्ञानिने तद्वत्तामसायाऽधिकारिणे।
विशेषतो हितकरीमाहुस्तत्त्वदर्शिनः॥
अतीन्द्रियाऽध्यात्मराज्यस्थितं विषयगह्वरम्।
लौकिकीं रीतिमाश्रित्य वर्णयेद्याऽतिसंस्फुटम्॥
तथा समाधिगम्यानां भावनां प्रतिपादिका।
सम्पूर्णा लौकिकैस्तद्वद्रसैर्भाषाऽस्ति लौकिकी॥
इयं राजसिकायैव पुरुषायाऽधिकारिणे।
सूतेऽधिकं सदा भव्यं सत्यं सत्यं दिवौकसः!॥
प्रकाशयति या ज्ञानं कार्य्यकारणब्रह्मणोः।
समाधिसिद्धभावैर्या सम्पूर्णा सर्व्वतस्तथा॥
तत्त्वज्ञानमयी तद्वद्या हि वर्णनपद्धतिः।
ज्ञेया समाधिभाषा सा सात्त्विकायोपकारिका॥

वेद पुराण और तन्त्रोंमें तीन प्रकारकी वर्णनशैलियां देखी जाती हैं उन सबोंका आप लोगोंके सामने मैं क्रमशः वर्णन करता हूँ। पहली समाधिभाषा दूसरी लौकिकभाषा और तीसरी परकीयभाषा, इस प्रकारसे शास्त्रकी भाषा तीन प्रकारकी स्मृतिमें कही गई है। जिसमें निरन्तर इतिहास आवें, जो निर्मल और श्रुतिमधुर हो, जो मनको लुभानेवाली और इसी तरह चित्तको आह्लाद

करनेवाली हो, जो धर्म्मसिद्धान्तोंसे युक्त हो और जिसमें जटिलता न हो उस शास्त्रवर्णनकी पद्धतिको परकीया जानना चाहिये। इस पद्धतिके तत्त्वदर्शीगण इसको अज्ञानीके लिये और इसी तरह तामसिक अधिकारीके लिये विशेष हितकारी कहते हैं। अतीन्द्रिय अध्यात्मराज्यमें स्थित गूढ़ विषयको लौकिकरीतिका आश्रय लेकर जो अच्छी तरह वर्णन करे तथा समाधिगम्य भावोंकी प्रतिपादिका हो और इसी तरह लौकिक रसोंसे भी पूर्ण हो उस भाषाको लौकिकीभाषा कहते हैं। हे देवगण! यह भाषा राजसिक अधिकारवाले पुरुषकेलिये अधिक कल्याण पैदा करती है, यह सत्य है सत्य है। जो भाषा कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्मके ज्ञानको प्रकाशित कर देती है, जिस भाषामें सर्वत्र समाधिसिद्ध भाव पूर्ण हों और इसी तरह जो वर्णनपद्धति तत्त्वज्ञानमयी हो उसको समाधिभाषा जानना चाहिये। यह सात्त्विक अधिकारीके लिये हितकरी है।

जगद्धारक धर्म्मके सब अङ्ग किस प्रकार सत्त्व रज और तम इन तीनों गुणोंमें विभक्त हैं सो ऊपरके वर्णनमें भली भांति प्रकट किया गया है। संसारमें त्रिगुणके सम्बन्धसे रहित छोटीसे छोटी वस्तुसे लेकर बड़ीसे बड़ी वस्तु पर्य्यन्त कुछ भी नहीं है। यहाँ तक कि अहङ्कारसे ही जीवका जीवत्व प्रमाणित होता है, वह अहङ्कार भी त्रिगुणात्मक है। मैं देही हूँ अर्थात् मैं सुन्दर हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं राजा हूँ इत्यादि अभिमान तथा मैं गुणी हूँ अर्थात् मुझमें अमुक अमुक गुण हैं, ऐसा अभिमान, ये सब तामसिक अभिमान कहाते हैं। तामसिक अभिमान जीवको बन्धनदशामें बराबर रोक रखता है। मैं शक्तिशाली हूँ और मैं ज्ञानवान् हूँ यह अभिमान राजसिक अभिमान है राजसिक अभिमानद्वारा जीवकी क्रमोन्नति होती है; क्योंकि अपनी शक्तियोंको और अपने ज्ञानको धर्म्मसे मिलाकर काममें लानेसे जीवकी ऐहलौकिक और पारलौकिक उन्नति हुआ करती है और मैं मुक्त हूँ और ब्रह्म हूँ यह अभिमान सात्त्विक अभिमान है। सात्त्विक अभिमानसे जीवकी मुक्ति होती है, क्योंकि तत्त्वज्ञानकी सहायतासे जब तत्त्वज्ञानी महापुरुष यह धारणा करने लगता है कि मैं मुक्तात्मा हूँ, मैं सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ तब यही धारणा उसको धारणाभूमिसे क्रमशः ब्रह्मध्यानभूमिमें और ब्रह्मध्यानभूमिसे समाधिभूमिमें पहुँचा कर मुक्तिपद प्रदान कराती है। इसी अवस्थाको शास्त्रकारोंने जीवन्मुक्ति कहा है, अतः निष्कर्ष यह है कि जीवदशामें जो जीवत्वका प्रधान कारण अहङ्कार

है वह अहङ्कार निम्न श्रेणीके जीवसे लेकर जीवन्मुक्तदशा पर्य्यन्त व्यापक रहता हुआ तीन गुणोंसे रहित नहीं है।

संसारकी जड़ और चेतनात्मक कोई वस्तु भी त्रिगुणसे अतीत नहीं होसकती। उदाहरणकेलिये कुछ विशेष विशेष वस्तुओंका विचार किया जाता है। स्थूल जड़पदार्थ पत्थरका उदाहरण ग्रहण किया जाय। पत्थर कई तरहसे बनता है। यद्यपि अधिदैवरहस्यपूर्ण हिन्दूशास्त्रमें सब जड़ और चेतनात्मक वस्तुओंके उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाले तथा परिचालक देवता ही माने गये हैं और प्रस्तर और पर्वत अभिमानी देवता भी अवश्य हैं; तथापि पत्थरके स्थूलत्वके परिणामके साथ तीनों गुणोंका अवश्यही सम्बन्ध माना जायगा। पत्थरकी उत्पत्ति पदार्थविद्याके अनुसार कई तरहसे मानी गई है; यथा-बालू और मिट्टी आदिसे क्रमशः तडित् शक्ति आदि की सहायतासे पत्थर बनना, विशेष विशेष रसादिकी सहायतासे पत्थर बनना, जैसे-हड्डी और लकड़ी आदि क्रमशः कदाचित् पत्थर बन जाते हैं और आग्नेय प्रस्रवण आदिकी सहायतासे द्रवीभूत नाना पदार्थोंका क्रमशः प्रस्तराकार धारण करना। प्रस्तरकी यह सब दशा राजसिक दशा है। जब तक इन नाना प्रकारकी श्रेणियोंके पत्थर अपने यथार्थ स्वरूपमें स्थित रहते हैं तब तक वह प्रस्तरकी दशा सात्त्विक कहाती है और जब पत्थरके परमाणुओंमें देश और कालके प्रभावसे शिथिलता दिखाई पड़ती है और वह पत्थर घिसने लगता है या गलने लगता है तब पत्थरकी वह तामसिक दशा समझी जायगी। इसी प्रकार जीवदेहकी बाल्य और कौमार दशा है वह राजसिक दशा, यौवन और प्रौढ़ दशा सात्त्विक दशा और वृद्ध और जरा अवस्था है वह तामसिक दशा है ऐसा मान सकते हैं। इसी शैलीपर सब जड़ पदार्थोंमें तीनों गुणोंका अधिकार और तीनों गुणोंका स्वरूप समझने योग्य है।

चेतनराज्यमें तीनों गुणोंका अधिकार कुछ और ही बिचित्र रूपसे प्रकट होता है। चिज्जडग्रन्थिकी उत्पत्ति होकर उद्भिज्जयोनिमें जब चेतनमय जीव प्रथम प्रकट होता है तबही यद्यपि जीवत्वकी उत्पत्ति होती है, जिसका विस्तारित वर्णन हम जीवतत्त्व नामक अध्यायमें भली भाँति कर आये हैं, परन्तु जीवशरीरोत्पत्तिके विचारसे वह राजसिक दशा होनेपर भी जीवत्वभावकी वह तामसिक दशा मानी गई है। शास्त्रकारोंने यह निर्णय किया है कि जड़पदार्थोंका लय जिसप्रकार तमोगुणकी सहायतासे हुआ करता है

उसीप्रकार चेतनराज्यका अधिकारी जीव क्रमशः सत्त्वगुणकी सहायतासे मुक्तिको प्राप्त होता है। उसी वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार उद्भिज्ज स्वेदज अण्डज और जरायुज इन चारों योनियोंकी जो क्रमाभिव्यक्ति है वह उसकी तामसिक दशा है, मनुष्ययोनिकी दशा राजसिक है और तत्त्वज्ञानी अथवा जीवन्मुक्तकी दशा सात्त्विक है। यह हम पूर्व अध्यायोंमें कह चुके हैं कि भगवान्‌की षोडश कलाओंमेंसे वृक्ष आदि उद्भिज्जोंमें केवल एक कलाका विकाश होता है, स्वेदजमें दो कला, अण्डजमें तीन कला, जरायुजमें चार कला और पूर्णावयव मनुष्यमें ही षोडश कलाओंका विकाश हो सकता है, जिनमेंसे आठ कलापर्य्यन्त विभूति और षोड़शकलापर्य्यन्त अवतार संज्ञा मानी गई है। उसी शैलीपर उद्भिज्जमें केवल अन्नमयकोषका विकाश होता है. स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय कोषका, अण्डजमें अन्नमय और प्राणमय मनोमय कोषका, जरायुजमें अन्नमय प्राणमय मनोमय और विज्ञानमय कोषका और मनुष्यमें ही अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय और आनन्दमयरूप पांचों कोषोंका विकाश हो जाता है। मनुष्यके अतिरिक्त प्राणियोंमें असम्पूर्णता रह जानेसे वे अपने अपने धर्म्मका पालन करनेमें अथवा आहार निद्रा भय मैथुनादि वृत्तियोंके चरितार्थ करनेमें स्वाधीन नहीं हैं इसीकारण मनुष्यके अतिरिक्त सब प्राणियोंकी दशा तामसिक दशा है ऐसा मानना ही पड़ेगा। मनुष्ययोनिमें असभ्य किरात आदिनिम्नश्रेणीसे लेकर सभ्य आर्य्यजातिकी जो उन्नत दशा है, ये सब जीवकी राजसिक दशा है क्योंकि इस राजसिक दशामें मनुष्य अपने स्वधर्म्मके पालन और ज्ञानोन्नति द्वारा क्रमोन्नति करता रहता है और तत्त्वज्ञानी महापुरुष और मूर्तिमान् ब्रह्म जीवन्मुक्तकी जो दशा है वही जीवकी सात्त्विक दशा है क्योंकि जीवकी मुक्ति सत्त्वगुणकी पूर्णतासे होती है। तात्पर्य्य यह है कि जीवमें जितना सत्त्वगुण बढ़ता जायगा उतना वह धर्म्मराज्यमें उन्नति करता हुआ अग्रसर होता जायगा और अन्तमें सत्त्वगुणकी पूर्णतामें पहुँचकर मुक्तिपदका अधिकारी हो जायगा।

एक ब्रह्माण्डमें जिस प्रकार द्वन्द्वके सम्बन्धसे त्रिगुणका स्वरूप प्रकट होता है उसी प्रकार पिण्डरूपी मनुष्य देहमें भी त्रिगुणका सम्बन्ध प्रकाशित हुआ करता है। ब्रह्माण्डमें आकर्षणविकर्षणरूपी प्राण क्रियासे त्रिगुणका सम्बन्ध प्रकट होता है और पिण्डरूपी मनुष्यदेहमें द्वन्द्ववृत्तिके सम्बन्धसे गुणत्रयकी क्रिया प्रतिक्षण प्रकट हुआ करती है। एक सूर्य्यसे सम्बन्ध युक्त जितने ग्रह-

उपग्रह हैं उस सूर्य्यके सहित वे सब मिलकर एक ब्रह्माण्ड कहाते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डके प्राणमय स्वरूपके साथ आकर्षण और विकर्षण शक्तिका सम्बन्ध है। इन दोनों शक्तियोंके समन्वयसे ही ब्रह्माण्डकी स्थिति बनी रहती है। यही स्थिति-अवस्था ही सत्त्वगुणकी अवस्था है। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें आकर्षणकी दशा रजोगुणकी है और विकर्षणकी दशा तमोगुणकी है। आकर्षण-शक्तिद्वारा परमाणुपुञ्ज आपसमें खिंचते हैं और इसी राजसिक-क्रियाद्वारा ब्रह्माण्डकी सृष्टिक्रियाका कार्य्य परिचालित होता है। एक ब्रह्माण्डकी आदि सृष्टिमें पूर्वप्रलयप्राप्त परमाणुसमूह इसी आकर्षण शक्तिके द्वारा क्रमशः एकत्रित होते हुए सूर्य्य ग्रह उपग्रह आदिकी सृष्टि कर डालते हैं और भविष्यत्में यही आकर्षणक्रिया ही क्रमसृष्टिकी कारण होती है। विकर्षणकी क्रिया विपरीत है, विकर्षण द्वारा परमाणुसमूह एक दूसरेसे अलग होने लगते हैं। यही तामसिक क्रिया ब्रह्माण्डके प्रलयकी कारण होती है। जड़पदार्थ—एक सूखी लकड़ी—अथवा एक पत्थरके टुकड़ेसे लेकर सब ग्रह उपग्रह तकमें यही विकर्षणरूपी तामसिक क्रिया उनके प्रलयकी कारण होती है; परन्तु जब आकर्षण और विकर्षणरूपी दोनों क्रियाएँ अपनी अपनी शक्ति धारण करती हुई भी समशक्ति-विशिष्टताको प्राप्त होती हैं वही आकर्षण और विकर्षणका समन्वय सब जड़पदार्थोंकेलिये उनकी स्थितिका कारण होता है।

मनुष्यशरीररूपी पिण्डमें यही आकर्षण और विकर्षणशक्ति राग और द्वेष नामसे अभिहित होती है। रागवृत्ति राजसिक है और द्वेषवृत्ति तामसिक है, दोनोंके समन्वयसे ही सत्त्वगुणका उदय होता है। इसीकारण रागद्वेषसे विमुक्त जीवन्मुक्त महापुरुषोंके अन्तःकरणमें सदा सत्त्वगुणकी पूर्णता विराजमान रहती है। तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुष जब कभी परोपकार-वृत्तिके कारण अथवा जगत्कल्याण-बुद्धिसे राग अथवा द्वेषके कार्य्य करते हुए बाहरसे प्रतीत होते हैं; परन्तु उनके चित्तमें वासना और स्वार्थका अभाव होनेके कारण उक्त राजसिक रागसम्बन्धीय शारीरिक कार्य्य अथवा तामसिक द्वेषसम्बन्धीय शारीरिक कार्य्यका विशेष धक्का न पहुँचनेसे ज्ञानी महापुरुषका अन्तःकरण रज या तमके धक्केसे तरङ्गायित नहीं होता; सुतरां उनका अन्तःकरण रागद्वेषसे पृथक् रहकर सत्त्वगुणकी पूर्णतासे च्युत नहीं होता और जहां सत्त्वगुणकी पूर्णता होती है वहाँ आत्माके निर्विकार स्वरूपका अभाव नहीं होने पाता। यही मनुष्यरूपी पिण्डमें आकर्षण विकर्षणरूपी रागद्वेषका समन्वय कहा गया

है। बद्ध अज्ञानी जीवमें भी जब जब अपने आप अथवा वैराग्य और अभ्यास द्वारा अथवा—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया"

आदि भगवद्वचनोंके अनुसार गुरुकृपा प्राप्त होनेसे अथवा सत्सङ्ग और सत्चर्चाद्वारा रागद्वेष वृत्तिका समन्वय अपने आप ही थोड़ी देरके लिये हो जाता है, तभी उसमें आकर्षण विकर्षणका समन्वय होकर सत्त्वगुणका उदय होने लगता है। इस सात्त्विक दशामें मनुष्यका चित्त ठहर जाता है, उसके चित्तमें शान्ति विराजमान रहती है, उसके अन्तःकरणमें ब्रह्मानन्दका अनुभव होता है और उस समयके लिये वह काम, क्रोध और मोह आदिसे विमुक्त होकर गुरु और इष्टभक्ति, शास्त्रोंपर श्रद्धा, धर्ममें अभिरुचि और मानसिक बल आदिका अधिकारी हो जाता है। जिसप्रकार आकर्षण और विकर्षणके समन्वयसे ग्रह आदि विराट् देहोंमें सत्त्वगुणका आविर्भावरूपी रक्षाका कार्य्य बना रहता है ठीक उसीप्रकार पिण्डरूपी मनुष्यदेहमें रागद्वेषके समन्वयसे जीवका ज्ञानाधिकार और उसमें ब्रह्मानन्दकी स्थिति प्रकट हो जाती है। आध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा करनेवाले उन्नत अधिकारियोंमें इसी अवस्थाकी प्राप्तिकी इच्छा सदा बनी रहती है।

मनुष्यकी, और यहां तक कि जीवमात्रकी सब वृत्तियाँ राग और द्वेषमूलक होती हैं; क्योंकि राग और द्वेषमूलक रजोगुण और तमोगुणही जीवको फसाये रहते हैं। पुत्र कन्यादिमें माता पिता स्नेहरज्जुद्वारा क्यों फसते हैं? रजोमूलक रागवृत्ति द्वारा। शत्रुकी शत्रुताको न भूलकर मनुष्य क्रोधादि वृत्तियोंके द्वारा क्यों चलायमान होते हैं? तमोमूलक द्वेषवृत्ति द्वारा। प्रेमिकके द्वारा प्रेमिकाको अथवा प्रेमिकाके द्वारा प्रेमिकको प्रेमके प्रतिदानरूपसे कुछ फल न मिलने परभी, अपिच प्रेमिकके द्वारा प्रेमिकाको अथवा प्रेमिकाके द्वारा प्रेमिकको स्वार्थपरता, विश्वासघात, निष्ठुरता, कपट आदि नारकी व्यवहारसे घोर क्लेश पहुँचनेपर भी वे अपनी प्रेमसे उत्पन्न कोमल वृत्तियोंको क्यों नहीं छोड़ सक्ते? इसका कारण रजोगुणमूलक और मोहसे आच्छन्न रागही है। दूसरी ओर धर्माधर्मका ज्ञान करानेपर भी, इहलोक और परलोकका भय होजानेपर भी और सत्सङ्ग द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार होजानेपर भी पूर्व्व शत्रुताकारी व्यक्तियोंपरसे जिघांसाप्रवृत्ति क्यों नहीं हट जाती? इसका कारण तमोगुणमूलक और अज्ञानसे आच्छन्न द्वेष ही है। सांसारिक प्रवृत्तिमार्गगामी व्यक्ति-

को इन्द्रियभोगमें सुखका अनुभव क्यों होता है? रजोमूलक आकर्षणकारी रागवृत्ति ही इसका कारण है। दूसरी ओर संसारविरागी तपस्वीको उन्हीं इन्द्रियभोगोंमें दुःखकी प्रतीति क्यों होती है? तमोमूलक विकर्षणकारी द्वेषवृत्तिही इसका कारण है। मनुष्य जिसको अपना आत्मीय मान लेता है उसके संयोगमें परमानन्दका अनुभव क्यों करता है? रजोमूलक तथा आकर्षणकारी रागही इसका कारण है। दूसरी ओर जिसको उसने अपना परम आत्मीय समझ रक्खा था उसीके वियोगके भयसे अथवा वियोगसे वह व्यक्ति मूर्च्छित क्यों हो जाता है? तमोमूलक तथा विकर्षणकारी वियोगजनित द्वेषही इसका कारण है।

राजा चाहे विदेशी हो, राजा चाहे विधर्म्मी हो और राजा चाहे बलशाली न भी हो परन्तु यदि वही राजा अपनी प्रजाकेलिये अपने स्वार्थकी न्यूनता कर सकता हो, धनलोलुप न हो, प्रजावत्सल हो, न्यायपरायण हो और अत्याचारी न हो तो ऐसे राजापर अधिकृत प्रजाका प्रेम स्वतः ही क्यों हो जाता है? रजोमूलक आकर्षणकारी रागवृत्ति ही इसका कारण। राजभक्ति धर्म्मका एक प्रधान अङ्ग होनेपर भी स्वार्थपर, धनलोलुप प्रजावात्सल्यरहित, न्यायविहीन और अत्याचारी राजापरसे प्रजाका प्रेम क्यों अन्तर्हित हुआ करता है? तमोमूलक विकर्षणकारी द्वेषवृत्तिही इसका कारण है।

अस्तु, मनुष्यके अन्तःकरणमें साधारणतः दो श्रेणीकी वृत्तियाँ होती हैं, एक तो रागसे उत्पन्न हुई श्रेणी और एक द्वेषसे उत्पन्न हुई श्रेणी। रागकी श्रेणीकी सब वृत्तियां आकर्षणमूलक होनेसे राजसिक हैं और द्वेषकी श्रेणीकी सब वृत्तियाँ बिकर्षणमूलक होनेसे तामसिक हैं और जब मनुष्यका अन्तःकरण राग और द्वेषके समन्वयको प्राप्त होता है उस समयकी जो वृत्तियाँ होती हैं वे सत्त्वगुणमूलक होती हैं। ज्ञानप्रधान वृत्तियाँ, शान्तिप्रधान वृत्तियाँ, वसुधाको अपने कुटुम्बके समान समझकर मनुष्यलोकके ऐहलौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी निष्काम वृत्तियां आदि सब सत्त्वगुणमूल वृत्तियां हैं; क्योंकि इन सब वृत्तियोंमें रागद्वेषका समन्वय स्थापित होता है।

उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, इन चार प्रकारके भूतग्राममें भी त्रिगुणके अनुसार सृष्टिवैचित्र्य है। सनातनधर्म्मके आयुर्वेदशास्त्रने इन्हीं गुणोंकी परीक्षा करके औषधियोंका निर्णय किया है। विशेषतः उत्पत्तिमें सहायक, प्राण-

शक्तिप्रदान करनेवाले और ओषधि फल आदि उत्पन्न करनेवाले वृक्ष लता गुल्म आदि राजसिक हैं; क्योंकि शास्त्रोंमें कहा है कि जीव अन्नकी सहायतासे ही पिता माताके शरीरमें प्रवेश करता है, अन्नशक्ति उसीको कहते हैं कि जो ओषधि फल आदिमें रहती है और जो जीवशरीरमें प्राणक्रियाकी उत्पत्तिका कारण होती है। भूतसमूहकी रक्षा करनेवाले उद्भिज्ज सात्त्विक और उनके नाश करनेवाले उद्भिज्ज तामसिक हैं। सात्त्विक उद्भिज्जोंके द्वारा ही प्रायः कायाकल्प और योग-सिद्धि आदि प्राप्त होती हैं। विषाक्त उद्भिज्ज प्रायः तामसिक होते हैं। स्वेदजसृष्टिमें भी गुणका लक्षण स्पष्ट दिखाई देता है। जो स्वेदजसृष्टि मारी भय और नानारोगादि उत्पन्न करती है वह तामसिक है, जो उनको नाश करके भूतग्रामकी रक्षा करती है वह सात्विक है और जीव-शरीरमें सदा रहनेवाले और जीव-शरीरका स्वास्थ्य ठीक रखनेवाले तथा रजोवीर्य्य आदिके जो स्वेदज जीव हैं, वे राजसिक हैं ऐसा मानना पड़ेगा, इसीकारण ऐसे राजसिक स्वेदज जीवोंकी नित्यक्रिया जीवदेहमें अणुवीक्षणयन्त्रद्वारा देखनेमें आती है। अण्डज और जरायुज जीवोंमें त्रिगुणके अनुसार तीन श्रेणीके जीव स्पष्ट ही दिखाई देते हैं। अण्डज सृष्टिके उदाहरणमें सर्पादि तामसिक, मयूर आदि सात्त्विक और मधुमक्षिका आदि राजसिक हैं ऐसा मानना पड़ेगा। इसीप्रकारसे जरायुज सृष्टिमें उदाहरणके तौर पर गोजातिको सात्त्विक, सिंहजातिको राजसिक और वानर-जातिको तामसिक समझ सकते हैं। इस उदाहरणमें कदाचित् सन्देह हो इस कारण विज्ञानांशको कुछ स्पष्ट किया जाता है। गौजातिको सात्त्विक कहना तो सर्व्ववादिसम्मत है क्योंकि गोजातिका शरीर-सृष्टिरक्षाके लिये माताके तुल्य है। सिंहजातिको राजसिक इसलिये कहा जाता है कि सिंह भूतग्रामकी सृष्टिमें सहायक है। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने कहा है कि सृष्टिके सामञ्जस्यकी रक्षा करनेमें सिंहादि प्रधान हैं। यदि सिंह न हो तो मृग आदि उद्भिज्जभोजी जीवोंके नाश द्वारा अमृतवत् वनौषधियोंकी रक्षा नहीं हो सकती थी; इसी कारण सिंह वनका राजा कहाता है, विशेषतः शौर्य्य, वीर्य्य आदि गुण तो सिंहके प्रत्यक्ष ही हैं। वानरजातिका तमोगुण तो सर्व्ववादि-सम्मत है। औषधि, फलादिका नाश करना, मनुष्यको क्लेशप्रदान, अति-मैथुन, अतिमोह, अतिलोभ आदि वानरजातिके तामसिक होनेके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपि च कर्म्ममीमांसाशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि पशुजातिकी ये तीनों अन्तिम श्रेणी हैं। वानरजातिसे राक्षसी प्रकृतिकी मनुष्यजाति,

सिंहजातिसे आसुरी प्रकृतिकी मनुष्यजाति और गोजातिसे दैवी प्रकृतिकी आर्य्यजातिरूपी मनुष्यजातिका प्रथम परिणाम उत्पन्न होता है और वे मनुष्य क्रमशः मनुष्यत्वकी क्रमोन्नतिमें अग्रसर होते हैं, यथा, पद्मपुराण में—

चतुरशीतिलक्षान्ते गोजन्मा तत्परं नरः।
ततस्तु ब्राह्मणश्च स्यादभयं नात्र संशयः॥

चतुरशीति लक्षके अनन्तर अन्तिम योनि गौकी होती है, तदनन्तर मनुष्य जन्म होता है। मनुष्यजन्ममें ब्राह्मण होकर ही जीव अभय प्राप्त होता है।

मनुष्यसृष्टि सर्वोच्च सृष्टि है। पञ्चकोशोंकी पूर्णतासे मनुष्यसृष्टि पूर्ण है, इसीकारण मनुष्य देहहीमें जीवको मुक्तिकी प्राप्ति हुआ करती है। सुतरां मनुष्यमें तीन गुणोंके अनुसार तीन अधिकार विद्यमान हैं इसमें सन्देह ही क्या है। मनुष्यजातिमें दैवी सम्पत्ति, आसुरी सम्पत्ति और राक्षसी सम्पत्तिके स्त्री पुरुष सदा दिखाई देते हैं। परलोकका भय रखनेवाले और आध्यात्मिक उन्नति चाहनेवाले स्त्री पुरुष दैवी सम्पत्तिके हैं। इहलोकके सुखको ही केवल माननेवाले और इन्द्रियसुखमें पूर्णरत स्त्री पुरुषगण आसुरी सम्पत्तिके हैं और प्रमाद, अज्ञान, आलस्य हिंसा, क्रूरता, अपवित्रता आदिमें रत स्त्री पुरुषगण राक्षसी सम्पत्तिके हैं। दैवी सम्पत्ति सत्त्वगुण, आसुरी सम्पत्ति रजोगुण और राक्षसी सम्पत्ति तमोगुणसे उत्पन्न है। सात्त्विक नरनारी मुख्यतः गुणके द्वारा आपसमें प्रेमाबद्ध होते हैं, राजसिक नरनारी मुख्यतः रूपके द्वारा आपसमें प्रेमाबद्ध होते हैं और तामसिक नरनारी इन्द्रियकी उन्मत्तताको मुख्य रखकर आपसमें प्रेमाबद्ध होते हैं। सात्त्विक नरनारीगण दाम्पत्य प्रेमको ही आनन्दका कारण समझते हैं, राजसिक नर-नारी दाम्पत्यप्रेम और काम दोनोंको ही आनन्दका मुख्य कारण समझते हैं और तामसिक नरनारी केवल कामवृत्ति-चरितार्थको ही आनन्दका मुख्य कारण मानते हैं। सात्त्विक नरनारीगण ज्ञान और परमार्थमें, राजसिक नरनारीगण प्रवृत्ति और रागजनित इन्द्रियसुखमें और तामसिक नरनारीगण अज्ञान और प्रमादजनित इन्द्रियसुखमें प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं। सात्त्विक नरनारी परोपकारमें सुखका अनुभव, राजसिक नरनारी निज स्वार्थकी सिद्धिमें सुखका अनुभव और तामसिक नरनारी दूसरेके स्वार्थकी हानिमें सुखका अनुभव करते हैं। सात्त्विक नरनारी धर्म्मके विचारसे श्रद्धा, प्रेम और स्नेहदान करते हैं, राजसिक नरनारी कृपा, प्रेम और श्रद्धाके बदलेमें यथाक्रम

श्रद्धा, प्रेम और स्नेहदान करते हैं और तामसिक नरनारी केवल अज्ञानसम्भूत मोह आदिके कारण प्रेमदानमें प्रवृत्त रहते हैं। सात्त्विक नरनारी कर्त्तव्य बुद्धिसे कर्म्ममें प्रवृत्त रहते हैं, राजसिक नरनारी सुखकी इच्छासे कर्म्ममें प्रवृत्त होते हैं और तामसिक नरनारी केवल प्रमाद और मोह आदिके कारण कर्म्ममें प्रवृत्त रहा करते हैं। सात्विक नरनारी धर्म्म और यशकी इच्छा रखते हैं, राजसिक नरनारी यश और कामकी इच्छा रखते हैं और तामसिक नरनारी धर्म्म और यश दोनोंकी इच्छा न रखकर केवल काम और मोह आदिमें मुग्ध रहते हैं। सात्विक नरनारी मुक्तिकी इच्छाकरनेवाले और धर्म्मको ही जीवनका लक्ष्य माननेवाले होते हैं, राजसिक नरनारी अर्थकी इच्छा रखनेवाले और कामपर ही जीवनका लक्ष्य रखनेवाले होते हैं और तामसिक नरनारी मोक्ष और धर्म्मकी आवश्यकता समझते ही नहीं, अधिकन्तु अविधिपूर्व्वक अर्थ और कामकी चरितार्थमें प्रवृत्त रहते हैं। सात्त्विक नरनारी धर्म्मानुकूल विचार द्वारा संसारके साथ आत्मीयता स्थापनमें प्रवृत्त होते हैं, राजसिक नरनारी केवल अपने सुख देनेवाले स्वजनोंको ही अपना समझते हैं और तामसिक नरनारी धर्म्माधर्म्म और सुखदुःखको विना विचारे ही आत्मीयता स्थापनमें प्रवृत्त रहते हैं। सात्त्विक नरनारी ज्ञानचर्चा, सत्सङ्ग और विषयरागरहित आनन्दजनक कार्य्योंमें प्रवृत्त रहते हैं, राजसिक नरनारी इन्द्रियप्रवृत्ति, स्वार्थपरता, लोभ आदिके कार्योंमें प्रवृत्त रहते हैं और तामसिक नरनारी विचारहीन और लक्ष्यहीन कार्योंसे जीवन अतिवाहित करते हैं। सात्विक नरनारी धर्म्मालाप, शास्त्रालाप और आध्यात्मिक ज्ञानोन्नतिकी चर्चाको प्रिय समझते हैं, राजसिक नरनारी धर्म्मरहित इन्द्रियसेवा और विषयानन्द आदिको प्रिय मानते हैं और तामसिक नरनारी आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि वृत्तियोंको अज्ञानके साथ चरितार्थ करनेको ही यथेष्ट समझते हैं। इसी प्रकारसे जितना विचारा जायगा नरनारियोंकी वृत्ति त्रिगुणसे रहित नहीं है यह सब देश, काल और पात्रोंमें प्रमाणित होगा।

मनुष्यशरीरको त्रिगुण ही किस प्रकार लालित, पालित, सुरक्षित और प्रलयकी ओर अग्रसर करते हैं, आर्य्यजातिके वैद्यकशास्त्रने इसको निश्चय करके दिखा दिया है। वात, पित्त, कफ, ये तीनों त्रिगुणके ही रूपान्तर हैं। वात रजोगुण, पित्त सत्वगुण और कफ तमोगुणसम्भूत है ऐसा माना जाता है। तीनोंकी समतासे मुक्तितक हो सकती है ऐसा वैद्यक शास्त्र मानता है। जिस-

प्रकार सत्त्वरजतम इन तीनोंकी साम्यावस्थासे मुक्तिपदका उदय हुआ करता है ऐसा योगीगण मानते हैं, वैसे ही बात पित्त और कफ इन तीनोंके साम्यावस्थामें पहुंच जानेसे योगीके अन्तःकरणमें आत्मचैतन्यका प्रकाश स्वतः ही हो सकता है ऐसा पूज्यपाद महर्षियोंका सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्तके अनुरूप योगशास्त्रमें इडा, पिङ्गला और सुषुम्नारूपी तीन नाडियाँ तथा उन तीनोंमें प्राणक्रियाके प्रवाहके साथ त्रिगुणका साक्षात् सम्बन्ध योगाचार्य्योंने दिखाया है। स्वरोदयशास्त्रमें उन्हीं त्रिगुणात्मक तीनों नाडियोंकी सहायतासे तामसिक राजसिक और सात्त्विक कार्य्योंके सुसिद्ध करनेके अनेक उपाय बताये हैं जिनका संक्षेप विवरण हम लययोग नामक अध्यायमें कर चुके हैं। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने मनुष्यके अन्तःकरणमें स्वभावसे उत्पन्न लौकिक रसोंको भी तीन गुणोंमें विभक्त किया है। वे तीनों त्रिगुणात्मक हैं और गुण नामसे ही अभिहित होते हैं। उनके नाम ये हैं, यथा—माधुर्य्यगुण, ओजगुण और प्रसादगुण। पूर्वकथित वर्णनोंसे यह प्रमाणित होता है कि जिसप्रकार धर्म्मके सब अङ्ग त्रिगुणात्मक हैं और मनुष्यका अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है उसीप्रकार तीन गुणोंकी प्रत्यक्ष शक्तियाँ ग्रह उपग्रहयुक्त ब्रह्माण्डसे लेकर पिण्डरूपी मनुष्यशरीरके सब विभागोंके साथ ओतप्रोतरूपसे वर्त्तमान हैं। मनुष्यका स्थूल अन्नमयकोष त्रिगुणात्मक वातपित्तकफसे संचालित होता है। उसका प्राणमयकोष त्रिगुणात्मक इडा पिङ्गला सुषुम्नाके द्वारा नियोजित रहता है। उसका मनोमयकोष रागद्वेषात्मक त्रिगुणकी पूर्वकथित वृत्तियोंसे सञ्चालित होता है। उसका विज्ञानमयकोष भी गुणत्रयविभागके अनुसार त्रिविध धृति, त्रिविध प्रज्ञा, त्रिविध बुद्धि आदिके द्वारा सम्बन्धयुक्त है और यहांतक कि उसका आनन्दमयकोष भी त्रिगुणभावसे रहित नहीं है। ऐहलौकिक विषयका आनन्द, पारलौकिक विषयका आनन्द और आध्यात्मिक सम्बन्धयुक्त ब्रह्मानन्द, ये ही इन तीनों भावोंके परिचायक हैं, इसीकारण धर्म्मके लक्ष्य भी तीन ही रक्खे गये हैं, यथा :—ऐहलौकिक अभ्युदयसिद्धि, पारलौकिक अभ्युदयसिद्धि और निःश्रेयससिद्धि। इस प्रकारसे सृष्टिके प्रत्येक स्तरमें त्रिगुणकी मधुरलीला देखनेमें आती है। इन तीनों गुणोंके परस्पर सम्बन्ध तथा पृथक् पृथक् लक्षणोंके विषयमें महाभारतके अश्वमेध-पर्वान्तर्गत अनुगीतापर्वमें विस्तृत वर्णन मिलता है, यथा—

तमोरजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान् प्रचक्षते।

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योन्यानुजीविनः ॥
अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योन्यानुवर्त्तिनः।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः ॥
तमसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः।
रजसश्चापि सत्त्वं स्यात् सत्त्वस्य मिथुनं तमः ॥
नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्त्तते।
नियम्यते रजो यत्र सत्त्वं तत्र प्रवर्त्तते ॥
नैव शक्या गुणा वक्तुं पृथक्त्वेनैव सर्वशः।
अविच्छिन्नानि दृश्यन्ते रजः सत्त्वं तमस्तथा ॥
यावत्सत्त्वं रजस्तावद् वर्त्तते नात्र संशयः।
यावत्तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते ॥
उद्रेकव्यतिरिक्तानां तेषामन्योन्यवर्त्तिनाम्।
वक्ष्यते तद्यथाऽन्यूनं व्यतिरिक्तं च सर्वशः ॥
व्यतिरिक्तं तमो यत्र तिर्यग्भावगतं भवेत्।
अल्पं तत्र रजो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥
उद्रिक्तं च रजो यत्र मध्यस्रोतोगतं भवेत्।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥
उद्रिक्तं च यदा सत्त्वमूर्द्ध्वस्रोतोगतं भवेत्।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं रजश्चाल्पतरं तथा ॥

तम, रज और सत्त्व, प्रकृतिके ये तीन गुण हैं जो पाञ्चभौतिक संसारमें सर्वत्र देखनेमें आते हैं। ये गुणत्रय 'अन्योन्य मिथुन' हैं अर्थात् पतिपत्नीकी तरह परस्पर मिलकर एक कार्य उत्पन्न करनेवाले हैं, ये अन्योन्यानुजीवी हैं अर्थात् बीज और अङ्कुरकी तरह एक दूसरे पर निर्भर करता है, ये अन्योन्याश्रय हैं अर्थात् जैसे एक दण्ड दूसरेके सहारेसे अधिक भार लेनेमें समर्थ होता है इस प्रकार परस्पराश्रय है, ये अन्योन्यानुवर्ती हैं अर्थात् राजा और भृत्यकी तरह परस्पर अनुवर्त्तन करनेवाले हैं, ये अन्योन्य व्यतिषक्त हैं अर्थात् अग्नि, जल और अन्नकी

तरह परस्पर मिलने वाले हैं। इस प्रकारसे तीन गुणोंके परस्पर सम्बन्ध पाये जाते हैं। तमोगुण सत्त्वगुणसे मिला रहता है, सत्त्वगुण रजोगुणसे मिला रहता है, रजोगुण सत्त्वगुणसे मिला रहता है और सत्त्वगुण तमोगुणसे भी मिला रहता है। तमोगुणके दब जाने पर रजोगुण प्रबल होता है और रजोगुणके दब जाने पर सत्त्वगुण प्रबल होता है। ये तीन गुण कभी पृथक् नहीं रहते हैं, सभी साथ मिले रहते हैं। जहाँ तमोगुण है वहाँ और दो गुण भी रहते हैं, जहां रजोगुण है वहां सत्त्व और तमोगुण भी रहते हैं। इस प्रकारसे तीनों साथ मिले रहते हैं। केवल जिस गुणकी अधिकता होती है उसीके अनुसार सत्त्वगुणी या रजोगुणी आदि शब्दका व्यवहार होता है। जहां तमोगुण प्रबल होता है वहां पर रजोगुण और सत्त्वगुण दब जाते हैं और तभी वह जीव तमोगुणी कहलाता है। इसी प्रकार रजोगुण प्रबल होनेपर सत्त्व और तमोगुण तथा सत्त्वगुण प्रबल होनेपर रज और तमोगुण दब जाते हैं। यही जीव जगत्में गुणत्रयका सम्बन्ध तथा प्रकाश होनेका लक्षण और प्रकार है। श्रीभगवान् मनुजीने अपनी संहिताके द्वादश अध्यायमें इन गुणोंके लक्षण तथा विकाशके विषयमें सुन्दर वर्णन किया है, यथा :—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान्।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः॥
तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्॥
यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात् सततं हारि देहिनाम्॥
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥
आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण आभिमानिक आत्माको आश्रय करके स्थावर जङ्गम समस्त जगत्में व्याप्त रहते हैं। इन गुणोंमेंसे जिसकी अधिकता होती है उसीका लक्षण शरीरधारी जीवों प्रकाशित होता है। सत्त्वगुण ज्ञान-लक्षण, तमोगुण अज्ञानलक्षण और रजोगुण रागद्वेषलक्षण हैं। समस्त जीव-शरीरोंमें ये गुण व्याप्त रहते हैं। इनमेंसे जो गुण आत्माके प्रति प्रीतियुक्त, शान्त-स्वभाव और प्रकाशयुक्त है उसीको सत्त्वगुण कहते हैं। जो गुण आत्माके प्रति अप्रीति तथा दुःखप्रद है और जिससे विषय-लालसा उत्पन्न होती है उस दुर्निवार गुणको रजोगुण कहते हैं। जिसमें प्रकाशका अभाव, सत्असत्विवेक हीनता, मूढ़भाव, मोह और अस्फुट विषयस्पृहा विद्यमान है उसको तमोगुण कहते हैं। इन सब गुणोंके द्वारा जो उत्तम, मध्यम तथा अधम फल प्राप्त होते हैं उनका वर्णन क्रमशः किया जाता है। वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय-संयम, धर्मानुष्ठान और आत्मचिन्ता ये सब सत्त्वगुणके कार्य हैं। फलके निमित्त कर्ममें आसक्ति, अधीरता, निषिद्ध कर्माचरण और अत्यन्त विषय-सेवा ये सब रजोगुणके कार्य हैं। लोभ, निद्रालुता, धृतिका अभाव, क्रूरता, नास्तिकता, अयथावृत्ति, याचना और प्रमाद ये सब तमोगुणके कार्य हैं। अब इन गुणोंकी पहचानके लक्षण तथा गुणानुसार जातिका विवेचन किया जाता है। यथा—मनुसंहिताके १२ वें अध्यायमें कथित है :—

यत् कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥

येनास्मिन् कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयन्तु राजसम्॥
यत् सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।
येन तुष्यति चात्मास्य तत् सत्त्वगुणलक्षणम्॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥
येन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते।
तान् समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम्॥
देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥
त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः।
अधमा मध्यमाग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः॥
स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्यास्तामसी गतिः॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषा शस्त्रवृत्तयः।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञश्चैव पुरोहिताः।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः॥
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः॥
तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः।

नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥

जिस कर्मको करके, करनेके समय अथवा करनेके बाद मनुष्यको लज्जा आती है, उसको तामसिक कर्म समझना चाहिये। इस लोकमें प्रसिद्धिकी इच्छासे जो कर्म किया जाता है और जिसकी असमाप्तिमें दुःख नहीं होता है उसको राजसिक कर्म जानना चाहिये। जिस कर्ममें स्वरूप जाननेकी इच्छा होती है, जिसको करके लज्जा नहीं प्राप्त होती है और जिससे आत्माको सन्तोष प्राप्त होता है उसे सात्त्विक कर्म जानना चाहिये। तमोगुणका लक्षण कामप्रधानता, रजोगुणका लक्षण अर्थनिष्ठा और सत्त्वगुणका लक्षण धर्मपरता है। इनमेंसे पर परकी श्रेष्ठता है। अब इन सब गुणोंके अनुसार जीवोंको कैसी कैसी गति प्राप्त होती है सो क्रमशः बताया जाता है। सत्त्वगुणसे देवत्वप्राप्ति, रजोगुणसे मनुष्यत्वप्राप्ति और तमोगुणसे तिर्यग्योनिकी प्राप्ति होती है। यही गुणानुसार त्रिविध गति है। कर्म और ज्ञानके तारतम्यानुसार इन तीनोंमें भी उत्तम मध्यम और अधम इस प्रकारसे तीन तीन भेद पाये जाते हैं। वृक्षादि स्थावर, कृमि, कीट मच्छ, सर्प, कच्छप, पशु और मृग ये सब अधम तामसिक गतियाँ हैं। हाथी, घोड़ा, निन्दित शूद्र और म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र और वाराह ये सब मध्यम तामसिक गतियां हैं। चारण, सुपर्ण पक्षी, दाम्भिक पुरुष, राक्षस और पिशाच ये सब उत्तम तामसिक गतियाँ हैं। व्रात्य, क्षत्रियजाति, झल्लजाति, मल्लजाति, नट, शस्त्रजीवी, द्यूतासक्त और पानासक्त मनुष्य ये सब अधम राजसिक गतियां हैं। राजा, क्षत्रिय, राजपुरोहित और शास्त्रार्थकलहप्रिय व्यक्तिगण ये सब मध्यम राजसिक गतियां हैं। गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवानुचर, विद्याधरादि और अप्सरागण ये सब उत्तम राजसिक गतियां हैं। तापस, यति, विप्र, विमानचारी देवता, नक्षत्राधिदेवता और दैत्य ये सब अधम सात्त्विक गतियां हैं। यागशील, ऋषि, देवता, वेदाभिमानी देवता, ज्योतिषाभिमानी देवता, वत्सराभिमानी देवता, पितृगण और साध्यगण ये सब मध्यम सात्त्विक गतियाँ हैं। ब्रह्मा, मरीचि आदि

प्रजापतिगण, धर्मदेवता, महत्तत्त्व तथा अव्यक्तदेवता ये सब उत्तम सात्त्विक गतियां हैं। इस प्रकारसे त्रिगुणके मुख्य तथा अवान्तर भेदानुसार गतियोंका निर्देश आर्यशास्त्रमें किया गया है। श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धके २५ वें अध्यायमें त्रिगुण भेदानुसार उपासना, अन्यान्य वृत्तियाँ तथा त्रिगुणसे मुक्तिका उपाय वर्णित किया गया है, यथाः—

यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा॥
यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः।
तं रजःप्रकृतिं विद्यात् हिंसामाशास्य तामसम्॥
सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम्॥
उपर्य्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः।
तमसाऽधोऽध आमुख्याद्रजसान्तरचारिणः॥
सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः॥

मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥
कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकञ्च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥
वनन्तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥
सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥
सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा॥
सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।

तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥
द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धाऽवस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥
तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥
निःसङ्गो मां भजेद्विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
रजस्तमश्चाभिजयेत् सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥
सत्त्वश्चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः।
संपद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ॥
जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत् ॥

निष्कामभावसे मुझमें भक्ति रखकर मेरी भजना करने वाले पुरुष या स्त्री सात्त्विक उपासक हैं। किसी कामनाकी पूर्त्तिके लिये भजना करने पर राजसिक उपासक और हिंसाआदि विचारसे भजना करनेपर तामसिक कहलाते हैं। जाग्रदवस्था सत्त्वगुण, स्वप्नावस्था रजोगुण, सुषुप्ति अवस्था तमोगुण और तीनोंमें एकरस रहना तुरीयावस्था कहलाती है। सत्त्वगुणसे उत्तरोत्तर ऊर्द्ध्वगति, तमोगुणसे उत्तरोत्तर अधोगति और रजोगुणसे मध्यस्थिति होती है। सत्वगुणमें मरनेसे जीवकी स्वर्गमें गति, रजोगुणमें मरनेसे मनुष्य लोकमें गति, तमोगुणमें मरनेसे नरकमें गति और निर्गुणभावमें शरीरत्याग होनेसे ब्रह्मप्राप्ति होती है। मदर्पित निष्काम कर्म सात्त्विक, फलसंकल्पसे कृत कर्म राजसिक और हिंसादि मूलक कर्म तामसिक होता है। देहातिरिक्त आत्माके विषयका ज्ञान सात्त्विक, देहादिविषयक ज्ञान राजसिक, मूक बालकादिका ज्ञान तामसिक और भगवान्‌में निष्ठायुक्त ज्ञान गुणातीत होता है। वनका वास सात्त्विक है, ग्रामका वास राजसिक है, जूआघरका वास तामसिक है और मेरे मन्दिरका वास गुणातीत है। अनासक्त कर्त्ता सात्त्विक है, रागमें अन्ध कर्त्ता राजसिक है, अनुसन्धानरहित कर्त्ता तामसिक है और मुझे आश्रय करनेवाला कर्त्ता गुणातीत है। अध्यात्मभावमें श्रद्धा सात्त्विक है, कर्मश्रद्धा राजसिक है, अधर्ममें श्रद्धा तामसिक है, मेरी सेवामें श्रद्धा गुणातीत है। आत्मासे उत्पन्न

सुख सात्त्विक है, विषयसे उत्पन्न सुख राजसिक है, मोह और दैन्यसे उत्पन्न सुख तामसिक है, मेरे आश्रयसे उत्पन्न सुख गुणातीत है। द्रव्य, देश, काल, फल, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, श्रद्धा, अवस्था, आकृति, निष्ठा ये सभी त्रिगुणयुक्त हैं इसलिये ज्ञानविज्ञानयुक्त मनुष्य देहलाभ करके जीवका कर्त्तव्य है कि मेरी भजना करे। सङ्गरहित, प्रमादरहित तथा जितेन्द्रिय होकर मेरी साधना करते करते क्रमशः साधक सत्त्वगुणके द्वारा रज और तमोगुणको जीत लेता है और अन्तमें निरपेक्षता, योगयुक्तता तथा शान्तबुद्धिकी सहायतासे सत्त्वगुणको भी जीत लेता है। उस समय त्रिगुणयुक्त जीवका जीवत्व नष्ट हो जाता है और तभी गुणातीत सर्वत्र ब्रह्मभावमें परिपूर्ण वह जीवन्मुक्त पुरुष बहिर्विषय तथा अन्तर्विषयोंसे सर्वथा पृथक् होकर सदा ब्रह्मानन्दमें मग्न रहता है। यही आर्यशास्त्रवर्णित त्रिगुणतत्त्व तथा त्रिगुणसे अतीत नित्यानन्दमय परमपद है।

पञ्चम समुल्लासका अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।

त्रिभावतत्त्व ।

स्वरूपसे तटस्थ ज्ञानमें उतरनेके लिए अथवा तटस्थसे स्वरूपज्ञानमें पहुँचनेके लिये भावका आश्रय लेनेके सिवाय और दूसरा उपाय नहीं है। मन बुद्धि अथवा वाक्यसे अतीत ब्रह्मपदका आश्रय करनेके लिये भावकी सहायता लेनेके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। भावातीत ब्रह्मभाव जिन सत्, चित् एवं आनन्द सत्ताओंसे पूर्ण है, ये तीन सत्ताएँ भी भावमय हैं। श्रुतिने सृष्टिका आरम्भ वर्णन करते समय जो कहा है कि—

'एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय'

मैं एकसे अनेक होऊँ, प्रजाओंकी सृष्टि करूँ। परमात्माका अद्वैत अवस्था-से अनेक होना यह अवस्था भी भावमय है। सुतरां भावके अवलम्बन विना सृष्टिसे अतीत परब्रह्म पद जैसे हृदयङ्गम नहीं किया जाता वैसे ही भावका सहायता विना यह विराट् सृष्टि अथवा इसका कोई भी अङ्ग उपलब्ध नहीं हो सकता। इसीसे पूज्यपाद महर्षिगणने—

'भावप्रधानमाख्यातम्'

सब भावप्रधान है इत्यादि कहा है।

वेद और शास्त्रमें सृष्टिसे अतीत अद्वैतभावपूर्ण जो स्वरूपका वर्णन है, वेदान्तशास्त्रमें स्वरूपज्ञानसे प्राप्त कह कर जिस भावका वर्णन किया गया है, तत्त्वज्ञानी महापुरुषगण ज्ञानपूर्ण भावके ही द्वारा उस भावको प्राप्त किया करते हैं। जिसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय-रूप त्रिपुटिका अस्तित्व है उसका नाम तटस्थ ज्ञान है और जिसमें इस त्रिपुटिका लय होकर केवल अद्वैतभावका उदय होता है उसको ही स्वरूपज्ञान कहते हैं। भावके द्वारा ये दोनों ही ज्ञान समझे जाते हैं। तटस्थ ज्ञानकी अवस्थामें जब पुरुषकी विषयदृष्टि रहती है अर्थात् जब पुरुष निज ज्ञानकी सहायतासे किसी विषयका अनुभव करता रहता है, तब उसके अन्तःकरणमें जैसे भावकी प्रधानता होती है, विषय-बोध भी वैसा ही हुआ करता है। इसी कारण विषयी व्यक्तिकी धारणा होती है कि जगत् सत् एवं सुखमय है और विषयविरक्त तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी धारणा होती है कि जगत् असत् एवं दुःखमय है, एकके लिये अन्य धारणा असम्भव है। सुतरां

तटस्थ ज्ञानकी अवस्थामें भावके अवलम्बनकी ही प्रधानता रहती है। तद्‌तिरिक्त आत्मवेत्ता महापुरुष जब त्रिपुटि ज्ञानके राज्यसे अन्तःकरणको निरुद्ध कर समाधिकी सहायतासे स्वरूपमें प्रतिष्ठित होते हैं, उस अवस्थामें, जीवन्मुक्त दशामें निर्विकल्प समाधिभावका बोध ही वर्तमान रहता है। निर्विकल्प समाधिको प्राप्त जीवन्मुक्त महापुरुष जब शरीर त्याग करते हैं तब उनके अंशकी प्रकृति मूलप्रकृतिमें लय हो जाती है एवं वे स्वरूपमें लीन हो जाते हैं; किन्तु जितने दिनोंतक जीवन्मुक्त महापुरुषोंका शरीर रहता है उतने दिनोंतक निर्विकल्प समाधिभावका अवलम्बन रहना अवश्यम्भावी है। सुतरां भाव ही अन्तिम आश्रय है।

विषयवती प्रवृत्तिके वर्त्तमान रहते पुरुषसे विषय, इन्द्रिय, वृत्ति एवं भाव, इन चारका सम्बन्ध रहता है। इन्द्रियोंके सन्मुख विषयके न रहनेसे विषयका अस्तित्व नहीं रहता। वाक्, पाणि पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय और चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन ये ही ग्यारह इन्द्रियाँ कहलाती हैं। इन्हीं ग्यारह इन्द्रियोंमेंसे किसी न किसी इन्द्रियके साथ विषयका सम्बन्ध न होने पर विषयका बोध नहीं होता। इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेनेसे विषयबोधका लय हो जाया करता है। विषयोंके साथ इन्द्रियोंका जैसा सम्बन्ध है, इन्द्रियोंके साथ अन्तःकरणकी वृत्तिका भी वैसा ही सम्बन्ध है। जब अन्तःकरणकी वृत्तिका निरोध होता है उस अवस्थामें इन्द्रियके साथ विषयका सम्बन्ध रहने पर भी विषयका बोध नहीं होता। स्थूल दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है कि निद्रितावस्थामें इन्द्रिय और विषयका सम्बन्ध होने पर भी पुरुषको विषयका बोध नहीं होता। इन्द्रियोंके साथ वृत्तिका जैसा सम्बन्ध है, वृत्तिके साथ भावका भी वैसा ही सम्बन्ध है। वृत्तियोंके लय होनेकी अवस्थामें एकमात्र भाव ही अवलम्बन रहता है एवं सृष्टिकी अवस्थामें पहले भावसे ही सब वृत्तियोंका उदय होता है। इस भावकी लय अवस्थामें ही पुरुषको अपने स्वरूपकी उपलब्धि हुआ करती है। अष्टाङ्ग योगमेंसे प्रत्याहार साधन द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंसे प्रत्यावृत्त करना होता है। तदनन्तर धारणा और ध्यान साधन द्वारा वृत्ति-निरोध होता है। इसके उपरान्त योगदर्शनमें जिसको एकतत्त्व कहा है उसी भावकी सहायतासे अन्तःकरणकी वृत्तिका निरोध हो जाता है। तब अन्तःकरणकी एकतत्त्व अवस्था एवं स्वरूप-

प्राप्तिकी अवस्थाके बीचमें एकमात्र भाव ही अवलम्बन रहता है। इस अवस्थामें 'मैं मुक्त हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं चित्स्वरूप हूँ', 'मैं सत्यस्वरूप हूँ', 'मैं आनन्दस्वरूप हूँ' ये सब भाव अवश्य ही अवलम्बनीय रहेंगे। समाधिभूमिमें अग्रसर होकर परमात्माके स्वरूपकी उपलब्धि करनेके समय जो सत्, चित् और आनन्दका अनुभव होता है वह भी पहले स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावमय रहकर फिर अद्वैतभावमें विलीन हो जाता है।

अनादि अनन्त परब्रह्मकी यह सृष्टिलीला भी अनादि और अनन्त है। इसीसे यह विराट् भी उसीका स्वरूप है। किन्तु इस अनादि अनन्त सृष्टि-प्रवाहमें भगवान्के इस अनादि अनन्त विराट् शरीरके अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्डसमूह विद्यमान हैं। इन सब ब्रह्माण्डोंका स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रूपसे अलग-अलग प्रलय हुआ करता है। जैसे पिण्डका प्रलय होनेसे हमलोग कहते हैं कि 'मनुष्य मर गया', वैसे ही किसी ब्रह्माण्डविशेषमें तमोगुणका परिणाम होनेसे वही उस ब्रह्माण्डका प्रलय कहा जाता है। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अनन्त जीवसमूह एवं स्वतन्त्र-स्वतन्त्र ऋषिगण, देवगण, पितृगण यहाँतक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी विद्यमान रहते हैं। महाप्रलय अवस्थामें ये सब ब्रह्माण्ड ब्रह्ममें लीन हो जाया करते हैं और फिर प्रलयकालके अन्तमें जीवसमष्टिकी प्रारब्धसमष्टिके अनुसार ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति होती है। तब महाकाशमें विलीन समष्टिसंस्कारसे अङ्कुरोन्मुख महाकारण, जिसको 'कारणवारि' कहते हैं, प्रकट होता है। उसीमें ब्रह्माण्डगोलकका आविर्भाव हुआ करता है। इस आदिभावके साथ भगवान् नारायणके रूपका एवं पितामह ब्रह्माका सम्बन्ध है। क्रमशः भगवान् ब्रह्माके द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी एवं उसके अन्तर्गत सब जीवोंकी सृष्टि होती है। लयावस्थामें सब जीव निज-निज संस्कारजनित कारणके आश्रित हो ब्रह्ममें लय हो जाते हैं, उस समय लयावस्थाको प्राप्त जीवोंका अस्तित्व तक नहीं रहता। तब केवल एक अद्वितीय ब्रह्मभावका ही अस्तित्व रहता है। पीछे ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिका समय उपस्थित होनेपर लयको प्राप्त जीवोंके कारणरूपी संस्कारोंके एकबारगी अङ्कुरोन्मुख होनेके समय भगवान्की इच्छासे ही ब्रह्माण्डकी सृष्टिका आरम्भ होता है। कर्म जड़ है, इस कारण भगवान्की इच्छा बिना जड़में क्रिया होना असम्भव है। इसीसे सर्वशक्तिमान्, सृष्टिसे अतीत, निर्लिप्त, निष्क्रिय ब्रह्मभावमें जो प्रथम भावका आविर्भाव होता है वही—

"एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय"

इस श्रुतिके द्वारा कहा गया है। इसी समय मूलप्रकृति, साम्यावस्थासे वैषम्यावस्थाको प्राप्त होकर सृष्टिका आरम्भ करती है। यह अवस्था केवल योगियोंका समाधिगम्य विषय है। तथापि शब्दद्वारा जहाँतक स्पष्टरूपसे प्रकाशित की जा सकती है वहाँतक प्रकाशितकर भावका आदिकारण समझानेकी चेष्टा की गई।

परब्रह्म परमात्मा जगदीश्वरको हम तीन भावसे जानते हैं। उनके अध्यात्मभावमय रूपको ब्रह्म कहते हैं, अधिदैवभावपूर्ण रूपको ईश्वर कहते हैं एवं अधिभूतभावपूर्ण रूपको विराट् कहते हैं। सृष्टिसे अतीत, सर्वकारण-स्वरूप, निर्लिप्त, वाणी और मनके अगोचर जो उनका रूप है उसीको वेद और शास्त्रमें ब्रह्म कहा है। ब्रह्मपदके साथ सृष्टिका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह जगत् उसीमें स्थित है; किन्तु वह जगतमें नहीं है। ब्रह्मके सगुणरूपका नाम ईश्वर है। जब मूल-प्रकृति साम्यावस्थासे वैषम्यावस्थाको प्राप्त होती है, जब उनके 'ईक्षण' के आश्रयसे प्रकृति परिणामिनी होकर सृष्टि, स्थिति, प्रलय करती है, तब इस ब्रह्माण्डके द्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्तास्वरूप जो त्रिगुणमय भगवान् हैं उनको ही ईश्वर कहा जाता है। यही जगदीश्वर सृष्टि-स्थिति-लय-कार्यके भेदसे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अधिकारके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामसे अभिहित होते हैं। एवं यह अनादि अनन्तरूपधारी अगणित ब्रह्माण्डमय जो महान् स्वरूप है इसीको विराट्रूप भगवान् कहा जाता है। साधकजन इन्हीं तीन भावोंसे भगवान्का दर्शन किया करते हैं। साधक, कभी योगयुक्त होकर वाणी मनके अगोचर ब्रह्मरूपका चिन्तन करते-करते ज्ञानकी चरम सीमामें उप-स्थित होते हैं, कभी वे ही योगी ईश्वरके सगुणरूपको देखते-देखते आनन्दपुलकित होते हैं और कभी असीम चिन्तास्रोतको प्रवाहित कर उनके विराट् स्वरूपका अनुभव करते-करते मग्न हो जाते हैं। इस जगत्के कारण भगवान् हैं एवं यह जगत् उनका कार्य है। इसीसे ब्रह्मको कारणब्रह्म और जगत्को कार्यब्रह्म कहा जाता है। जो कारणमें है वही, कार्यमें रहेगा, सुतरां भगवान्के जब अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन रूप हैं तब इस जगत्के भी एवं इसके प्रत्येक अंगके भी ये तीन रूप हैं। इन तीनोंके शास्त्रीय प्रमाण आगे दिये जायँगे।

वेदके तीन काण्ड अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड, इनका आविर्भाव क्रमशः भगवान्के अधिभूत, अधिदैव एवं अध्यात्मभावके अनुसार हुआ है। भगवान्में तीन भाव हैं इसीसे वेदके तीनों काण्ड भी त्रिभा-

वात्मक हैं एवं वेद, पूज्यपाद महर्षियोंकी समाधिगम्य बुद्धि द्वारा प्राप्त हुए हैं तथा वेद अपौरुषेय हैं, इस कारण वेदका प्रत्येक मन्त्र त्रिभावात्मक है। विज्ञान-भाष्य आदि ग्रंथोंमें इसका विस्तृत प्रमाण पाया जाता है, यथाः—

यथा दुग्धञ्च भक्तञ्च शर्कराभिः सुमिश्रितम्।
कल्पितं देवभोगाय परमान्नं सुधोपमम्॥
तथा त्रैविध्यमापन्नः श्रुतिभेदः सुखात्मकः।
नयते ब्राह्मणं नित्यं ब्रह्मानन्दं परात्परम्॥

इत्यादि।

इस प्रकार प्रत्येक श्रुति त्रिभावात्मक होनेके कारण प्रत्येक श्रुतिका अर्थ तीन भावसे तीन प्रकारका हुआ करता है एवं प्रत्येक श्रुति त्रिभावात्मक होनेके कारण कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों काण्डोंमें व्यवहृत हो सकती है। इसी कारण वेदका माहात्म्य अनन्त है।

भावरहित होनेसे इस जगत्के सभी विषयोंका अस्तित्व नहीं रहता। भावरहित क्रिया उन्मत्तकी चेष्टाके समान हुआ करती है।। भावरहित विचार-लक्ष्यभ्रष्ट होजाता है।

इस ग्रन्थके स्थानान्तरमें पहलेही कहा गया है कि ज्ञान और विज्ञान-निर्णीत जितने प्रधानतत्त्व हैं उन सब तत्त्वोंमें भावतत्त्व सबसे प्रधान है। अनुभवगम्य तत्त्वोंमें भाव सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसीकारण परब्रह्मको भावातीत कहा है। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जो भाव-रूपी अन्तिम तत्त्व है उस तत्त्वसे भी परे परब्रह्मका अनुभव है। भावतत्त्वका अनुभव स्पष्ट करनेके अर्थ पर विचार किया जाता है। पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है किः—

गुणैः सृष्टिस्थित्यन्ता भावैस्तदनुभवः।

इस सूत्रका तात्पर्य्य यह है कि महामायानिर्मित इस दृश्यमय प्रपञ्चकी सृष्टि, उसकी स्थिति और उसका लय, रज, सत्त्व और तमोगुणके अनुसार यथाक्रम होता है और इस प्रपञ्चमय दृश्यका अनुभव भावसे होता है अर्थात् भावतत्त्वकी सहायतासे दृश्य पदार्थका ज्ञान द्रष्टाको होता है। साधारण तौरपर भी इस संसारमें देखनेमें आता है कि मनुष्य जिस भावके अधीन रहता है दृश्यरूपी विषय उस द्रष्टारूपी मनुष्यको उसी प्रकारके स्वरूपमें दिखाई देने

लगता है। विषयी मनुष्यको यह संसार विषयसुखके सम्बन्धसे बड़ा ही सुखसे भरा हुआ प्रतीत होता है और वैराग्यवान् व्यक्तिको यह संसार दुःखमय प्रतीत होता है जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। दूसरा उदाहरण समझा जाय कि स्त्रीरूपी एक ही विषय कामी व्यक्तिके लिये कामभोगका यन्त्र, विचारवान् व्यक्तिके लिये माया और सौन्दर्य्यका आधार, तथा ज्ञानी व्यक्तिके लिये जगत्-प्रसविनी महामायाकी स्थूल प्रतिकृति (नमूना) दिखाई देता है। तीन पृथक् पृथक् व्यक्तियोंको तीन पृथक् पृथक् भावोंके अनुसार स्त्रीरूपी एक ही विषय तीन पृथक् रूपोंमें दिखाई देने लगता है। तत्त्वातीत भावतत्त्वकी पृथक्ता होनेसे ही स्त्रीरूपी एकही विषय अलग अलग व्यक्तिको अलग अलग रूपमें दिखाई देने लगता है। सिद्धान्त यह है कि सृष्टिस्थितिलयात्मक यह संसार या इसके प्रत्येक पदार्थ भावकी सहायतासे ही अनुभूत होते हैं। इस कारण भाव अन्तिम और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है।

भावतत्त्वके स्वरूपको पूर्णरूपसे स्पष्ट करनेके अर्थ अन्तःकरण विज्ञानका स्वरूप अवश्य ही समझने योग्य है; नहीं तो भावतत्त्व समझमें नहीं आवेगा। अन्तःकरणके चार भेद हैं, यथा—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार; अतः इसको अन्तःकरण-चतुष्टय कहते हैं। संकल्प विकल्प जिस तत्त्वसे उठता है उसको मन कहते हैं। विना कारण जब वृत्ति नाचती रहती है और नाना इच्छाएँ एकके बाद एक उठती रहती हैं और किसी सिद्धान्तपर नहीं ठहरतीं यह मनस्तत्त्वका कार्य्य है। मनके नचानेवाले संस्कार अथवा और भी पूर्वोपार्जित अनन्त संस्कारोंके चिह्न जहाँ अङ्कित रहते हैं उस तत्त्वको चित्त कहते हैं। जो तत्त्व सत् असत् विचार करके सिद्धान्त निश्चय करता है उसको बुद्धि कहते हैं। बुद्धिकी सहायतासे ही मनुष्य अपने अधिकारके अनुसार अच्छा बुरा, हेय-उपादेय और पाप-पुण्य आदि निर्णय करनेमें समर्थ होता है और अहङ्कार तत्त्व उसका नाम है कि जिसके बलसे जीव अपने आपको इस विराट् ब्रह्माण्डसे एक स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें मानता है। अहङ्कारतत्त्वके बलसे ही मनुष्य अपने आपको मनुष्य, स्त्री या पुरुष, दरिद्र या धनी, राजा या प्रजा इत्यादि रूपसे समझनेमें समर्थ होता है। अन्तःकरणके इन मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्काररूपी चार तत्त्वोंमेंसे चित्ततत्त्व मनस्तत्त्वका और अहङ्कारतत्त्व बुद्धितत्त्वका अन्तर्विभाग है। चित्तमें कर्म्मके बीजरूपी संस्कार अङ्कित हैं और वह पीछेसे परदा दिखाकर नचाता है, इस कारण मन अहर्निश चञ्चल

होकर नाचा करता है । अतः स्पष्टरूपसे निश्चित हुआ कि चित्त मनका अन्तर्विभाग है। उसीप्रकार बुद्धितत्त्वकी चालना अहङ्कारतत्त्वकी सहायतासे होती है। जिस जीवमें जैसा अहङ्कार होता है, वह केवल उसीके अनुसार अपनी बुद्धिकी चालना कर सकता है। जो स्त्री है वह स्त्रीत्वके अहङ्कार से, जो पुरुष है वह पुरुषत्वके अहङ्कारसे, जो गृहस्थ है वह गार्हस्थ्यके अहङ्कारसे, जो सन्न्यासी है वह सन्न्यासित्वके अहङ्कारसे, जो धनी है वह धनित्वके अहङ्कारसे, जो दरिद्र है वह दरिद्रताके अहङ्कारसे, जो बलवान् है वह बलवत्ताके अहङ्कारसे, जो बलवीन है वह निर्बलताके अहंकारसे, जो प्रजा है वह प्रजापनके अहङ्कारसे और जो राजा है वह राजत्वके अहङ्कारसे, अपने-अपने अहङ्कारके अनुसार सत्-असत् और हेय-उपादेय आदिका सिद्धान्त निश्चय कर सकता है। अतः निश्चय हुआ कि अहङ्कारतत्त्व बुद्धितत्त्वका अन्तर्विभाग है। परन्तु अहङ्कारतत्त्वके भेद अलौकिक हैं। मैं मनुष्य हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं धनी हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ, मैं प्रजा हूँ, मैं राजा हूँ; ये सब मलिन अर्थात् अशुद्ध अहङ्कार हैं, मैं वेदज्ञ हूँ, मैं तत्त्वज्ञ हूँ, मैं ब्रह्मज्ञ हूँ और मैं ब्रह्म हूँ ये शुद्ध अहङ्कार हैं। मलिन अहङ्कार जीवको इन्द्रियोंमें लगाकर गिरा देता है और शुद्ध अहङ्कार साधकको आत्माकी ओर अग्रसर करके मुक्तिभूमिमें पहुँचा देता है। अहङ्कार और तेज दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। अहङ्कार जीवको नीचेकी ओर खींचकर जड़ताकी ओर अग्रसर करता है और तेज जीवको ऊपरकी ओर खींचता हुआ ब्रह्मकी ओर अग्रसर करता है। अहङ्कार जीवको बद्ध करता है और तेजस्विता जीवको मुक्त करती है। इन्हीं वैज्ञानिक कारणोंसे पूज्यपाद महर्षियों मलिन अहंकारको केवल अहङ्कार नामसे वर्णन किया है और शुद्ध अहङ्कारको तेजस्विता नामसे अभिहित किया है। मनस्तत्त्वको अभिभूत करनेवाला जैसा चित्ततत्त्व है उसी प्रकार बुद्धितत्त्वको अभिभूत करनेवाला अहङ्कारतत्त्व है । संसारी मनुष्यको जिस प्रकार स्त्री मायारज्जुसे बाँधकर संसारका कार्य कराती है; उसी प्रकार चित्त मनको और अहङ्कार बुद्धिको फँसाकर कार्य्य कराया करते हैं।

जीव संस्कारोंका दास है, वासनासे उत्पन्न संस्कार ही मनुष्योंको जकड़कर रखते हैं। आसक्ति ही इस बन्धनका मूल कारण है। वासनासे संस्कार, संस्कारसे कर्म, कर्मसे पुनः वासना, वासनासे पुनः संस्कार इस प्रकारसे वासनाका चक्र और जीवका आवागमन बना रहता है। पूर्वजन्मार्जित कर्मसंस्कार अथवा इस जन्मके संगकी स्मृति जैसी मनुष्यके चित्तमें

अङ्कित रहती है, उसी प्रकारकी आसक्ति उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उसी आसक्तिके अनुसार मनुष्य उसी आसक्तिसम्बन्धीय विषयमें जकड़ा रहता है। आसक्ति चित्तकी सहायतासे मनमें उत्पन्न होती है। मन और चित्तरूपी स्त्री पुरुषके द्वारा आसक्तिका जन्म होता है। पुत्र जिसप्रकार पिताके प्रजातन्तुकी रक्षा करके पिताके अधिकारको प्राप्त होता है, उसी प्रकार आसक्तिके बलसे मन खिंचकर आसक्तिसे सम्बन्धयुक्त विषयको धारणकर सृष्टिको अग्रसर करता है। दूसरी ओर बुद्धिराज्यका सिद्धान्त कुछ और ही है। वहाँ अहङ्कार और बुद्धिके संगमसे भावतत्त्वका उदय होता है। अशुद्धभाव बुद्धिको विषयवत् कर देता है और शुद्धभाव क्रमशः अन्तःकरणको मलरहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्मपदमें पहुँचा देता है। इसीकारण मलिन अहङ्कारसे युक्त बुद्धि मनुष्यको अज्ञानपूर्ण जड़ताकी ओर खींचती ही रहती है और शुद्ध अहङ्काररूपी तेजस्वितासे युक्त बुद्धि उन्नत मनुष्योंको नीचेकी ओर गिरने न देकर क्रमशः उनको आत्माकी ओर आगे बढ़ाती जाती है। मनुष्य केवल दो तत्त्वोंकी सहायतासे ही शारीरिक, वाचनिक और मानसिक कर्म्म करनेमें समर्थ होते हैं। या तो मनुष्य आसक्तिके वशीभूत होकर कर्म्म करते हैं या भावप्रणोदित होकर कर्म्म करते हैं। आसक्तिमें विवशता है परन्तु भावमें स्वाधीनता है। आसक्तिकी बहुशाखाएँ हैं क्योंकि विषय अनन्त हैं परन्तु शुद्धभाव एक अद्वैतदशाको प्राप्त हो सकता है क्योंकि ब्रह्मपद अद्वैत है। आसक्तिसे काम करनेवाले मनुष्य प्रारब्धकी सहायता, गुरुकी सहायता या देवताओंकी सहायतासे ही बच सकते हैं नहीं तो उनका फँसना निश्चित है। परन्तु शुद्धभावकी सहायतासे कर्म्म करनेवाले भाग्यवान् कदापि नहीं फँसते, उत्तरोत्तर उनकी उर्द्ध्वगति ही होती रहती है। मनुष्यने पूर्वजन्मोंसे जैसे संस्कार संग्रह किये हैं उसीके अनुसार उसमें आसक्ति होगी। उसी आसक्तिके अनुसार उसको हेय और उपादेयका विचार होगा क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही आसक्तिमूलक हैं। जिस मनुष्यमें पूर्वजन्मार्जित जिस प्रकारकी आसक्ति है उसी आसक्तिके अनुसार वह विषयमें सुख दुःख अनुभव करेगा और उसी संस्कारके अनुसार उसके निकट जो विषय सुख देगा वही उपादेय और जो दुःख देगा वही हेय समझा जायगा। उपादेय विषयमें राग और हेय विषयमें द्वेष होना स्वतःसिद्ध है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि जो मनुष्य केवल आसक्तिके द्वारा चालित होते हैं वे सब समय बंधे रहते हैं, वे कदापि मुक्तिकी ओर अग्रसर नहीं हो सकते। हाँ, यदि कोई और

शक्ति इनको सहायता करे और बलपूर्वक खींचे तभी वे उस जकड़ी हुई अवस्थामें भी कुछ आगे बढ़ सकते हैं। यदि पूर्वजन्मार्जित कोई विशेष कर्म्म बलवान् हो कि जो कर्म उसके प्रारब्धबलसे सामने आकर उसको रोके अथवा उसपर करुणामय गुरुकी कृपा हो अथवा उसको दैवी सहायता हो तभी वह आसक्तिसे जकड़ा हुआ व्यक्ति ऊपरकी ओर कुछ चल सकता है; नहीं तो उसका नीचेकी ओर गिरना और बन्धनदशामें बना रहना सदा सम्भव है। अशुद्ध भाव तो आसक्तिराज्यमें ही रखनेवाला तत्त्व है। आसक्तिमें बंधे हुए जो जीव चलते हैं अशुद्ध भाव उनका स्वतः ही साथी है क्योंकि बिना भावके विषयका अनुभव नहीं होता है। परन्तु शुद्धभावकी सहायता लेकर चलनेवाले सज्जनोंकी गति कुछ विलक्षण ही है। शुद्धभाव ब्रह्मसे युक्त होनेके कारण उसमें नीचेकी ओर गिरनेकी कोई सम्भावना भी नहीं है।

सब तत्त्वोंका अन्तिम तत्त्व तथा साधकको ब्रह्मपदवी दिलानेवाला भावतत्त्व है। उसके विषयमें संन्यासगीतामें इस प्रकार लिखा है :—

भाव एवाऽत्र सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वं निगद्यते।
भावात्सूक्ष्मतरं किञ्चित्तत्त्वं न परिलक्ष्यते॥
भावातीतमपि ब्रह्म ज्ञायते योगिभिः सदा।
साहाय्येनैव भावस्य प्रथमं तत्त्ववेदिभिः॥
ब्रह्मसाक्षात्कृतौ भावमन्तिमालम्बनं विदुः।
सारूप्यावस्थितौ वृत्तेः सदसद्भावभेदतः॥
उत्पद्येते तु भावेन पुण्यपापे उभे अपि।
सूक्ष्मावस्था तु भावस्य त्रैविध्यमवलम्बते॥
आध्यात्मिकाधिदैवाधिभौतिकानीति शास्त्रतः।
ज्ञानिना भक्तराजेन तत्त्रयस्यावलम्बतः॥
ब्रह्मेश्वरविराड्रूपैर्भगवान् दृश्यते क्रमात्।
ब्रह्माण्डेषु च सर्वत्र ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
भावांस्त्रीन्सततं सम्यक् वीक्षन्ते सर्ववस्तुषु।
भावो हि स्थूलावस्थायां सदसद्रूपमास्थितः॥

स्वर्गं च नरकं चैव प्रापयत्यत्र मानवान्।

इस संसारमें भाव ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, भावकी अपेक्षा सूक्ष्मतर कोई तत्त्व नहीं है। भावातीत ब्रह्म भी भावकी सहायतासे ही तत्त्ववेत्ता योगियोंके द्वारा पहले जाने जाते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार करनेमें अन्तिम अवलम्बन भाव ही है। वृत्तिसारूप्यमें भावके सत् और असत् इन दो भेदोंसे क्रमशः पुण्य और पापका उदय हुआ करता है। भावकी सूक्ष्म अवस्था तीन प्रकारकी होती है। यथा—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। भक्तराज ज्ञानी महापुरुष इन तीनों भावोंके अवलम्बनसे ब्रह्म, ईश्वर और विराट्रूपोंमें भगवान्के दर्शन करते हैं। तत्त्वदर्शी ज्ञानी सब ब्रह्माण्डोंकी सब वस्तुओंमें तीनों भावोंको अच्छी तरह देखा करते हैं। स्थूलावस्थामें भाव सत् और असद्रूपोंका आश्रय करके स्वर्ग और नरकको प्राप्त कराता है।

भावके साथ आसक्ति और आसक्तिके साथ भावका भी रहना स्वतः-सिद्ध है। क्योंकि आसक्तिके बिना कर्म्म नहीं हो सकता, और बिना भावके विषय अनुभवमें नहीं आ सकता। आसक्तिकी जहाँ प्रधानता होती है वहाँ असद्भाव गौणरूपसे रहता है परन्तु जहाँ शुद्धभावकी प्रधानता होती है वहाँ आसक्ति भी बहुत क्षीणता धारण करके बहुत छिपी हुई रहती है। उदाहरण रूपसे समझ सकते हैं कि मृत पुत्रके शोकसे विह्वल माता-पितामें आसक्तिकी प्रधानता स्पष्ट दिखाई देनेपर भी स्वार्थरूपी भाव छिपा रहता है। उसी प्रकार विचार करनेसे निर्णय होगा कि स्वदेशहितैषी सत्पुरुषोंमें स्वार्थ-त्यागरूपी स्वदेशहितैषिताका भाव प्रज्वलित दिखाई देता है, तथापि उक्त सज्जनोंके हृदयमें स्वजाति-वात्सल्यरूपी आसक्ति बहुत क्षीणरूपसे अवश्य रहती है। परन्तु इस दशामें आसक्ति बलहीन हो जाती है। सद्भावमें आसक्तिका रहना सम्भव है। इसी कारण भक्तिशास्त्रमें शुद्धभावयुक्त रागात्मिका भक्तिके भेदोंको आसक्ति कहते हैं। यथाः—दास्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति इत्यादि। शुद्धभावकी प्रधानतामें विलक्षणता यह है कि शुद्धभावकी सहायतासे पापकार्य्य पुण्यकार्य्यमें और प्रवृत्तिधर्म्म निवृत्तिधर्म्ममें परिणत हो सकते हैं। इसी कारण आपद्धर्म्ममें पूज्यपाद महर्षियोंने भावतत्त्वकी प्रधानता मानी है। केवल शुद्धभावकी सहायतासे प्रवृत्तिधर्म्मके साधनोंका अभ्यास करते हुए क्रमशः शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय और क्षत्रियसे ब्राह्मण हो जाता है। शुद्ध भावकी सहायतासे प्रवृत्तिधर्म्मका साधन करते रहने पर भी उन्नत

अधिकारी क्रमशः भुवः, स्वः, जन, तप आदि उन्नत भोगलोकोंको प्राप्त कर सकता है। शुद्धभावकी सहायतासे ही आध्यात्मिक उन्नति-लाभ करता हुआ पुण्यात्मा उच्च अधिकारी देवत्व, ऋषित्व आदि उन्नत दिव्य अधिकारोंको प्राप्त कर सकता है। इसका विस्तारित विवरण आपद्धर्म, प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म नामक अध्यायोंमें वर्णन कर ही चुके हैं। यह केवल शुद्धभावके सहायतायुक्त साधन-का ही फल है कि जिससे प्रवृत्तिके अधिकार निवृत्तिमें परिणत हो जाते हैं और भावशुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त किया हुआ तपस्वी या यज्ञपरायण साधक या तो अन्तिम सत्यलोकमें पहुँचकर निवृत्तिधर्म्मके पूर्ण अधिकारको प्राप्त करता हुआ सूर्यमण्डलभेदन द्वारा ब्रह्मसायुज्यरूपी मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है अथवा इसी देहमें सहजगतिको प्राप्त करके ईशकोटिके जीवन्मुक्तकी सर्व-श्रेष्ठ पदवीको प्राप्त कर लेता है। सर्वश्रेष्ठ तत्त्वरूपी भावतत्त्वकी सहायतासे असत्कर्म्म भी सत्कर्म्म बन जाता है, अधर्म्म भी धर्म्ममें परिणत हो जाता है, जीवके अन्तःकरणमेंसे मलिन जीवत्व निकल कर उसका अन्तःकरण ब्रह्मभाव-से पूर्ण हो जाता है, ये सब भावतत्त्वकी अलौकिकता है।

धर्म्मका निर्णय करते समय पूज्यपाद महर्षियोंने भावको सर्वोपरि रक्खा है। धर्म्मनिर्णयके विषयमें शास्त्रोंने ऐसा कहा है :—

या बिभर्त्ति जगत्सर्व्वमीश्वरेच्छा ह्यलौकिकी ।
सैव धर्म्मो हि सुभगे नेह कश्चन संशयः ॥

जो अलौकिकी (असाधारण) ईश्वरकी इच्छा सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करती है वह धर्म्म है, इसमें कोई संशय नहीं है। इसी प्रकार धर्म्मका प्रत्येक अंग भी भावरहित होनेसे अधर्म्ममें परिणत होता है, अथवा निष्फल हो जाता है। कोई दाता यदि सात्त्विकभावसे* एक पैसा भी दान करे तो वह एक पैसा भी दाताकी मुक्तिका कारण होगा। एवं अन्य कोई दाता यदि देश, काल और पात्रका विचार न कर ऐसे-वैसे देश-कालमें ऐसे-वैसे पात्रको असत्कार और अवज्ञासहित करोड़ रुपये भी दान करे तो वह तामसिकभावका दान निष्फल

---

* दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

दातव्य बुद्धिसे अनुपकारी [जिसने अपना कोई उपकार नहीं किया हो] व्यक्तिको उपयुक्त देश, काल और पात्रमें जो दान किया जाता है उसको सात्त्विक दान कहते हैं।

होगा एवं कभी कभी ऐसा दान दाताके लिये नरकका कारण भी हो सकता है।

इस प्रकार दानयज्ञ जैसे उन्नत-अवनत भावकी भिन्नताके अनुसार सुफल या कुफल देता है वैसे ही तपयज्ञ भी भावभेदानुसार फल प्रदान करता है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने गीतामें कहा है कि :—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

जो लोग फलकी कामना न कर परमश्रद्धापूर्वक शारीरिक, वाचनिक एवं मानसिक तपका अनुष्ठान करते हैं, वे उस सात्त्विक तपके निर्म्मल फलको प्राप्त होते हैं। इस भाँति सात्त्विक भावसे तपका आचरण करनेसे जैसे भाव शुद्धिद्वारा अभ्युदय, निःश्रेयस आदि फल प्राप्त हुआ करते हैं वैसे ही गीताकथित निम्नलिखित लक्षणके अनुसार तप करनेसे बुरा फल होता है :—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

अतिदुराग्रह द्वारा दूसरेको उत्सन्न करनेके लिये आत्माको पीड़ा पहुँचा कर जो तप किया जाता है उसको तामस तप कहते हैं। ऐसा तामसिक तप भावकी अशुद्धिके कारण अनेक समय करनेवालेके लिये नरकका कारण हो जाता है।

कर्म्मयज्ञ बहुत प्रकारका है। सभी प्रकारके कर्म्मयज्ञ भावके तारतम्यके अनुसार उत्तम और अधम फल प्रदान किया करते हैं। उदाहरणस्वरूप कई एक अवस्थाओंका वर्णन किया जाता है। कर्म्मकाण्डकी स्थूलक्रिया ब्राह्मण-भोजन है। यह अधिभूत कर्म्मके अन्तर्गत है। शास्त्रमें कहा है कि ब्राह्मण-भोजनके द्वारा ब्राह्मणभोजन करानेवाला सब प्रकारके ऐहलौकिक और पार-लौकिक सुखको प्राप्त कर सकता है। इसके साथ ही शास्त्रमें ऐसा भी वर्णन है कि ब्राह्मणके रज और वीर्यकी शुद्धि, शास्त्रीय संस्कारशुद्धि, वेदाध्ययन, वेदार्थका ज्ञान, वेदानुकूल साधन एवं तत्त्वज्ञान, इन सब गुणोंके अनुसार क्रमशः भोजन आदिके फलाफलका निर्देश हुआ करता है। इससे यही समझना होगा कि ब्राह्मणके आन्तरिक भावकी उन्नतिके साथ साथ उस ब्राह्मणको जो भोजन कराता है उसकी क्रियाके भी फलाफलका तारतम्य होता है। इसी सम्बन्धमें शास्त्रमें ऐसी आज्ञा है कि ब्राह्मणगणको भूदेव तथा

देवतास्वरूप समझकर एवं ब्राह्मणके शरीरको साक्षात् भगवान्का विग्रह (मूर्त्ति) समझकर भोजन कराना चाहिये। सुतरां जो ब्राह्मणभोजन करावेगा उसके अन्तःकरणमें इस पवित्र भावकी जितनी कमी होगी, उसका फल भी उतना ही अल्प होगा। कर्मकाण्डका और भी कुछ उन्नत दृष्टान्त दिया जाता है। किसी प्रकारका अनुष्ठान करनेके लिये उसमें त्रिविध शुद्धिका प्रयोजन होता है, यथा—द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि और मन्त्रशुद्धि। हवनमें बिल्वपत्र अथवा घृत आदिकी आवश्यकता होती है। बिल्वपत्रकी पूर्ण शुद्धताकी रक्षा करनेके लिये प्रत्येक बिल्वपत्रको मन्त्रसे पवित्र कर तोड़ लाना होता है अन्यथा वह अनुष्ठानके योग्य नहीं होता। घृतकी पूर्ण शुद्धताकी रक्षा करनेके लिये उसको मृतवत्सा गऊ आदिके दोषसे बचाना होगा। बछड़ेके तृप्त होनेके उपरान्त दुग्ध न लेनेसे एवं उत्तमरूपसे सेवित गऊका दुग्ध न लेनेसे उस दुग्धके घृत द्वारा हवन करनेसे यथार्थ फल न होगा। यह सब क्या है? भावकी शुद्धिके साथ इन सब क्रियाओंका पूर्ण सम्बन्ध है। भावके साथ धर्मका ऐसा सम्बन्ध है कि भाव शुद्ध होनेसे असत्कर्म भी सत्कर्म हो जाता है। हिंसा-कार्य अत्यन्त पापजनक है; किन्तु यज्ञकी हिंसा द्वारा पुण्य होता है। यह और क्या है? केवल भावशुद्धिका फलमात्र है। पितृयज्ञरूप श्रद्धाकर्ममें पिताको जो चीजें अच्छी लगती थीं या रुचती थीं वे चीजें ब्राह्मणको देना, वे पदार्थ ब्राह्मण-को भोजन कराना, यह सब केवल भावपूर्ण क्रियामात्र है। पितृयज्ञमें कुश-कल्पित ब्राह्मणका स्थापन, ध्यानद्वारा पितरोंका आवाहन आदि क्रियाएँ केवल भावराज्यकी ही गंभीरताद्वारा पूर्ण हैं। और मन्त्रशक्ति तो भाव-शुद्धिके बिना फलप्रद हो ही नहीं सकती। यद्यपि प्रत्येक मन्त्रकी स्वतन्त्र शक्ति है, किन्तु प्रत्येक मन्त्रका आविर्भाव विशेष विशेष भावकी प्रधानतामें होनेसे एवं "मन्त्रचैतन्य" अथवा मन्त्रका विनियोग श्रद्धासापेक्ष एवं अन्तःशुद्धि-सापेक्ष होनेसे यह सहज ही प्रमाणित होगा कि 'भावशुद्धिके बिना मन्त्रशुद्धि असम्भव है।

क्या ऋषि, देवता और पितृगणकी उपासना, क्या लीलाविग्रह अवतारोंकी उपासना, क्या सगुण उपासना, क्या निर्गुण उपासना, सभी उपासनाप्रणा-लियोंमें एकमात्र भावशुद्धि ही अवलम्बनीय हुआ करती है, इसमें सन्देह नहीं है। साधक जब उपासनाराज्यमें अग्रसर होनेके लिये नवधा वैधी भक्तिका आश्रय ग्रहण करता है, जब साधक गुरुकी आज्ञा पाकर गुरुकी उपदिष्ट प्रणालीके

अनुसार भगवद्भावश्रवण, भगवन्नामकीर्तन आदि वैधी भक्तिके साधनोंका अभ्यास करता रहता है, तब वैधी भक्तिके साधक इस भक्तके श्रवण, कीर्तन, पादसेवन, वन्दन आदि कर्मोंमें एकमात्र भाव ही प्रधान अवलम्बन हुआ करता है। साधक, अन्तर्यागद्वारा मनोमन्दिरमें अथवा बहिर्यागद्वारा प्रत्यक्ष मूर्तिमें सेवा करता हुआ जब इन सब गौणी भक्तिके साधनोंका अभ्यास करता है तब भावशुद्धिकी सहायताके सिवाय उसके लिये और दूसरा उपाय नहीं है। रागात्मिका भक्तिका आश्रय लेकर जब उन्नत भक्त भगवान्‌के अनन्त भावसागरमें उन्मज्जन-निमज्जनके सुखका अनुभव करता है एवं कभी दास्यभाव, कभी कान्ता-भाव, कभी आत्मनिवेदनभाव, कभी तन्मयभावका आश्रय लेकर परमानन्द-का अनुभव करता है तब भाव ही मुख्य अवलम्बन होता है और जब सर्वोच्च पराभक्तिका अधिकारी भक्तशिरोमणि जगत्‌को वासुदेवमय (वासुदेवः सर्वमिति) मानकर सब समय निर्विकल्प समाधिमें आरूढ़ होकर उसमें तन्मय हो रहता है, तब एकमात्र भाव ही अन्तिम आश्रय होता है।

ज्ञानराज्यमें अग्रसर होनेके समय गुरु एवं आचार्यकी भक्ति केवल भाव-मय होती है। 'गुरुको ब्रह्मस्वरूप मानना' यह भावशुद्धिके सिवाय और कुछ भी नहीं है। जिज्ञासु साधक अपनेको अज्ञ एवं गुरुदेवको सर्वज्ञ समझेगा, यह केवल भावकी उन्नतिके ही द्वारा संभव है। गुरुमुखसे दर्शनशास्त्र श्रवण करनेके समय प्रथम गुरु एवं वेदान्त आदि शास्त्रों पर विश्वास स्थापन न कर सकनेसे वह कभी सफल नहीं हो सकता। यह विश्वासस्थापन शुद्धभावमय है। साधकके भावशुद्धिपूर्वक श्रद्धासम्पन्न न होनेसे अध्यात्मतत्त्वका सुनना निष्फल हो जाता है। श्रद्धाके साथ दर्शन आदि शास्त्रोंका श्रवण न करनेसे इन सब शास्त्रोंका मनन असम्भव है। और राजयोगके अनुसार आत्मा-अना-त्माके विचार वा वेदान्तशास्त्रके अनुसार स्वरूपकी उपलब्धि करनेकी साधनप्रणालीसे संयुक्त जो निदिध्यासन है वह अन्तःकरणकी भावशुद्धिके बिना कभी सम्यक् साधित नहीं हो सकता।

इसी प्रकार भावराज्यमें जितना संयम किया जाता है उतना ही ज्ञानी लोग समझ सकते हैं कि धर्मसाधनके सभी अङ्ग भावकी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं एवं लौकिक-अलौकिक सभी सत् पुरुषार्थोंमें भावके अवलम्बनका अत्यन्त प्रयोजन है। अन्तर्जगत्‌से बहिर्जगत्‌की ओर अग्रसर होनेमें भी एक मात्र भावका ही आश्रय लेना होता है। यहाँ तक कि भावातीत परमपद प्राप्त

करनेमें भी भाव ही एकमात्र अवलम्बन होता है। अतएव सभी श्रेणीके अधिकारियोंकी भावशुद्धिकी ओर विशेष लक्ष्य रखना उचित है। भावकी महिमा अपार है !!

सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कार्य्य बिना भावके अनुभवमें नहीं आ सकता। भाव तीन हैं, अध्यात्मभाव, अधिदैवभाव और अधिभूतभाव। ज्ञान-राज्यके ये ही तीनों नेत्र हैं। इन तीनों भावमय राज्योंके यथाक्रम चालक ऋषि, देवता और पितृगण हैं जिनका विस्तारित वर्णन ऋषि, देवता और पितृतत्त्व नामक अध्यायमें किया गया है। इन तीनों भावोंके साथ जगदीश्वरका क्या सम्बन्ध है, सो उपासनायज्ञ और आत्मतत्त्व नामक अध्यायोंमें वर्णन किया गया है और भावशुद्धिद्वारा क्रियामात्रका फल कैसे सत्से असत् और असत्से सत् हो सकता है, इस विज्ञानकी लोकोत्तर अपारशक्तिका वर्णन आपद्धर्म्म नामक अध्यायमें किया गया है। भावपदार्थ सर्व्वव्यापक है। क्योंकि जब ब्रह्मस्वरूपमें भी तीन भाव विद्यमान हैं तो ब्रह्मसे उत्पन्न इस जगत्के प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म अङ्गमें भी त्रिभावका होना स्वतःसिद्ध है। इस विषयमें विस्तारित विवरण आगे दिया जायगा जिससे यह स्पष्ट सिद्ध होगा कि संसारकी सब वस्तुएँ त्रिभावसे देखी जा सकती हैं। त्रिभाव इतना व्यापक है कि उसको विभु कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं होगी। सत् भी भाव है, चित् भी भाव है और आनन्द भी भाव है। जो कुछ ज्ञेय है सो सब भाव है। जो कुछ अस्ति है सो भाव है। जो नहीं है अर्थात् नास्ति शब्द भावरहित अभाव-जनित है। तात्पर्य्य यह है कि जो कुछ पदार्थ है अर्थात् सृष्टिमें जिस पदार्थका अस्तित्व है उन सब पदार्थोंके साथ भावका सम्बन्ध है। वे सब पदार्थ त्रिभावों-मेंसे किसी भावके अन्तर्गत होंगे और सृष्टिमें जो पदार्थ नहीं है, जिस पदार्थ-का अस्तित्व नहीं हो सकता वही भावसे विरुद्ध अभावसे सम्बन्धयुक्त है। इस विचार द्वारा भावका सर्व्वोपरि महत्त्व प्रतिपन्न होता है।

स्वरूपमें अध्यात्मभावरूपी चित्सत्ता, अधिदैव भावसे सम्बन्धयुक्त आनन्दसत्ता और अधिभूतभावमय सत्सत्ता एक अद्वैतरूपमें रहनेके कारण स्वतन्त्ररूपसे अनुभवमें नहीं आती, परन्तु जब ही समाधिस्थ अन्तःकरणमें सत्, चित् और आनन्दकी अलग-अलग सत्ता अनुमेय होती है तब ही से भाव पदार्थका आविर्भाव होता है। इसी कारण आनन्दविलासमय सब प्रकारका दृश्य, सब प्रकारका सृष्टिपदार्थ और कार्य्य-ब्रह्मके सब अङ्गसमूह त्रिभावा-

त्मक हुआ करते हैं। पक्षान्तरमें यह समझने योग्य है कि भावके साथ ज्ञान-जननी विद्या और अभावके साथ अज्ञानजननी अविद्याका सम्बन्ध है। वस्तुतः जिस प्रकार अविद्या एक प्रकारसे मिथ्या, भ्रम और प्रमादमूलक है और अज्ञानसे सम्बन्धयुक्त होनेके कारण अयथार्थ है; इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, ज्ञानके द्वारा अज्ञान दूर हो जाता है और विद्याके उदय होनेसे अविद्याका लय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार विद्या सत् है, भ्रम प्रमादका विद्यामें कोई भी स्थान नहीं है और ज्ञानके साथ विद्याका सम्बन्ध रहनेसे विद्या नित्यस्थित और यथार्थ है। विद्याकी सहायतासे ही अज्ञानी जीव अविद्याके बन्धनसे मुक्त होकर नित्यस्थित परमपदमें पहुँच जाता है। उसी विज्ञानके अनुसार अभाव केवल नाममात्र वस्तु है। उसका अस्तित्व भ्रममूलक है; परन्तु भावपदार्थ नाम-मात्र नहीं है, यथार्थतः है। उसके अस्तित्वसे जगत्का अस्तित्व है। भावकी सहायतासे जगत्का यथार्थ ज्ञान होता है। भावकी सहायतासे ही बद्धजीव विषयानन्दके उपभोगके लिये आवागमनचक्रमें भ्रमता रहता है और भाव ही सहायक बनकर ज्ञानी मनुष्योंको उनके अन्तःकरणमें उत्तरोत्तर ब्रह्मानन्दकी वृद्धि कराकर अन्तमें उनको परमपदमें पहुँचा देता है।

सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंके द्वारा ब्रह्माण्ड और पिण्डमय सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयक्रिया सुसम्पन्न हुआ करती है और अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीन भाव द्वारा उक्त सृष्टिका ज्ञान होता है। इसी कारण ब्रह्माजीकी शक्ति त्रिभावात्मक मानी गई है। विष्णुकी शक्ति कमला एक ही है, शिवजीकी शक्ति गौरी एक ही है; जितने देवता हैं उनकी एक ही एक शक्तिका पता शास्त्रोंमें लगता है; परन्तु श्रीभगवान् ब्रह्माकी ब्राह्मी शक्तिके तीन भेद कहे हैं, यथा—सरस्वतीदेवी, गायत्रीदेवी और सावित्रीदेवी। कहीं कहीं पुराणोंमें ऐसा भी वर्णन है कि ब्रह्माजीकी शक्ति महासरस्वती और उनकी तीन कन्याका नाम वाणी, सावित्री और गायत्री है। ऐसा वर्णन भी भावप्राचुर्य्य-से ही किसी किसी शास्त्रोंमें पाया जाता है। ब्रह्माजीकी शक्ति ही तीन हों अथवा ब्राह्मी शक्तिकी सन्तति यह तीन हों, वस्तुतः एक ही बात है। विज्ञानसे भी यही सिद्ध होता है कि भगवान् ब्रह्माजी जब ब्रह्माण्डपिण्डात्मक इस सृष्टिके कर्त्ता हैं तो उन्हींकी शक्तिके साथ अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीन भाव विशिष्ट विभागोंका साक्षात् सम्बन्ध होना स्वतःसिद्ध है। उनकी शक्ति ही जगत् प्रसव करनेका आदि कारण है, इस कारण यद्यपि जगत्के

प्रत्येक अङ्गके साथ त्रिभावका सम्बन्ध विद्यमान है तथापि उसका मौलिक सम्बन्ध सृष्टिकी मूलशक्ति ब्राह्मी प्रकृतिके साथ रहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। तीन भावके अनुसार सृष्टि किये हुए साधारण पदार्थोंके तीन भेद हैं। यथा-स्थावर सृष्टि, मनुष्यसे अतिरिक्त जङ्गम सृष्टि और मनुष्यसृष्टि। ये स्थूल-सृष्टि सम्बन्धी पदार्थोंके भेद हैं। उसी प्रकार सूक्ष्मराज्यकी सृष्टिके पदार्थोंके भी तीन भेद हैं, यथा—ऋषिसृष्टि, देवसृष्टि और पितृसृष्टि। इन्हीं तीन प्रकारके भेदके अनुसार ब्राह्मी शक्ति भी त्रिभावात्मक है। इसी कारण श्रीभगवान् ब्रह्माकी तीन शक्ति वेदमें भी मानी गई है। वेदार्थज्ञानजननी सरस्वती देवी, वेदमन्त्रशक्तिधारण-कारिणी गायत्री देवी और वेदमन्त्रप्रसविनी सावित्री देवी हैं। यही त्रिभावसे पूर्ण ब्राह्मी शक्तिके भेदोंका अति गूढ़ रहस्य है।

अन्तःकरणको बहिर्मुख दशामें किस प्रकार भावकी सहायतासे दृश्य-रूपी विषय द्रष्टारूपी मनुष्यको प्रतीयमान होता है और किस प्रकारसे भावकी सहायतासे असत् कर्म्म भी सत्कर्म्ममें परिणत हो जाता है, ये सब बातें पहले कही गई हैं और आपद्धर्म नामक अध्यायमें भलीभाँति सिद्ध की गई हैं। भाव-राज्यका यह एकांश अर्थात् एक ओरकी शक्ति है। अब भावराज्यका दूसरा क्रम संक्षेपतः दिखाया जाता है। क्रियासे शक्ति और शक्तिसे भाव प्रकट होकर किस प्रकारसे कर्मी कर्म्मकी सहायतासे परमपदकी ओर अग्रसर हो सकता है, उसके समझनेसे भावराज्यका दूसरा क्रम समझमें आजायगा। प्रथममें भावको शुद्ध रखकर तन्मात्रा वृत्ति और इन्द्रियकी सहायतासे विषय ग्रहण करनेपर अशुद्ध विषय भी शुद्ध हो जाता है; इस दशामें सबसे प्रथम भावको ही शुद्ध कर लेना होता है। अर्थात् ज्ञानकी सहायतासे पहले भाव शुद्ध करके तब कर्म्म करना होता है। परन्तु इस दूसरी दशामें उससे विपरीत बात बनती है। इसमें पहले क्रियाका अधिकार, उससे शक्तिका परिणाम और तदनन्तर भावशुद्धि होकर जीवको मुक्तिका मार्ग मिल जाता है। सात्त्विक कर्म्मद्वारा अथवा देवताओंके प्रिय कर्म्मद्वारा सात्त्विक शक्ति उत्पन्न होती है, तदनन्तर सात्त्विक शक्तिके परिणाममें शुद्धभाव उत्पन्न होकर धार्म्मिक व्यक्ति मुक्तिराज्यकी ओर अग्रसर होता है; यही दूसरा क्रम है। प्रधानतः उपासनाकाण्डमें पहला क्रम और कर्म्मकाण्डमें भावशुद्धिका दूसरा क्रम काममें लाया जाता है। श्रीकृष्णके उपासक प्रथम भावशुद्धि द्वारा ब्रजलीलाको शुद्धभावमय समझ कर ब्रजकी अतिमाधुरीपूर्ण गोपीलीलामय कृष्णचरित्रकी चिन्ता करते हुए

कृष्णसायुज्यको प्राप्त करते हैं इस दशामें भावका अवलम्बन प्रथम है; यह पहले क्रमका उदाहरण है। दूसरे क्रमका ज्वलन्त उदाहरण यह है कि हठयोगके वज्रोली साधनमें या इसी प्रकारके अन्य तान्त्रिक साधनोंमें ऊर्द्ध्वरेता होनेके लिये योगी युवतिका रज आकर्षण करके अपने शरीरमें धारण करता है। उस समय योगीको रूपान्तरसे युवति स्त्रीका योगक्रियाके साथ संग करना पड़ता है। इस प्रकारसे पक्षान्तरमें अपवित्र कर्म्मरूपी स्त्रीसंग करते हुए और शुद्ध स्त्रीके रजको अपने शरीरमें धारण करते हुए अपने शरीरकी तामसिक क्रिया शक्तिको शुद्ध करना होता है। वज्रोली आदि साधन द्वारा वीर्य्यधारणकी शक्ति प्राप्त करके शरीरकी शुद्धि, शारीरिक शक्तिकी शुद्धि और उसके द्वारा मानसिक शक्ति प्राप्त करते हुए मनकी एकाग्रता साधक प्राप्त कर लेता है। तब क्रियाशुद्धि द्वारा शुद्धशक्ति-प्राप्ति और शुद्ध शक्तिकी प्राप्ति द्वारा अन्तःकरणको शुद्धभावसे पूर्ण योगी कर सकता है, और अन्तःकरणको शुद्धभावापन्न करके योगी मुक्ति-पथमें अग्रसर हो जाता है। अतः भाव दोनों प्रकारसे परम सहायक हैं। भावसे शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होकर धार्म्मिक व्यक्तिकी कैसी उन्नति होती है, उसका विस्तारित विवरण सूर्य्यगीतासे नीचे दिया जाता है :—

"अचिन्तनीयमव्यक्तमवाङ्मनसगोचरम् ।
तत्त्वातीतं निर्विकारं चिन्मयं सृष्टितः परम् ॥
श्रद्धां विना ममेदं हि रूपं नैवानुभूयते ।
श्रद्धा च सात्त्विकी विप्रा जायते भावशुद्धितः ॥
चित्तैकाग्र्यं भावशुद्ध्या तस्माज्ज्ञानं विकाशते ।
ततो ह्युत्पद्यते श्रद्धा सात्त्विकी ज्ञानमूलिका ॥
अतो विद्वद्भिराख्याता भावशुद्धेः प्रधानता ।
यथा यथा साधकस्य चित्तं श्रद्धोपगूहति ॥
तथा तथा भावशुद्धिः सन्निधत्तेऽस्य चेतसि ।
श्रद्धया भावनिष्पत्तिर्भावश्चोन्नतिसाधकः ॥
फलसिद्धिर्नृणां शुद्धभावमूला निगद्यते ।
भावशुद्धिं विना जुष्टधर्माङ्गेष्वेकमप्यलम् ॥

न प्रसूते फलं दिव्यं पुंसामित्येष निश्चयः।
धर्माङ्गेषु च सर्वत्र भावशुद्धिरपेक्षिता॥
ततश्चैतद्विचारोऽयं स्पष्टं प्रस्तूयते मनाक्।
यदि कोऽपि नरो दानधर्मसाधनतत्परः॥
फलप्रत्युपकाराप्तिभावमालिन्यदूषितः।
अपि दद्यात्स्वर्णकोटिं ततोऽप्यधिकमेव वा॥
किन्त्वैहिकसुखात्स्वर्गाद्वाऽन्यन्नो लभते फलम्।"

अचिन्तनीय, अव्यक्त, वाणी और मनसे अगोचर, तत्त्वातीत, निर्विकार, चिन्मय और सृष्टिसे परे, इस प्रकारका जो मेरा रूप है उसका अनुभव बिना श्रद्धाके नहीं हो सकता। हे विप्रो! भावशुद्धिसे सात्त्विकी श्रद्धा उत्पन्न होती है। भावशुद्धिसे पहले चित्तकी एकाग्रता होती है। और उसीसे ज्ञानका प्रकाश होता है। फिर जिसके मूलमें ज्ञान है वह सात्त्विकी श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसीसे विद्वानोंने भावशुद्धिकी प्रधानताका वर्णन किया है। जैसे जैसे साधकके चित्तको श्रद्धा आश्रय करेगी, वैसे वैसे उसके चित्तमें भावशुद्धिकी मात्रा बढ़ेगी। श्रद्धासे भावकी पूर्णता होती है और भाव ही उन्नतिविधायक है। मनुष्योंको फलसिद्धि शुद्धभाव द्वारा प्राप्त होती है। भावशुद्धिके बिना आचरित कर्मका एक भी अङ्ग मनुष्योंको महत्फलदायक नहीं होगा, इसमें सन्देह नहीं है। सभी धर्माङ्गोंकी साधनामें भावशुद्धिकी अपेक्षा रहती है। यहाँ पर इस सम्बन्धमें स्पष्ट विचार किया जाता है। यदि कोई दान-धर्मके साधनमें तत्पर पुरुष फल अथवा प्रत्युपकारकी प्राप्तिरूप भावमालिन्यसे दूषित होकर करोड़ों या इससे अधिक मोहरें दान करे तो उसे इहलोकमें सुख अथवा स्वर्गप्राप्तिके अर्थ कोई फल नहीं होता।

"अथैका ताम्रमुद्रापि सुगुप्तं शुद्धभावतः॥
दीयते चेत्सापि दातुः साक्षान्मोक्षाय कल्पते।
एवं तपोऽपि यद्यत्र दम्भार्थं यशसेऽथवा॥
निषेव्यते तदा नेयात् तद्दिव्यफलहेतुताम्।
तपस्तदेव तप्तञ्चेदात्मोन्नतिधिया नरैः॥

निर्माय शुद्धभावेन तत्तु मुक्त्यै प्रजायते।
एवमेव सदाचारविषयेऽपि विचिन्त्यताम्॥
यथा कोऽपि यशस्कामः शीलं व्यञ्जयितुं निजम्।
छद्मना विनयी भूत्वा प्रणमेद्बहुशस्तदा॥
तत्सर्वं राजसोद्देश्यसंसिद्ध्या एव केवलम्।
किन्तु सत्त्वाश्रितः कोऽपि पूज्यत्वेन सतो नमेत्॥
स तदाऽऽध्यात्मिकीं विन्देदुन्नतिं सत्यशीलवान्॥
इत्थमेव च यः कश्चित्कर्मसाधनतत्परः॥
सात्त्विकाञ्जपयागादीन् दुष्टभावनयाऽऽचरेत्।
एतेभ्यः सात्त्विकेभ्योऽपि नीचभावाश्रयादसौ॥
केवलां राजसीमेव सिद्धिं समधिगच्छति।"

यदि भावशुद्धिपूर्वक एक ही पैसा गुप्तरूपसे दान किया जाय तो वह पैसा दाताको साक्षात् अर्थात् एकदम मोक्ष प्राप्त करा सकता है। ऐसे ही यदि दम्भ दिखाने अथवा यश फैलानेकी इच्छासे कोई तप करे, तो उसको तपका दिव्य फल कभी प्राप्त नहीं होगा। वही तप यदि मनुष्य आत्मोन्नति होनेकी बुद्धिसे कपटरहित होकर शुद्धभावसे करे तो वह मुक्तिका कारण होता है। इसी तरह सदाचारके विषयमें भी सोचना चाहिये। मान लो, कोई यश-की इच्छा रखनेवाला मनुष्य अपना शील दिखानेके लिये कपटसे नम्र होकर बहुत प्रणाम किया करे तो वह केवल राजसिक उद्देश्यकी सिद्धि प्राप्त कर सकेगा। किन्तु जो सच्चा शीलवान् होगा, वह सत्त्वगुणके आश्रयसे सज्जनोंको पूज्य मानकर प्रणाम करेगा और उससे आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करेगा। इसी प्रकार कोई कर्मसाधनमें तत्पर मनुष्य यदि सात्त्विक जप, याग आदि कर्मोंको दुष्टभावनासे करे, तो उस नीचभावके आश्रयसे वे सात्त्विक कर्म भी केवल राजसिक सिद्धिके देने-वाले बन जायँगे।

"येन चेत्पूतभावेनाऽऽध्यात्मिकोन्नतिमीप्सुना॥
विहितः पशुयागोऽपि नूनं स्यात्तस्य मुक्तये।
भक्त्युपासनयोर्यानि साधनानीह तान्यपि॥

यथार्थफलदानि स्युर्भावशुद्ध्यैव केवलम् ।
यश्च निष्कामभावेन देवपित्राद्युपासनाम् ॥
कुर्यात्तदा ततोऽप्यस्य मुक्तिरेवोपपद्यते ।
सकामश्चेच्चरेद् ब्रह्मोपासनामपि मानवः ॥
भावमालिन्यतः सापि स्वर्गमात्रप्रदायिनी ।
ज्ञानकाण्डगता येयं शास्त्रशिक्षाप्रणालिका ॥
तत्राप्येतत् तत्त्वमुक्तं मुनिवर्या विबुध्यताम् ।
स्थूलदृष्ट्या विवादाय ये वै शास्त्राण्यधीयते ॥
तेषां शाब्दं ज्ञानमेतद्भार एव निरर्थकम् ।
यः सद्वादाय शास्त्रार्थाभ्यासी जिज्ञासुभावतः ॥
सोऽवश्यं प्राप्तविज्ञानः स्वात्मभावं प्रपद्यते ।
योगसाधनमध्ये तु भाव एव विशिष्यते ॥"

आध्यात्मिकी उन्नति चाहनेवाला मनुष्य पवित्रभावसे यदि पशुयाग भी करे तो वह उसकी मुक्तिका कारण होगा। भक्ति और उपासनाके जितने साधन हैं, वे सब केवल भावशुद्धिसे ही यथार्थ फल प्रदान करते हैं। जो निष्काम भावसे देवता, पितर आदिकी उपासना करता है, उसकी उसीसे मुक्ति अवश्य ही होती है। सकाम होकर मनुष्य यदि ब्रह्मोपासना भी करे तो भाव-मालिन्यके कारण वह केवल स्वर्ग देनेवाली होगी। हे मुनिगण! ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत जो शास्त्रशिक्षाकी प्रणाली है उसमें भी यही तत्त्व कहा गया है, सो आप जान लें। विवादके लिये ही स्थूल दृष्टिसे जो शास्त्र पढ़ते हैं, उनका शब्द-पाण्डित्य केवल भारभूत और व्यर्थ है। जो उत्तम वादके लिये जिज्ञासु बुद्धिसे शास्त्रार्थोंका अभ्यास करता है वह अवश्य ही विज्ञान प्राप्त कर आत्मभावमें पहुँच जाता है। योगसाधनोंमें तो भाव ही प्रधान है।

"योगसिद्धिरलभ्यैव भावालम्बनमन्तरा ।
आध्यात्मिक्युन्नतिप्राप्तावुपाया ये प्रकीर्तिताः ॥
तेष्वप्ययं भाव एवमतः प्राधान्यतो बुधाः ।
समाधिविषयेऽप्यस्याऽवश्यम्भावो ह्यपेक्षितः ॥

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्यो द्विधा मतः ।
तत्र पूर्वमतिक्रम्य सविकल्पं हि साधकः ॥
निर्विकल्पसमाधौ च प्रविविक्षुर्यदा भवेत् ।
तदा सात्त्विकभावस्य साहाय्येनैव तत्र सः ॥
साफल्यं लभते नूनं न तु भावाश्रयं विना ।
उक्तश्च प्राक् श्रद्धयैव भाव उन्नतिमश्नुते ॥
तथैव चास्य संशुद्धिर्वृद्धयोदेत्यसंशयम् ।
यदा च पूर्णरूपेण भावशुद्धिः प्रजायते ॥
तदा नृणां पराभक्तिः स्वतः एव सुसिद्ध्यति ।
श्रद्धेयं सुतरां प्रत्याहारभूम्युपयोगिनी ॥"

भावका अवलम्बन किये बिना योगसिद्धि अप्राप्य है। हे विज्ञो ! आध्यात्मिक उन्नतिके जो उपाय कहे गये हैं, उनमें भी भावकी ही प्रधानता रक्खी गई है। समाधिके विषयमें तो भावकी अधिक आवश्यकता रहती है। समाधि सविकल्प और निर्विकल्प, दो प्रकारकी कही गई है। उसमेंसे पहली सविकल्प समाधिको अतिक्रमण करके जो साधक निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश करना चाहता है, वह सात्त्विक भावकी सहायतासे ही सफलता प्राप्त कर सकता है। भावका आश्रय लिये बिना सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। पहले कहा गया है कि श्रद्धासे ही भावकी उन्नति होती है; उसी श्रद्धाकी वृद्धिसे भावशुद्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं है। जब पूर्णरूपसे भावशुद्धि हो जाती है, तब मनुष्योंको पराभक्ति स्वयं प्राप्त होती है। यह श्रद्धा प्रत्याहार भूमिमें उपकारक है।

"भावश्च धारणाभूमावुपकारकताङ्गतः ।
एवमेव ध्यानभूमौ भक्तिः समवलम्ब्यते ॥
तस्माच्छ्रद्धैव सर्वेषां मूलमादौ न संशयः ।
एतदुक्तं मया भावतत्त्वं संजुषते तु यः ॥
सन्तः ! विशुद्धभावोऽसौ परं श्रेयोऽधिगच्छति ।
अतो वै योगिनो यस्य भावशुद्धिरजायत ॥

अन्तःकरणमध्येऽथ शास्त्रे श्रद्धा तथा गुरौ ।
ईदृशो गुरुभक्तस्य श्रद्धालोस्तत्त्वदर्शिनः ॥
भावशुद्ध्या पवित्रान्तःकरणस्य च योगिनः ।
चिन्मयरूपमव्यक्तं व्यक्तं मे भवति ध्रुवम् ॥
ईक्षते स तदानीं मां जङ्गमस्थावरात्मके ।
स्थूलसूक्ष्मोभये सर्गे सूत्रे मणिगणं यथा ॥"

भाव धारणाभूमिमें उपकारक है। इसी तरह ध्यानभूमिमें भक्तिका अवलम्बन किया जाता है। अतः श्रद्धा ही सबका मूल है, यह निःसन्देह है। हे सत्पुरुषो ! यह जो मैंने भावतत्त्व कहा है, इसके आचरणसे साधककी भाव-शुद्धि होकर वह परम कल्याणको प्राप्त करता है। सारांश यह कि जिस योगीकी भावशुद्धि हो जाय और जिसके अन्तःकरणमें शास्त्र तथा गुरुके प्रति श्रद्धा हो, उस गुरुभक्त, श्रद्धालु, तत्त्वदर्शी योगीको जिसका कि अन्तःकरण भावशुद्धिसे पवित्र हो गया है, मेरा अव्यक्त चिन्मय स्वरूप शीघ्र व्यक्त हो जाता है। तब वह इस स्थावरजङ्गमात्मक और स्थूलसूक्ष्मात्मक उभय प्रकारकी सृष्टिमें मुझे सूत्रमें पिरोये हुये मणियोंकी तरह देखता है।

यही भावकी सहायतासे भावातीत परमानन्दमय परमपदमें प्रतिष्ठित होनेका सूक्ष्म विज्ञान है। अब नीचे पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार कार्यब्रह्मरूपी इस जगत्के सर्वत्र अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत भाव किस किस प्रकारसे प्रकट होते हैं, सो कुछ दृष्टान्त द्वारा बताया जाता है। महाभारतके अश्वमेध-पर्वान्तर्गत अनुगीतापर्वमें तथा शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ऊपर उक्त त्रिविध भावोंके विषयमें अनेक वर्णन मिलते हैं, यथाः—

"आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तत्राधिदैवतम् ॥
द्वितीयं मारुतो भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुतम् ।
स्प्रष्टव्यमधिभूतं च विद्युत्तत्राधिदैवतम् ॥
तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम् ॥

चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम् ॥
पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम् ॥
पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
गन्तव्यमधिभूतश्च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥
पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथा तत्त्वार्थदर्शिनः ।
विसर्गमधिभूतश्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥
उपस्थोऽध्यात्ममित्याहुर्यथा योगप्रदर्शिनः ।
अधिभूतं तथानन्दो दैवतं च प्रजापतिः ॥
हस्तावध्यात्ममित्याहुर्यथा संख्यानदर्शिनः ।
कर्त्तव्यमधिभूतं तु इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥
वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथाश्रुतिनिदर्शिनः ।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥
चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रूपमत्राधिभूतं तु सूर्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥
श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
शब्दस्तत्राधिभूतं तु दिशश्चात्राधिदैवतम् ॥
जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रस एवाधिभूतं तु आपस्तत्राधिदैवतम् ॥
घ्राणमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
गन्ध एवाधिभूतं तु पृथिवी आधिदैवतम् ॥
त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ।
स्पर्शमेवाधिभूतं तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥
मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथाशास्त्रविशारदाः ।

मन्तव्यमधिभूतं तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥
आहंकारिकमध्यात्ममाहुस्तत्त्वनिदर्शिनः ।
अभिमानोऽधिभूतं तु बुद्धिश्चात्राधिदैवतम् ॥
बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदभिदर्शिनः ।
बोद्धव्यमधिभूतं तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥"

पञ्चभूतोंमेंसे आकाश प्रथम भूत है; श्रोत्र उसका अध्यात्म, शब्द अधिभूत और दिग्देवता अधिदैव है। वायु द्वितीय भूत है; त्वक् उसका अध्यात्म; स्पृश्य विषय अधिभूत और विद्युद्देवता अधिदैव है। अग्नि तृतीय भूत है, चक्षु उसका अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्यदेवता अधिदैव है। चतुर्थ भूत जल है ; जिह्वा उसका अध्यात्म, रस अधिभूत और सोमदेवता अधिदैव है। पृथिवी पञ्चम भूत है; प्राण उसका अध्यात्म, गन्ध अधिभूत और वायुदेवता अधिदैव है। पञ्चकर्मेन्द्रियोंमेंसे पादेन्द्रिय अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत है और विष्णु अधिदैव है। वायु अध्यात्म है, विसर्ग अधिभूत है और मित्र-देवता अधिदैव है। उपस्थ अध्यात्म है, आनन्द अधिभूत है और प्रजापति अधिदैव है। पाणि अध्यात्म है, कर्तव्य अधिभूत है और इन्द्र अधिदैव है। वाक् अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और वह्नि अधिदैव है। पञ्चज्ञानेन्द्रियोंमें से चक्षु अध्यात्म है, रूप अधिभूत है और सूर्य अधिदैव है। श्रोत्र अध्यात्म है, शब्द अधिभूत है और दिग्देवता अधिदैव है। जिह्वा अध्यात्म है, रस अधि-भूत है और आपोदेवता अधिदैव है। घ्राण अध्यात्म है, गन्ध अधिभूत है और पृथिवी देवता अधिदैव है। त्वक् अध्यात्म है, स्पर्श अधिभूत है और पवनदेवता अधिदैव है। मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्रदेवता अधिदैव है। अहङ्कार अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत है और बुद्धिदेवता अधिदैव है। बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य विषय अधिभूत है और क्षेत्रज्ञ आत्मा अधिदैव है। इस प्रकार-से कर्म-ब्रह्मरूपी विराट् शरीरके सर्वत्र तीन तीन भाव धीर ज्ञानी पुरुष संयमके द्वारा देख सकते हैं। भावतत्त्वके सम्यक् परिज्ञानसेही साधक भावा-तीत परमपदको प्राप्त करके अनायास संसारसिन्धुसे अतिक्रम कर सकता है। इस विषयमें मुक्तिके साथ भावतत्त्वका अलौकिक सम्बन्ध श्रीविष्णुगीतामें जो कहा गया है, सो यहाँ पर्य्यालोचना करने योग्य है।

तत्त्वज्ञानस्य यन्मूलं सङ्क्षेपाच्छृणुतामराः ।
अवश्यमेव विज्ञेयमित्येतावत्सुरर्षभाः ॥
प्रपञ्चमयदृश्येऽस्मिन् नास्ति किञ्चित्त्रिभावतः ।
रहितं वस्तु भावो हि कारणं गुणदर्शने ॥
प्रकृतिस्त्रिगुणा या मे प्रथमं त्रीन् गुणान् स्वके ।
स्वस्मिन् सम्यक् विलय्यैव तदा सा मयि लीयते ॥
आदौ देवाः ! त्रयो भावाः स्थिताः स्वस्वस्वरूपतः ।
पश्चादद्वैतरूपत्वमाश्रयन्तीति सम्मतम् ॥
गुणदर्शनहेतुर्हि तस्माद्भावः प्रकीर्त्तितः ।
साधकानां सुराः ! भावो ह्यवलम्बनमन्तिमम् ॥

श्री भगवान्ने कहा :—हे देवगण ! मैं संक्षेपसे तत्त्वज्ञानका मूल बतला दूँ, सुनो । इतना अवश्य आप लोगोंको जानना चाहिए कि इस प्रपंचमय दृश्यमें कोई पदार्थ भी त्रिभावसे रहित नहीं है; क्योंकि भावही गुणदर्शनका कारण है। त्रिगुणमयी मेरी प्रकृति पहले तीन अपने गुणोंको अपने आपमें लय करके पीछेसे स्वयंही मुझमें लय हो जाती है। उस समय तीनों भाव प्रथम सत्, चित् और आनन्दरूपसे अलग रहकर पीछे एक अद्वैतरूपको प्राप्त करते हैं, यह निश्चय है, इस कारणसे भाव अन्तिम तत्त्व होकर गुणदर्शनका हेतु कहा गया है। हे देवगण ! मुमुक्षु साधकका अन्तिम अवलम्बन भाव ही है। सुतरां मुक्तिमार्गमें पहुँचनेपर सबसे अन्तिम और बड़ा अवलम्बन भाव ही है, इसमें सन्देह नहीं। यही त्रिभावतत्त्वका आर्य्यशास्त्र वर्णित गूढ़ रहस्य है।

पञ्चम समुल्लासका नवम अध्याय समाप्त हुआ ।

———

कर्म्मतत्त्व

कर्म्मतत्त्व अतिगहन और जटिल है। कर्म्मतत्त्वके विना समझे न सृष्टि प्रकरण समझमें आता है, न जन्मान्तरवादका रहस्य जान पड़ता है, न सूक्ष्म जगत्के साथ स्थूलजगत्का सम्बन्ध जाना जाता है और न मुक्तितत्त्वका गम्भीर विज्ञान हृदयङ्गम हो सकता है। कर्म्म ही सृष्टि, सृष्टिधारक धर्म्म और मुक्तिका कारण है, इस कारण कर्म्मतत्त्वको अतिविचारपूर्वक समझना उचित है। कर्म्म-विज्ञानके मर्म्मप्रकाशक श्रीभरद्वाजकर्म्ममीमांसादर्शनका सिद्धान्त यह है :—

"प्राकृतिकस्पन्दः क्रिया"

संस्कारक्रिये बीजाङ्कुरवत्"

प्रकृतिके स्पन्दनको क्रिया कहते हैं और संस्कारके साथ क्रिया अर्थात् कर्म्मका वैसाही सम्बन्ध है जैसा बीजके साथ वृक्षका सम्बन्ध हुआ करता है। श्रीभगवान्ने गीतोपनिषद्में कहा है :—

"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः।"

भूतोंके उत्पन्न करनेकेलिए जो प्रकृतिका त्याग है उसको कर्म्म कहते हैं। कर्म्मके स्वरूप निर्णयके लिए ये दोनों ही विज्ञान अतिगहन हैं और एकही विषयको कहते हैं। इस दार्शनिक विज्ञानको समझनेपर यह स्पष्टरूपसे जाना जायगा कि दोनों ही एक ही सिद्धान्तको बताते हैं, केवल पूर्वापर सम्बन्ध ही की पृथक्ता है।

जब ब्रह्मप्रकृति महामाया ब्रह्ममें लीन रहती है उसीको साम्यावस्था प्रकृति कहते हैं। प्रकृतिकी वह स्पन्दनरहित शान्त अवस्था है। जब प्रकृति ब्रह्मसे अलग होकर द्वैतरूपको धारण करती है उस समय उसके सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण अलग अलग दिखाई देने लगते हैं उसीको दर्शनशास्त्रोंने प्रकृतिकी वैषम्यावस्था कहा है। तीनों गुणोंका स्वभाव है कि वे एकसे नहीं रहते। अर्थात् ब्रह्मसे अलग हुई प्रकृति शान्त नहीं रह सकती; वह उस समय परिणामिनी होती ही रहती है। यही प्राकृतिक परिणाम कर्म्मको उत्पन्न करता है और यही सृष्टिका कारण है। त्रिगुणमयी प्रकृतिका परिणामिनी होना स्वतः सिद्ध है, और प्रकृतिके स्पन्दनसे जो क्रिया उत्पन्न होती है उसीको कर्म्म कहते हैं। जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज उत्पन्न होता हुआ वृक्षसृष्टिप्रवाहको अवि-

च्छिन्न रखता है ठीक उसी प्रकार कर्म्मसे संस्कार और संस्कारसे कर्म्मकी धारा अविच्छिन्न बनी रहती है। यह धारा स्वतः ही बहती हुई जो चिज्जड़ग्रन्थि रूपी जीवसृष्टि स्वतः ही कर डालती है और जीवसृष्टि उत्पन्न करते समय जड़ चेतनमें मिलकर और चेतन जड़में मिलकर अथवा यों कहिए कि प्रकृति अपने मूल स्वभावका त्याग करके ब्रह्मकेन्द्रको छोड़कर एक दूसरे जीवकेन्द्रके साथ सम्बन्ध स्थापन कर लेती है, प्रकृतिके उसी स्पन्दनको अथवा उसके उसी त्यागको कर्म्म कहते हैं। इसी विषयको स्मृतियोंमें देवता और ब्रह्ममयी महादेवीके सम्वादरूपसे इस प्रकार कहा गया है :—

ममैवास्ति स्वरूपं हि कर्म्म पीयूषपायिनः।
वेदा वदन्ति कर्म्मास्ति ब्रह्मसारूप्यभागिति॥
सर्वद्वैतप्रपञ्चोऽयं कर्म्माधीनोऽस्त्यसंशयम्।
आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं दृश्यजातमथाखिलम्॥
ब्रह्माण्डान्तर्गतं सर्व्वं वहते कर्म्मनिघ्नताम्।
अव्यक्ताया दशायाश्च देवाः! व्यक्तदशोद्भवे॥
कर्म्मैव कारणं वित्त कर्म्मायत्तमतोऽखिलम्।
अतः कर्म्माधिकारोऽस्ति सर्वमूर्धन्यताश्रितः॥
अहंममेतिवद्भेदो यथा नास्ति दिवौकसः।
मन्मच्छक्त्योस्तथा कर्म्ममच्छक्त्योर्नास्ति भिन्नता॥
देवाः! उद्भावकं सत्त्व-तमसोः कर्म्म कथ्यते।
धर्म्मः सत्त्वप्रधानत्वादधर्म्मस्तद्विपर्य्ययात्॥
गूढं रहस्यं धर्मस्याऽधर्मस्याप्येतदेव हि॥

हे देवतागण! कर्म मेरा ही स्वरूप है और कर्म्म ब्रह्मरूप है ऐसा वेद कहते हैं। समस्त द्वैतप्रपञ्च और आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त दृश्यसमूह निःसन्देह कर्माधीन है। ब्रह्माण्डान्तर्गत सबही वस्तु कर्म्मके अधीन हैं। हे देवगण! अव्यक्त दशासे व्यक्त होनेमें कर्म्म ही कारण है कर्म्मही के अधीन सब कुछ है।

इसलिए कर्म्मका अधिकार सर्वोपरि है। हे देवगण! जैसे मुझमें और मेरी शक्तिमें 'अहं ममेतिवत्' भेद नहीं है, उसी प्रकार मेरी शक्ति और कर्ममें भेद नहीं है।

हे देवगण ! कर्म्मही सत्त्व और तमका उद्भावक होनेसे सत्त्वप्रधानतासे धर्म्म और तमःप्रधानतासे अधर्म्म कहाता है। धर्म्म और अधर्म्मका यही गूढ़ रहस्य है।

कर्म्मको जो ब्रह्म कहा है उसका तात्पर्य्य यही है कि कर्म्मही रूपान्तरमें धर्म्म और अधर्म्म बन जाता है। कर्म्म ही विश्वधारक धर्म्म होकर विश्वकी आकर्षण और विकर्षण शक्तिका सामञ्जस्य रखकर ब्रह्माण्डको चलाता है। कर्म्म ही अधर्म्म होकर जीवको नीचेकी ओर गिराता है और कर्म्म ही धर्म्मरूप होकर जीवको मुक्तिभूमिमें अग्रसर करता है, इसी कारण कर्म्मको ब्रह्मस्वरूप कहके शास्त्रोंने वर्णन किया है। कर्म्म प्रकृतिके त्रिगुणात्मक स्पन्दनसे उत्पन्न होकर तमकी ओरसे अविद्या बनकर जीवको फांसता है, पुनः वही कर्म्मतरंग जब कालान्तरमें सत्त्वकी ओर पहुँच जाता है तब वही विद्या बनकर जीवको मुक्त करके चिज्जड़ग्रन्थिभेदनद्वारा स्वस्वरूपमें पहुँचा देता है। अथवा यों कहा जाय कि कर्म्म अपने एक ओरके तरंगसे जीवप्रवाह उत्पन्न करता है और दूसरी ओरके तरंगसे जीवको मुक्तिपदमें पहुँचा देता है। अथवा यों कहिये कि प्रकृतिरूपी तरंगिणी नदीका एक तट जीव उत्पन्नकारी है और दूसरा तट जीवमुक्तिदायक है; उस नदीमें जो कर्म्मरूपी तरंग उठते हैं वे ही एक ओरसे जीवको बाँध डालते हैं और दूसरी ओरसे जाकर मुक्तकर देते हैं। कर्म्मके तीन भेद ये हैं।

जैवेशसहजाख्याभिस्त्रिधा कर्म्म विभिद्यते।
आश्रित्य सहजं कर्म्म भुवनानि चतुर्दश ॥
जायन्ते च विराट् सृष्टिः जङ्गमस्थावरात्मिका।
देवासुराधिकारेण द्विविधेन समन्वितम् ॥
सञ्जुष्टं नैकवैचित्र्यैर्भूतसङ्घैश्चतुर्विधैः।
सहजाख्यश्च कर्म्मैव ब्रह्माण्डं सृजते सुराः ॥
कर्म्मभूमर्त्यलोकं हि जैवं कर्म्म दिवौकसः।
विविधानधिकारांश्च मानवानां यथायथम् ॥
स्वर्नरकादिकान् भोगलोकांश्च सृजते पुनः।
मन्निघ्नं सहजं कर्म्म जैवं जानीत जीवसात् ॥
जीवाः सन्ति पराधीनाः सहजे कर्म्मणि स्वतः।
जैवे स्वाधीनतां यान्ति जीवाः कर्म्मणि निर्ज्जराः ! ॥

सन्त्यतो मानवाः सर्व्वे पुण्यपापाधिकारिणः ।

कर्म्म साधारणतः जैव, ऐश और सहज रूपसे तीन भेदोंमें विभक्त है। इनमें जैव कर्मके जो दो भेद हैं, यथा शुद्धकर्म और अशुद्धकर्म उनमेंसे शुद्ध कर्मके नित्य, नैमितिक, काम्य, अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी छः भेदोंका वर्णन धर्म्म और कर्म्मयज्ञ नामके अध्यायोंमें आ चुका है। चतुर्दशभुवन और उनमें स्थावर जंगमात्मक विराट् सृष्टिका प्रकट होना सहज कर्म्मके अधीन है। सहज कर्म्मही चतुर्विध भूतसङ्घ और देवासुररूपी द्विविध अधिकार सहित अनन्त वैचित्र्यपूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टि करता है। पुनः हे देवगण! जैवकर्म्मके द्वारा ही कर्मभूमि मनुष्यलोक मनुष्योंके यथायोग्य विविध अधिकार और स्वर्ग नरकादि भोगलोककी सृष्टि हुआ करती है। सहज कर्म्म मेरे अधीन और जैवकर्म्म जीवोंकी अधीन है सो जानो। सहज कर्म्ममें जीव स्वतः पराधीन है और हे देवगण! जैवकर्म्ममें जीव स्वाधीन है। इस कारण मनुष्य सब पापपुण्यके भोगकी अधिकारी होते हैं।

आश्चर्यं विचित्रमेवेदमैशं कर्म्म किमप्यहो।
साहाय्यमुभयोरेव कर्म्मैतत् कुरुते किल ॥
केवलं मम कर्म्मैतदवतारेषु जायते।
देवाः! ममावताराणां भेदान्नैकान्निबोधत ॥
आध्यात्मिकाधिदैवाधिभूतशक्तियुतास्त्रयः।
शक्तिद्वयेन सञ्जुष्टो युक्तः शक्तित्रयेण च ॥
एवं पञ्चविधा ज्ञेया अवतारास्तथैव च।
अंशावेशावतारौ हि तथा पूर्णावतारकः ॥
एवं बहुविधास्सन्ति ह्यवतारा दिवौकसः।
एते सर्वे प्राप्नुवन्ति निघ्नतामैशकर्मणः ॥

इन दोनोंके अतिरिक्त ऐशकर्म कुछ विचित्र ही हैं। ऐशकर्म उभय सहायक है और वह कर्म केवल मेरे अवतारोंमें ही प्रकट होता है। हे देवगण! मेरे अवतारोंके अनेक भेद जानो। मेरे अध्यात्मशक्तियुक्त, अधिदैवशक्तियुक्त, अधिभूत शक्तियुक्त, और इनमेंसे दो शक्तियुक्त और इनमेंसे तीन शक्तियोंसे युक्त अवतार, इस प्रकारसे पांच प्रकारके अवतार जानने चाहिये और अंशावतार,

आवेशावतार और पूर्णावतार, हे देवगण! इस प्रकारसे मेरे अवतारोंके अनेक भेद हैं। ये सब ऐशकर्मके अधीन हैं।

दैवीं शक्तिं पराभूय प्रभवत्यासुरी यदा ।
अप्यज्ञानं जगत्यत्र ज्ञानज्योतिर्विलुम्पति ॥
असाधवो यदा साधून् क्लिश्नन्ति सहसा सुराः ! ।
धर्मग्लानिरधर्मस्य वृद्ध्या च जायते यदा ॥
जायन्ते तु यदा मर्त्या मां विस्मृत्य निरन्तरम् ।
विषयासक्तचेतस्का इन्द्रियासक्तलोलुपाः ॥
जीवानां शं तदा कर्तुमवतीर्णा भवाम्यहम् ।
सुराः ! समष्टिसंस्कारो हेतुरेवात्र विद्यते ॥

जब जब दैवीशक्तिको परास्त करके आसुरीशक्ति प्रबल होती है, जब संसारमें ज्ञानको आच्छन्न करके अज्ञान प्रबल हो जाता है, हे देवगण! जब असाधुगण साधुओंको सहसा क्लेश पहुँचाने लगते हैं, जब अधर्म बढ़नेसे धर्मकी ग्लानि होने लगती है और जब मनुष्यगण मुझको भूलकर विषयोन्मत्त और इन्द्रियपरायण हो जाते हैं तब जीवोंके कल्याण करनेके लिये मैं अवतीर्ण होती हूँ। हे देवगण! समष्टिसंस्कार ही इसमें कारण है।

प्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दनसे सहज कर्म अपने आप ही उत्पन्न होता है और उसी स्वभावके अधीन होकर सहज कर्मसे जीव उत्पन्न होता हुआ उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इन चार प्रकारके भूतसंघकी चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करता हुआ आगे बढ़ता है जीवप्रवाह उत्पन्न करना और इन चौरासी लक्ष जड़योनियोंमें उसे आगे बढ़ाना, यह सहज कर्मका कार्य है। जब जीव पूर्णावयव होकर अपने पांचो कोषोंको पूर्ण करता हुआ मनुष्ययोनिमें आ जाता है, तब पिण्डका ईश्वर बन जानेसे और अपनी इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकारी बन जानेसे वह पाप पुण्यका अधिकारी बनकर जैवकर्मका अधिकारी बन जाता है। यही जैवकर्म मनुष्ययोनिधारी जीवको प्रेतलोक, नरकलोक, स्वर्गलोक और पितृलोक आदि लोकोंमें घुमाकर आवागमनचक्रमें परिभ्रमण कराता रहता है। और सृष्टिकी रक्षाकेलिये देवतालोग जो कार्य करते हैं, और अवतारादि जो कार्य करते हैं, वे सहज कर्म और जैवकर्मके सहायक ऐशकर्मके वशीभूत होकर किया करते हैं।

यही कर्मके तीन भेदोंका गूढ़ विज्ञान है। सब कर्म ही बीज और अंकुरके समान संस्कारसे सम्बन्ध युक्त हैं, उसका विज्ञान यह है—

बीजश्च कर्म्मणो ज्ञेयं संस्कारो नात्र संशयः।
मम प्रभावतो देवाः! व्यष्टिसृष्टिसमुद्भवे॥
चिज्जडग्रन्थिसम्बन्धाज्जीवभावः प्रकाशते।
स्थानं तदेव संस्कार-समुत्पत्तेर्विदुर्बुधाः॥
सृष्टेः संस्कार एवास्ति कारणं मूलमुत्तमम्।
प्राकृतोऽप्राकृतश्चैव संस्कारो द्विविधो मतः॥
स्वाभाविको हि भो देवाः! प्राकृतः कथ्यते बुधैः।
अस्वाभाविकसंस्कारस्तथाऽप्राकृत उच्यते॥
स्वाभाविकोऽस्ति संस्कारस्तत्र मोक्षस्य कारणम्।
अस्वाभाविकसंस्कारो निदानं बन्धनस्य च॥
स्वाभाविको हि संस्कारस्त्रिधा शुद्धिं प्रयच्छति॥

कर्मका बीज संस्कार जानो, इसमें सन्देह नहीं। हे देवगण! मेरे प्रभावसे व्यष्टिसृष्टि होते समय चित् और जड़की ग्रन्थि वन्धकर जीवभावका प्राकट्य होता है, वही संस्कार उत्पत्तिका स्थान है ऐसा विज्ञगण समझते हैं। संस्कार ही सृष्टिका प्रधान मूलकारण है। संस्कार दो प्रकारका होता है। प्राकृत और अप्राकृत, हे देवगण! विज्ञलोग प्राकृतको स्वाभाविक और अप्राकृतको अस्वाभाविक कहते हैं। उनमें स्वाभाविक संस्कार मुक्तिका कारण और अस्वाभाविक संस्कार बन्धनका कारण होता है। स्वाभाविक संस्कार त्रिविध शुद्धि देते हैं।

देवाः! षोड़शभिः सम्यक् कलाभिर्मे प्रकाश्यते।
मुक्तिप्रदोऽद्वितीयोऽपि संस्कारः प्राकृतो ध्रुवम्॥
साहाय्यात्षोडशानां मे कलानां कर्म्मपारगाः।
ऋषयः श्रौतसंस्कारैः शुद्धिं षोडशसङ्ख्यकैः।
आर्य्यजातेर्विशुद्धाया ररक्षुर्यत्नतः खलु॥
अस्वाभाविकसंस्कारा जीवान् बध्नन्ति निश्चितम्।

अनन्तास्तस्य विज्ञेया भेदा बन्धनहेतवः ॥
स्वाभाविकी यदा भूमिः संस्कारस्य प्रकाशते।
यच्छन्त्यभ्युदयं नृभ्यो दद्यान्मुक्तिमसौ क्रमात् ॥
एतावच्छ्रौतसंस्कार रहस्यमवधार्य्यताम्।
वेद्या भवद्भिरप्येषा श्रुतिर्देवाः! सनातनी ॥
संस्कारेष्वहमेवास्मि वैदिकेष्वखिलेष्वहो!
स्वसम्पूर्णकलारूपैस्तन्नृन् स्वाभिमुखं नये ॥

ब्रह्ममयी महादेवी कहती हैं कि हे देवगण! स्वाभाविक संस्कार अद्वितीय और मुक्तिप्रद होनेपर भी वह मेरी षोडश कलाओंसे भलीभाँति निश्चय ही प्रकाशित होता है। मेरी षोडश कलाओंको अवलम्बन करके कर्म्मके पारदर्शी ऋषियोंने वैदिक षोडश संस्कारोंसे पवित्र आर्यजातिको यत्न पूर्वक शुद्ध रक्खा है। अस्वाभाविक संस्कार जीवोंको नियमित बाँधा ही करते हैं, उनके बन्धन कारक भेद अनन्त हैं। स्वाभाविक संस्कारकी भूमि जब प्रकट होती है तो वह क्रमशः मनुष्योंको अभ्युदय प्रदान करती हुई अन्तमें मुक्ति देती है। हे देवतागण! आपलोग यही वैदिक संस्कारका रहस्य और सनातनी श्रुति समझें। सब वैदिक संस्कारोंमें मैं ही अपनी पूर्ण कलारूपसे विद्यमान हूँ। अतः अपनी ओर मनुष्योंको आकर्षित करती हूँ।

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं तथा।
जातकर्म्म तथा नामकरणञ्चान्नप्राशनम् ॥
चूडोपनयने ब्रह्मव्रतं वेदव्रतं तथा।
समावर्त्तनमुद्वाहोऽग्न्याधानं विबुधर्षभाः ॥
दीक्षा महाव्रतश्चान्त्यः संन्यासः षोऽशो मतः।
संस्कारा वैदिका ज्ञेया उक्त षोडशनामकाः ॥
अन्ये च वैदिकाः स्मार्त्ताः पौराणास्तान्त्रिकाश्च ये।
एषु षोडशसंस्कारेष्वन्तर्भुक्ता भवन्ति ते ॥
प्रवृत्ते रोधकास्तत्र संस्कारा अष्ट चादिमाः।
अन्तिमा अष्ट विज्ञेया निवृत्तेः पोषकाश्च ते ॥

अतो विवेकसम्पन्नः संन्यासी विमलाशयः।
ज्ञानाब्धिपारगो देवाः! श्रद्धेयो भवतामपि॥
पूर्णं प्रकाश्य संन्यासे संस्कारः प्राकृतो मम।
हेतुत्वं वहते मुक्तेर्मानवानामसंशयम्॥

उक्त षोडश वैदिक संस्कारोंके हे देवतागण! नाम ये हैं:—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकरण, उपनयन, ब्रह्मव्रत, वेदव्रत, समावर्तन, उद्वाह, अग्न्याधान, दीक्षा, महाव्रत और अन्तिम अर्थात् सोलहवाँ संन्यास है। अन्यान्य वैदिक, स्मार्त पौराणिक और तान्त्रिक संस्कार इन्हीं सोलह संस्कारोंके अन्तर्भुक्त हैं। उनमें प्रथम आठ संस्कार प्रवृत्ति रोधक हैं और अन्तिम आठ संस्कार निवृत्ति पोषक हैं। इसी कारण हे देवतागण! विवेक सम्पन्न विमलाशय, और ज्ञानसमुद्रका पारगामी संन्यासी आप लोगोंका भी श्रद्धास्पद है। मेरे स्वाभाविक संस्कारका पूर्ण विकास संन्यास आश्रममें होकर मनुष्योंकी मुक्तिका कारण अवश्य बन जाता है।

स्वाभाविकोऽस्ति संस्कारो मूले सहजकर्मणः।
मूले तथाऽस्ति जैवस्य संस्कारोऽप्राकृतो मम॥
संस्कारो द्विविधश्चास्ते मूल ऐशस्य कर्म्मणः।
जानीतैतद्रहस्यं भोः श्रौतसंस्कारगोचरम्॥
निखिला एव संस्काराः साद्यन्ताः सम्प्रकीर्त्तिताः।
अतो जीवप्रवाहेऽस्मिन्न नाद्यन्तेऽपि जन्तवः॥
मुक्तिशीलास्तथोत्पत्तिशालिनः सन्ति सर्व्वथा।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिरमृतान्धसः॥
शुद्धिः संस्कारजन्यैव मुक्तेरास्ते सहायिका।
यतः संस्कारसंशुद्धेः कर्म्मशुद्धिः प्रजायते॥
कर्मशुद्धेस्ततो मुक्तिर्जायते विमलात्मनाम्।
अतः संस्कारजां शुद्धिं जगुः कैवल्यकारणम्॥

बीजमुत्पद्यते वृक्षाद्वृक्षो बीजात्पुनः पुनः ।
एवमुत्पद्यमानौ तौ बीजवृक्षौ निरन्तरम् ॥
सृष्टिक्रमानन्तभावमुभौ द्योतयतो यथा ।
एवं सृष्टिप्रवाहोऽयमनाद्यन्तोऽस्ति निर्ज्जराः ।

सहज कर्म्मके मूलमें स्वाभाविक संस्कार जैव कर्मके मूलमें अस्वाभाविक संस्कार और ऐश कर्म्मके मूलमें उभयसंस्कार विद्यमान है। यही श्रौतसंस्कारों का रहस्य जानो। सब संस्कार ही सादि-सान्त हैं। इस कारण जीवप्रवाह अनादि अनन्त होने पर भी जीव सर्व्वथा उत्पत्ति और मुक्तिशील है। हे देवगण! इसमें आप विस्मय न करें। संस्कारजन्य शुद्धि ही मुक्तिका सहायक है, क्योंकि संस्कार शुद्धिसे कर्म्मकी शुद्धि और कर्म्मशुद्धिसे निर्मल चित्तवालोंकी मुक्ति होती है। इसलिये संस्कारशुद्धिको कैवल्यका कारण कहते हैं। जिस प्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे पुनः पुनः बीज होते हुए बीज और वृक्ष सृष्टि कर्म्मकी अनन्तता निरन्तर प्रकाशित करते हैं, हे देवगण! वैसे ही सृष्टिप्रवाह अनादि अनन्त है।

यथा तु भर्ज्जितं बीजं नाङ्कुराय प्रकल्पते ।
तथैव कामनानाशात् खलु भर्ज्जितबीजवत् ॥
संस्कारा अपि जायन्ते सर्वथा मुक्तिहेतवः ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यतेऽदितिनन्दनाः ॥
गुणत्रयात्मिका देवाः विद्यते प्रकृतिर्मम ।
तस्याः स्पन्दादभूत्कर्म सहजातमतोऽस्ति तत् ॥
संस्कारो बीजतुल्योऽस्ति कर्मात्राङ्कुरसन्निभम् ।
अतो नष्टे हि संस्कारे कर्मणः संभवः कुतः ॥
जन्यत्वात्प्रकृतेः साक्षात् सहजं कर्म कोविदाः ।
उत्पत्तेरपि मोक्षस्य जीवानां कारणं विदुः ॥

परन्तु भर्ज्जित (भुना हुआ) बीज जिस प्रकार अङ्कुरोत्पत्ति करनेमें असमर्थ है उसीप्रकार कामनाके नाश हो जानेसे संस्कारसमूह भी भर्ज्जित बीजके सदृश होकर ही सर्व्वथा मुक्तिके कारण बन जाते हैं। हे देवगण! इसमें कुछ सन्देह नहीं है। मेरी प्रकृति त्रिगुणमयी होनेके कारण और कर्म्म प्रकृति-

स्पन्दनसे उत्पन्न होनेके कारण उसका सहजात है। संस्कार और कर्म बीज अंकुर सदृश हैं। इसलिये संस्कार नष्ट होने पर कर्मका होना कैसे सम्भव है। सहजकर्म प्रकृतिसे साक्षात् उत्पन्न होनेके कारण जीवोत्पत्तिका भी कारण है और जीव मुक्ति विधायक भी है इस बातको पंडित लोग जानते हैं।

प्रातिकूल्येन जैवन्तु जीवानां कर्मबन्धनम्।
यावज्जैवं न वै कर्म संस्कारैर्वैदिकैः शुभैः॥
पूर्णं शुद्धं सदाप्नोति दशां स्वाभाविकीं हिताम्।
तावन्नूनं भवेत्पूर्णं जीवकैवल्यबाधकम्॥
धर्मस्य धारिका शक्तिस्तस्य चाभ्युदयप्रदः।
क्रमः कैवल्यदश्चैव सहजे प्राकृते शुभे॥
नित्यं जागर्त्ति संस्कारे प्राणिनां हितसाधके।
विश्वकल्याणदे नित्ये सर्वश्रेष्ठे मनोरमे॥
संस्कारेष्वहमेवास्मि सर्व्वेषूक्तेषु सन्ततम्।
संस्थिता धर्मरूपेण निश्चितं विबुधर्षभाः॥

परन्तु जैव कर्म इससे विपरीत होनेके कारण जीवके बन्धनका कारण है और जब तक वह शुभ वैदिकसंस्कारोंसे परिशुद्ध होकर हितकारिणी स्वाभाविक दशाको नहीं प्राप्त होता तबतक जीवकी मुक्तिका निश्चय ही पूर्णबाधक रहता है। धर्मकी धारिका शक्ति और धर्मका अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदानका क्रम प्राणियोंके हितसाधक संसारके कल्याणकारक, नित्य शुभ, सर्वश्रेष्ठ और मनोरम सहजात स्वाभाविक संस्कारमें नित्य बना रहता है। हे देवगण! उक्त षोडश संस्कारोंमें मैं ही धर्मरूपसे सदा ही विद्यमान हूँ। ब्रह्ममयी महादेवीके ऊपरलिखित वचनोंसे स्पष्ट हुआ कि संस्कार ही अशुद्ध होता हुआ जीवको बाँधता रहता है और पुनः संस्कार ही शुद्ध होता हुआ जीवको मुक्त कर देता है। अशुद्ध संस्कारका नाश करके वेदोक्त संस्कारों (जिनका कि विस्तृतवर्णन एक विशेष अध्यायमें देनेका विचार है) के द्वारा जब संस्कारशुद्धि जीव प्राप्त करता जाता है तब वह अपने आप उत्तरोत्तर अधिकाधिक धर्मात्मा होता हुआ मुक्तिभूमिकी ओर अग्रसर होता रहता है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे मुक्ति भूमिकी प्राप्ति धर्मात्मा जीव कर लेता है। वैदिक नानाविध-

संस्कार मनुष्यको अधिकसे अधिक धर्मात्मा बनाते रहते हैं। वे वेदोक्त संस्कार समूह रूपान्तरसे अनेक हो गये हैं, कहीं सोलह माने गये हैं, कहीं २४ माने गये हैं, कहीं न्यूनाधिक माने गये हैं। वेद विज्ञानको लेकर ये शुद्ध संस्कार स्मृति पुराण, और तन्त्रोंमें नानाप्रकारसे वर्णित किये गये हैं। और पुण्यके अधिकारके अनुसार विशेष विशेषकर्म संस्कारोंकी प्रधानता मानी गई हैं। यथा शक्तिगीतामें कहा है कि :-

नारी जातौ तपोमूलः सतीधर्मः सनातनः।
स्वयमेव हि संस्कारशुद्धिं जनयते ध्रुवम् ॥
वर्णाश्रमाख्यधर्मस्य मर्य्यादा नितरां तथा।
नृजातावपि संस्कारशुद्धिं जनयतेतराम् ॥
नार्य्यर्थं पुरुषार्थश्च धर्मावुक्तावुभावपि।
स्वाभाविकावतस्तस्तौ सदाचारावनादिकौ ॥

नारी जातिकेलिये तपो मूलक सनातन सतीधर्म्म संस्कारशुद्धि अपने आपही उत्पन्न करता है, यह निश्चय है। उसी प्रकार पुरुषजातिमें भी वर्णाश्रम-धर्म मर्यादा संस्कारशुद्धिको निरन्तर उत्पन्न करती है। स्त्री और पुरुषकेलिये ये दोनों धर्म स्वाभाविक हैं, अतः ये दोनों सदाचार अनादि हैं।

एतद्द्वयसदाचारालम्बनादेव निर्ज्जराः !
लभन्ते च नरा नार्य्यः कैवल्याभ्युदयौ क्रमात् ॥
उभावेतौ सदाचारौ शुद्धित्रैविध्यकारकौ।
संस्कारस्य च सर्वस्य प्राकृतस्य प्रकाशकौ ॥
वर्द्धकौ स्वश्च सत्त्वस्य कैवल्याभ्युदयप्रदौ।
सतीधर्माश्रयान्नारी पत्यौ तन्मयतां गता ॥
नारीयोनेः सती मुक्ता भुक्त्वा स्वर्गसुखं चिरम्।
उन्नतां पुरुषस्यैव योनिं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥
सम्यग्वर्णाश्रमाख्यस्य श्रौतधर्मस्य सेवया।
विश्वेषां गुरवो मान्या निखिला आर्य्यपूरुषाः ॥

आद्येनानर्गलां स्वीयां प्रवृत्तिमवरुध्यते ।
परिपोष्य निवृत्तिश्च परेणात्मप्रकाशिकाम् ॥
अपवर्गास्पदं नित्यं परमं मङ्गलं चिरम् ।
प्राप्नुवन्ति सुपर्वाणः ! स्यादेषोपनिषत्परा ॥

हे देवगण, इन दोनों सदाचारोंके अवलम्बनसे ही यथाक्रम नारीजाति और पुरुषजाति अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करती है। ये दोनों सदाचार त्रिविध शुद्धि विधायक हैं, सकल स्वाभाविक संस्कारोंके प्रकाशक हैं। सत्त्वगुण वर्धक हैं और अभ्युदय तथा निःश्रेयसप्रद हैं। सतीधर्मके आश्रयसे स्त्री पतिमें तन्मयता लाभ करके बहुकाल तक स्वर्ग सुख भोगती हुई नारीयोनिसे मुक्त होकर उन्नत पुरुषयोनिको ही निश्चय प्राप्त हो जाती है। वेदविहित वर्णाश्रमधर्मकी सुन्दर रूपसे सेवा करनेसे जगद्गुरु और मान्य समस्त आर्यपुरुषगण प्रथमके द्वारा अपनी अनर्गल प्रवृत्तिको रोककर और दूसरेके द्वारा आत्मप्रकाशिका निवृत्तिको बढ़ाकर परम मंगलमय और नित्य कैवल्यपदको निरन्तर प्राप्त कर लेते हैं। हे देवगण! यही श्रेष्ठ उपनिषद् है। त्रिविध भेद जो कर्म्मके उत्पन्न होते हैं, वे एकही कर्म्म तरंगके रूपान्तर मात्र हैं। एकही कर्म्म तरंग प्रकृति हिल्लोलसे उत्पन्न होकर प्रकृतिरूपी नदीके प्रथम तटको छोड़ता हुआ आगे बढ़कर तीन रूपको धारण करता है। वे ही तीन स्वतन्त्र रूप सहज, जैव, और ऐश नामको प्राप्त होते हैं। पीछे तीनों अलग अलग रूप धारी तरंग अन्तमें नदीके दूसरे तटमें पहुँच-पहुँच अन्तमें प्रकृतिमें ही लय हो जाते हैं। ये तीनों तरंग रूपान्तरसे किस प्रकारसे त्रिविध मुक्तिको उत्पन्न करते हैं सो मुक्तितत्त्व नामके अध्यायमें बताया जायगा। इन तीनों कर्मोंका अद्भुत रहस्य ब्रह्ममयी महादेवीने जीवोंके कल्याणार्थ इस प्रकारसे कहा है :—

विबुधाः ! साम्प्रतं वच्मि कर्म्म त्रैविध्यगोचरम् ।
वैज्ञानिकं स्वरूपं वः सावधानैर्निशम्यताम् ॥
स्वभावात्प्रकृतिर्मे हि स्पन्दते परिणामिनी ।
स एव स्पन्दहिल्लोलः स्वभावोत्पादितो मुहुः ॥
सदैवास्ते भवन् देवाः ! स्वरूपे प्रतिविम्बितः ।
तस्मान्मम प्राकृतानां गुणानां परिणामतः ॥

अविद्याऽऽविर्भवेन्नूनं तरंगैस्तामसोन्मुखैः ।
सत्त्वोन्मुखैश्च तैर्देवाः ! विद्याऽऽविर्भावमेति च ॥
तदा विद्याऽप्रभावेण तरंगाणां मुहुर्मुहुः ।
आघातप्रतिघाताभ्यां जलैः पूर्णे जलाशये ॥
अगण्यवीचिसंघेषु नैकवैधवबिम्बवत् ।
चिज्जड़ग्रन्थिभिर्देवाः ! स्वत उत्पद्य भूरिशः ॥
जीवप्रवाहपुञ्जोऽयमनाद्यन्तो वितन्यते ।
तदैवोत्पद्य संस्कारो नूनं स्वाभाविको मम ॥
कर्म्मणा सहजेनैव विश्वविस्तारकारिणी ।
आविर्भावयते सृष्टिं जङ्गमस्थावरात्मिकाम् ॥

हे देवतागण, अब मैं आपको त्रिविध कर्म्मका वैज्ञानिक स्वरूप बताती हूँ। सावधान होकर सुनो। मेरी प्रकृति स्वभावसे ही परिणामिनी होकर स्पन्दित होती है। हे देवगण ! वही स्वभावजनित स्पन्दनका हिल्लोल सदा ही स्वरूपमें बारम्बार प्रतिफलित होने लगता है। अतः मेरी प्रकृतिके गुण परिणामके कारण तमकी ओर के तरंगसे अविद्या और सत्त्वकी ओरके तरंगसे विद्या प्रकट अवश्य होती है। उस समय अविद्याके प्रभावसे बारम्बार तरंगोंके घात प्रतिघात द्वारा जल पूर्ण जलाशयके अगणित तरंगोंमें अनेक चन्द्रबिम्बके प्रकाशके समान, हे देवगण ! स्वतः ही अनेक चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होकर अनादि अनन्त जीवप्रवाहको विस्तार करती हैं। उसी समय मेरा स्वाभाविक संस्कार अवश्य उत्पन्न होकर संसार विस्तारकारी सहज कर्मसे ही स्थावर जंगमात्मक सृष्टि प्रकट करता है।

किन्तु मानवदेहेषु पूर्णे जीवत्व आगते ।
जैवमुत्पद्यते कर्म्म तत्र तत्क्षणमेव तु ॥
अस्वाभाविकसंस्कार,-प्रवाहो वहते ध्रुवम् ।
जैवकर्म्मप्रभावात्स, वैश्ववैचित्र्यसङ्कुलम् ॥
त्रितापप्रचुरं स्वेदावागमनचक्रकम् ।
जैवकर्म्मप्रभावाच्च तस्मादेव भवन्त्यमी ॥

नरकप्रेतपित्रादिभोगलोकाः स्वरन्विताः ।
मृत्युलोकात्मकः कर्म्म–लोकश्च विबुधर्षभाः ! ॥
उत्पद्यन्ते तथेमानि भुवनानि चतुर्दश ।
विद्याऽऽस्ते मामकीना या पूर्णसत्त्वगुणान्विता ॥
एतस्याः कारणत्वेन शक्तिरैशस्य कर्म्मणः ।
विचित्रास्ति तयोस्ताभ्यां कर्मभ्याञ्च सहायिका ॥

परन्तु जीवत्वकी पूर्णता मनुष्यशरीरमें प्राप्त होने पर जैव कर्म्म उत्पन्न होता है और वहां उसी समय अस्वाभाविक संस्कारका प्रवाह प्रवाहित अवश्य होता है और वह जैवकर्म्मके बलसे ब्रह्माण्डके वैचित्र्यसे युक्त और त्रितापमय आवागमनचक्रको स्थायी रखता है। उसी जैवकर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकके सहित नरकलोक, प्रेतलोक, पितृलोक आदि भोगलोक और मृत्युलोकरूपी कर्मलोक तथा हे देवगण! चतुर्दशभुवन उत्पन्न होते हैं। पूर्ण सत्त्वगुणमयी मेरी विद्याके कारण ऐश कर्मकी शक्ति उन दोनों कर्मोंकी सहायक होने पर भी उनसे विचित्र है।

विद्यायां सत्त्वपूर्णायामविद्यायाः कथञ्चन ।
नैवास्ते लेशमात्रं हि विद्यासेवित ईश्वरः ॥
सर्व्वतोऽतस्तटस्थोऽपि सर्व्वेषामन्तरात्मदृक् ।
यथायथं पालयते सृष्टिस्थितिलयक्रमम् ॥
अतोऽहमेव सम्प्रोच्ये जगत्यां जगदीश्वरी ।
महामान्या जगद्धात्री सर्वकल्याणकारिणी ॥
देवाः ! प्रकृतिजन्यत्वादस्ति कर्म्म जड़ात्मकम् ।
अतः कर्म्मत्रयेऽपि स्यात्पूर्णा वस्तुसहायता ॥
सञ्चालने भवन्तो हि कर्म्मणः सहजस्य मे ।
पूर्णं सहायकाः सन्ति तन्मे प्रकृतिसाद्‌यतः ॥
जैवं कर्म्मास्ति जीवानामायत्तं प्रकृतेर्यतः ।
अतस्तत्रार्द्धसम्बन्धो वर्त्तते भवतां सुराः !

भवन्तो मानवानां हि सन्ति प्रारब्धचालकाः।
पुरुषार्थस्य कर्त्तारः स्वयं जीवा न संशयः॥

विद्यावस्थामें सत्त्वगुणकी पूर्णता होनेसे किसी प्रकारसे भी अज्ञानका लेशमात्र नहीं रहता, इस कारण विद्यासेवित ईश्वर सबसे अलग रहकर भी सबके अन्तर्द्रष्टा होकर सृष्टिस्थितिलयका क्रम यथावत् पालन कराते हैं। इसी कारण मैं ही जगत्में जगदीश्वरी विश्वकल्याणकारिणी जगद्धात्री महामान्या कहलाती हूँ। हे देवतागण! कर्म प्रकृतिसञ्जात होनेके कारण जड़ हैं, इस कारण तीनों कर्मोंमें आपलोगोंकी पूरी सहायता विद्यमान है। सहज-कर्मके सञ्चालनमें आपलोग पूर्ण सहायक हो; क्योंकि सहजकर्म मेरी प्रकृतिके अधीन है। हे देवतागण! जैवकर्म जीवप्रकृतिके अधीन होनेके कारण उसमें आपका आधा सम्बन्ध है, क्योंकि मनुष्योंमें प्रारब्धके सञ्चालक आपलोग और पुरुषार्थके कर्त्ता जीव स्वयं हैं।

किन्त्वैशकर्म्मणो देवाः! आज्ञां लब्ध्वाऽथ मामकीम्।
अवतीर्य्य भवन्तो वै सम्पद्यन्ते सहायकाः॥
ममावतारसाहाय्ये प्रवर्त्तन्तेऽथवा द्रुतम्।
अत्यन्तमस्ति दुर्ज्ञेया गहना कर्म्मणो गतिः॥
राजते कर्म्मराज्यञ्च नानावैचित्र्यसङ्कुलम्।
अनन्तपिण्डब्रह्माण्डकर्तृ वै कर्म्म विद्यते॥
यो मे कर्मगतिं वेत्ति स मत्सान्निध्यमाप्नुयात्।
न स्वल्पोऽप्यत्र सन्देहो विधेयो विस्मयोऽथवा॥
दक्षाः कर्मगतिं ज्ञातुं भक्ता ज्ञानिन एव मे।
ज्ञातुं कर्मगतिं जीवा अन्यथेच्छन्त आत्मना॥
विद्याभिमानिनो मूढा मम भक्तेः पराङ्मुखाः।
विमार्गगाः पतन्त्याशु रात्र्यन्धा इव गह्वरे॥
जैवस्य कर्म्मणो देवाः! द्वे गती स्तः प्रधानतः।
जीवानेका गतिर्जैवी ह्यधस्तान्नयते तयोः॥

प्रापयेत जडत्वं च देवाः ! साऽस्ते तमोमयी ।
यतश्चाधर्म्मसम्भूता वर्त्ततेऽसौ दिवौकसः ! ॥

परन्तु हे देवतागण ! मेरी आज्ञाको पाकर अवतारग्रहण करके तुमलोग ऐश कर्मके सहायक बनते हो । अथवा मेरे अवतारोंकी सहायतामें शीघ्र प्रवृत्त होते हो । कर्मकी गहन-गति अतिदुर्ज्ञेय है । कर्मराज्य नानावैचित्र्यसे पूर्ण है और कर्म ही अनन्त पिण्ड और अनन्त ब्रह्माण्डोंका कर्त्ता है । जो मेरे कर्मोंकी गतिको जानता है वह मेरे सान्निध्यको लाभ करता है इसमें सन्देह और विस्मय कुछ भी नहीं करना चाहिये । मेरे ज्ञानी भक्त ही कर्मगतिवेत्ता हो सकते हैं । अन्यथा कर्मकी गति जाननेकी स्वयं इच्छा करनेवाले मेरी भक्तिसे विमुख विद्याभिमानी मूर्ख जीव मूर्खरात्र्यन्धके समान विपथगामी होकर गड्ढेमें शीघ्र गिर जाते हैं । हे देवगण ! जैवकर्मकी प्रधान दो गति हैं । उनमेंसे एक गति जीवोंको अधःपतित करती है और उनको जडत्वकी ओर ले जाती है, वह तमोमयी गति है क्योंकि वह अधर्म्मसम्भूत है ।

ऊर्द्ध्वं प्रापयते जीवान् द्रुतं जैव्यपरा गतिः ।
स्वरूपं चेतनश्चासावभिलक्ष्य प्रवर्त्तयेत् ॥
धर्म्मस्य धारिका शक्ति–युता सत्त्वमयी हि सा ।
इयं हि कर्म्मणो देवाः ! गतिः सेऽयोर्द्ध्वगामिनी ॥
देवाः ! उर्द्ध्वगतेर्जैव-कर्म्मणाऽस्याः कदाचन ।
विच्योतेरन् कथञ्चिन्न भवन्तो भोगलोलुपाः ॥
मार्गमालम्ब्य मे नूनमेनमेवोर्द्ध्वगामिनम् ।
मामनायासमेवाशु भवन्तो लब्धुमीशते ॥
श्रूयतां मद्वचो देवाः ! कर्म्मणा सह सर्वथा ।
सम्बध्येतेऽथ शक्ती द्वे आकर्षणविकर्षणे ॥
दिवौकसः ! रागमूला शक्तिराकर्षणाभिधा ।
भवद्भिरवगन्तव्या समुत्पन्ना रजोगुणात् ॥

उसकी दूसरी गति जीवोंको शीघ्र ऊर्द्ध्व करती है और उनको स्वस्वरूप चेतनकी ओर प्रवृत्त करती है, वह गति सत्त्वमयी है क्योंकि वह धर्मकी धारिका

शक्तिसे युक्त है । हे देवगण ! कर्मकी यही ऊर्द्ध्वगामिनी गति सेवनीय है । हे देवतागण ! आपलोग कदापि भोगलालसाके वशीभूत होकर जैवकर्मकी इस ऊर्द्ध्वगामिनी गतिसे किसी प्रकार च्युत न होना । इसी ऊर्द्ध्वगामी मेरे मार्गको अवलम्बन करके आप मुझको अनायास शीघ्र ही प्राप्त हो सकोगे । हे देवतागण ! मेरी बात सुनो, कर्मके साथ दो शक्तियोंका सर्व्वथा सम्बन्ध है, एक आकर्षणशक्ति और दूसरी विकर्षणशक्ति । आकर्षणशक्ति रागमूलक होनेसे रजोगुणसे उत्पन्न है, हे देवगण ! इसको आप समझें ।

विकर्षणाव्याख्या या शक्तिरपरा द्वेषमूलिका ।
अवधार्य्या भवद्भिः सा समुद्भूता तमोगुणात् ॥
आभ्यां द्वाभ्यां हि शक्तिभ्यां ब्रह्माण्डं निखिलं तथा ।
पिण्डं समस्तमाच्छन्नं सत्यमेतद्वदामि वः ॥
एतच्छक्तिद्वयं ह्यास्ते मयि नैवास्म्यहं तयोः ।
बलाच्छक्तिद्वयस्यास्य कर्म्मजातमथाखिलम् ॥
सम्विभक्तं द्विधा देवाः ! उत्तरोत्तरवर्द्धकम् ।
सृष्टेर्द्वन्द्वात्मिकाया मे प्रवाहं वाहयत्यहो ॥
समता च द्वयोर्यत्र शक्त्योः संजायते शुभा ।
तत्रैव सत्त्वसञ्जुष्ट-ज्ञानानन्दस्थितिर्भवेत् ॥
अहं तस्यामवस्थायां सत्त्वमय्यां सदा सुराः ! ।
नन्वाविर्भावमापन्ना संतिष्ठे नात्र संशयः ॥
काऽप्यवस्था बन्धहेतुः शक्तिद्वयसमन्विता ।
जीवानां सर्वथा देवाः ! जीवत्वस्यैव पोषिका ॥

दूसरी विकर्षणशक्ति द्वेषमूलक होनेके कारण तमोगुणसे उत्पन्न है, ऐसा आप समझें । इन्हीं दोनों शक्तियोंसे समस्त ब्रह्माण्ड और समस्त पिण्ड आच्छन्न हैं, इसको आपलोगोंसे मैं सत्य कहती हूँ । ये दोनों ही शक्तियाँ मुझमें हैं परन्तु मैं इन दोनोंमें नहीं हूँ । इन दोनों शक्तियोंके प्रभावसे सब कर्मसमूह द्विधा विभक्त होकर मेरी द्वन्द्वात्मसृष्टिका प्रवाह उत्तरोत्तर प्रवाहित करते

रहते हैं इन दोनों शक्तियोंकी जहाँ सुन्दर समता होती है वहीं सत्त्वगुणमय ज्ञान और आनन्दका स्थान है। उसी सत्त्वगुणमय अवस्थामें मैं सदा प्रकट रहती हूँ, हे देवगण! इसमें सन्देह नहीं है। इन दोनों शक्तियोंसे युक्त बन्धन करनेवाली वह अवस्था सर्व्वथा जीवोंके जीवत्वकी ही पोषिका है।

सत्त्वावस्था तृतीया या सैव मुक्तिप्रदायिका।
एतच्छ्रौतरहस्यं हि ज्ञायतां विबुधर्षभाः! ॥
द्वन्द्वात्मिकाऽस्ति या शक्तिस्तन्मूलं विबुधाः! अतः।
मुच्यतां सर्वदा कर्म्म रागद्वेषादिसंकुलम् ॥
रागद्वेषादिभिर्मुक्ता द्वन्द्वातीतपदं गताः।
निष्कामाः सत्त्वसम्पन्ना यूयं कर्त्तव्यकर्म्मणि ॥
कर्म्मयोगरताः सन्तस्तत्परा भवतामराः!।
सर्व्वोत्तमफलं लब्ध्वा सानन्दा भवताप्यहो ॥
भो देवाः! कर्म्मयोगेऽस्मिन् प्रत्यवायो न विद्यते।
कर्म्माप्येतत् कृतं स्वल्पं त्रितापं हरते क्षणात् ॥
कर्म्मयोगोऽयमेवाशु कामनाविलयेन हि।
समुत्पादयते देवाः! शुद्धिं संस्कारगोचराम् ॥
संस्कारशुद्धितो नूनं क्रियाशुद्धिः प्रजायते।
अविद्यायाः क्रियाशुद्धया लयः सम्पद्यते ध्रुवम् ॥
अविद्याविलयाद्विद्या-साहाय्यान्नश्यति स्वयम्।
चिज्जड़ग्रन्थिरज्ञानमूलिका नात्र संशयः ॥

तीसरी सत्त्वगुणकी जो अवस्था है वही मुक्तिविधायिका है, हे देवगण! यही वेदोंका रहस्य है सो आप जानें। हे देवतागण! इस कारण आपलोग द्वन्द्वात्मक-शक्तिमूलक और रागद्वेषादि संकुलकर्मका सर्वदा त्याग करें। हे देवगण! रागद्वेषसे विमुक्त होकर द्वन्द्वातीत पदवीको लाभ करते हुए निष्काम होकर और सत्त्वगुणसे युक्त होकर कर्म्मयोगी होते हुए कर्त्तव्यकर्म्म परायण होवें और सर्वोत्तम फल पाकर आनन्दित होवें। हे देवगण! इस कर्म्मयोगमें

प्रत्यवाय नहीं है और यह कर्म्म थोड़ासा किया हुआ भी शीघ्र त्रितापको दूर करता है। हे देवगण! यही कर्म्मयोग कामनाके विलयद्वारा संस्कारशुद्धि शीघ्र उत्पन्न करता है। संस्कारशुद्धिसे ही क्रियाशुद्धि होती है और क्रियाशुद्धिसे अविद्याका विलय अवश्य होता है और उससे विद्याकी सहायताके द्वारा अज्ञानतामूलक चिज्जडग्रन्थिका नाश स्वयं होजाता है इसमें सन्देह नहीं।

जड़ग्रन्थिसन्नाशाज्जीवो वै जायते शिवः।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिरमृतान्धसः ॥
ब्रह्माण्डपिण्डरूपस्य ह्यनाद्यन्तस्य कोविदाः।
देवाः! सृष्टिप्रवाहस्य कर्म्मैवोत्पादकं जगुः ॥
कर्म्मप्रवाहोऽनाद्यन्तस्ततस्तद्भोगलिप्सया ।
सक्तानां तत्र जीवानां कर्म्मनाशः सुदुष्करः ॥
अथवा मोचनं नूनं दुर्लभं कर्म्मबन्धनात्।
वर्त्तते विबुधश्रेष्ठाः! किमन्यद्वो ब्रवीम्यहम् ॥
तत्कर्म्मबीजसंस्कारमुन्मूलयितुमात्मना ।
निष्कामनाव्रतैः सद्भिर्भवद्भिर्यत्यतां सुराः ॥
तस्याहं सुगमोपायं वर्णये वः पुरोऽधुना।
समाहितैर्भवद्भिश्च श्रूयतां मे हितं वचः ॥
मत्परायणतां पुण्यां गृहीताश्रयणं मम।
मद्भक्ताः सततं कर्म मद्युक्ताः कुरुतामराः!

चिज्जडग्रन्थिके नाश होनेसे ही जीव शिव अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होजाता है। हे देवगण! आपलोग इसमें विस्मय न करो। हे देवगण! कर्मही ब्रह्माण्ड और पिण्डात्मक अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाहका उत्पादक है, सुधीगण ऐसा कहते हैं। कर्म्मप्रवाह अनादि अनन्त है इस कारण कर्म्मके भोगकी इच्छासे कर्म्ममें आसक्त होकर कर्म्मका नाश करना अथवा कर्म्मके फन्देसे मुक्त होना जीवोंके लिये असम्भव है। हे देवश्रेष्ठगण! आपलोगोंसे और मैं क्या कहूँ। इस कारण हे देवगण! आपलोग निष्कामव्रत होकर कर्म्मबीजरूपी संस्कारके

नाश करनेमें स्वयं प्रयत्न करो। श्रीजगदम्बा कहती हैं कि इसका सुगम उपाय मैं आपलोगोंके सामने इस समय वर्णन करती हूँ, आपलोग भी सावधान होकर हितकी मेरी बात सुनें। हे देवगण! आप मेरी पवित्र परायणताको ग्रहण करो। मेरा आश्रय ग्रहण करो। मुझमेंही भक्तिमान् हो और मुझमें युक्त होकर निरन्तर कर्म्म करो।

मद्‌युक्तैः कृतं कर्म्म बन्धनाय प्रकल्पते।
मद्युक्तैर्विहितं तत्तु दत्ते कैवल्यमुत्तमम्॥
संसारोऽतिविचित्रोऽयं जीवबन्धनकारकः।
विकर्षणाकर्षणोत्थ-द्वन्द्वादेव प्रजायते॥
संतिष्ठते च जीवानां द्वन्द्वः स्यात् बन्धकारणम्।
परन्त्वस्त्येकतत्त्वं हि मुक्तेः कारणमुत्तमम्॥
तदाश्रयेण मद्भक्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः।
युक्तकर्मरताः सन्तो निष्पापा मत्परायणाः॥
यदा भवन्ति भो देवाः! निष्कामव्रतधारिणः।
तदैव मोक्षसम्प्राप्तेर्जायन्ते तेऽधिकारिणः॥
यदा संस्कारबीजं स्यान्निष्कामानलभर्जितम्।
जैवं कर्म्म तदा रक्त-बीजरूपं प्रणश्यति॥
एवं सति स्वयं जीवा जैवीं प्रकृतिमात्मनः।
त्यक्त्वा मत्प्रकृतिं नूनमाश्रयन्ते शिवप्रदाम्॥

मुझमें अयुक्त होकर किया हुआ कर्म्म बन्धनदशाको उत्पन्न करता है और मुझमें युक्त होकर किया हुआ कर्म्म उत्तम कैवल्यप्रद है। हे देवतागण! आकर्षण विकर्षणजनित द्वन्द्वसे ही बन्धन करनेवाला यह अति-विचित्र संसार उत्पन्न होता है और स्थित रहता है क्योंकि द्वन्द्वही जीवोंके बन्धनका कारण है परन्तु एकतत्त्व ही मुक्तिका उत्तम कारण है। उसके आश्रयसे द्वन्द्वातीत और विमत्सर होकर जब मेरे भक्त युक्तकर्म्ममें रत होकर निष्पाप मत्परायण और निष्काम व्रतधारी हो जाते हैं तभी वे कैवल्यपदप्राप्तिके

अधिकारी होते हैं। रक्तबीजरूपी जैवकर्म्म तभी नाशको प्राप्त होते हैं जब संस्कारबीज निष्कामरूपी अग्निसे भर्जित कर दिये जायँ। ऐसा होने पर जीव स्वतः अपनी जैवप्रकृतिको छोड़कर मेरी परम मङ्गलकर प्रकृतिका ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

तदा मत्प्रकृतिर्विद्या-रूपं धृत्वा मनोहरम्।
साधकेभ्यो ध्रुवं तेभ्यो दत्ते कैवल्यमुत्तमम्॥
कर्म्मप्रतिक्रिया देवाः! अदम्याऽस्ति न संशयः।
तत्फलोत्पादिका शक्तिरफला नो कदाचन॥
अतो मुक्तेऽपि जीवेऽस्मिन् तत्कृताः कर्म्मराशयः
निर्बीजा निष्फला नैव जायन्ते विबुधर्षभाः!॥
निर्ज्जराः! मुक्तजीवानां कर्म्मसंस्कारराशयः।
ब्रह्माण्डस्य चिदाकाशमाश्रयन्त्यो निरन्तरम्॥
जायन्ते पोषिकाः सम्यक्कर्म्मणोः सहजैशयोः।
सत्यमेतद्विजानीत निश्चितं वो ब्रवीम्यहम्॥

मेरी प्रकृति तब मनोहर विद्यारूप धारण करके उन्हीं साधकोंको उत्तम मुक्ति प्रदान करती है। हे देवतागण! कर्म्मकी प्रतिक्रिया निस्सन्देह अदमनीय है और कर्मकी फलोत्पादिका शक्ति कभी भी अफला नहीं होती। इस कारण हे देवगण! जीव मुक्त होजानेपर भी उसके किये हुए कर्म्म समूह निर्बीज और निष्फल नहीं होते हैं। मुक्त जीवोंके कर्म्मोंकी संस्कारराशि ब्रह्माण्डके चिदाकाशको आश्रय करके निरन्तर सहजकर्म और ऐशकर्मकी पोषक भलीभांति बन जाती है, हे देवतागण! इसको सत्य जानें मैं ठीक कहती हूँ।

इन सिद्धान्तोंसे यह सिद्ध होता है कि कर्म ही तीन प्रकारकी मूर्तियोंको धारण करके जीवको फांसता है और तीनोंके अन्तमें शुद्ध रूपको धारण करके धर्म्मकी पूर्णतासे ज्ञानजननी विद्याकी सहायता प्राप्त करता हुआ जीवके जीवत्वका नाश कर देता है। ऐसा होनेपर भी वह स्वयं विना फल उत्पन्न किये लय नहीं होता। जीव मुक्त होनेपर भी उसके किये हुए कर्म्म ब्रह्माण्डकी समष्टि प्रकृतिको पकड़ लेते हैं और वहाँ समष्टिफल उत्पन्न करते हैं। इसी कारण वेदोंने कर्म्मको दुर्ज्ञेय और सबसे बड़ा कहा है। महादेवीने पुनः कहा है:—

कर्म्म प्रायेण दुर्जेयं वर्त्तते नात्र संशयः।
सन्त्येव निखिला जीवाः कर्म्मौघवशवर्त्तिनः ॥
यूयं भवन्तो भो देवाः! विश्वेषां शासका अपि।
महान्तोऽपि सुयुक्ताः स्थ सुदृढैः कर्म्मबन्धनैः ॥
वाच्यं किमत्र गीर्वाणाः! अवतीर्णाः स्वतोऽप्यहम्।
बद्धा कर्म्मसु वर्त्तेऽहं नात्र कार्य्या विचारणा ॥

कर्म्म एक प्रकारसे दुर्जेय है इसमें सन्देह नहीं। सब जीवगण तो कर्म्मोंके वशीभूत होते ही हैं और हे देवगण! तुमलोग जगत्‌के नियामक और महान् होने पर भी सुदृढ़ कर्म्म बन्धनसे युक्त हो। हे देवतागण! इसमें क्या कहा जाय, यहाँ तक कि मैं भी अपनी इच्छासे अवतार धारण करती हुई कर्ममें बंध जाती हूँ, इसमें कुछ विचारनेकी बात नहीं है।

जीवन्मुक्ता महात्मानो मद्भक्ता ज्ञानिनोऽमराः!
प्राप्ता जीवद्दशायां ये मत्सायुज्यमसंशयम् ॥
तेऽपि नैव विमुच्यन्ते ध्रुवं कर्म्मप्रभावतः।
जीवन्मुक्तैर्हि मद्भक्तैर्ज्ञानिभिश्चापि भुज्यते ॥
जैवकर्म्मस्वरूपं वै प्रारब्धं कर्म्म निश्चितम्।
प्रारब्धकर्म्मभिर्यस्माद्भोगादेव प्रणश्यते ॥
वासनासंक्षयान्नूनं कर्म्मणः सहजस्य वै।
निघ्नतां यान्ति ते मुक्ताः परसौभाग्यशालिनः ॥
जीवन्मुक्ता महात्मानो यतः स्युर्मत्परायणाः।
तत्ते किमप्यनिच्छन्तो विचरन्ति महीतले ॥
कर्म्मणः सहजस्यामी निघ्नाः सन्ति यतः सुराः!
भवेद्दैवक्रियाणां ते केन्द्रीभूता भवन्त्यतः ॥
अहं यद्यपि भक्तेभ्यो ज्ञानिभ्यो हि किमप्यणु।
कदाचिदप्यहो कष्टं दातुं नैवोत्सहे सुराः! ॥

तथापि रुचितस्तेषां तान् संयोज्यैशकर्म्मणा ।
तैर्ध्रुवं विश्वकल्याणं कारयेऽहमतन्द्रितैः ॥

हे देवगण ! मेरे ज्ञानीभक्त जीवन्मुक्त महात्मा जो जीवित दशामें ही मेरी सायुज्यदशाको प्राप्त हो जाते हैं, वे भी कर्मके प्रभावसे अवश्य ही बच नहीं सकते। मेरे जीवनमुक्त ज्ञानीभक्तोंको भी जैवकर्मरूपी प्रारब्धकर्मका भोग अवश्यही करना पड़ता है क्योंकि प्रारब्धका भोगसे ही क्षय होता है। वासना-नाश होजानेसे उन परमसौभाग्यशाली मुक्तोंको सहजकर्मके ही अधीन बनना पड़ता है क्योंकि वे जीवन्मुक्त महात्मा मत्परायण होनेसे इच्छारहित होकर पृथ्वीपर विचरते हैं। हे देवतागण ! वे सहज कर्म्मके अधीन होनेके कारण तुम्हारी दैवी क्रियाओंके भी केन्द्र बन जाते हैं। हे देवगण ! यद्यपि मैं ज्ञानी भक्तोंको कभी भी किसी प्रकारसे अणुमात्र भी क्लेश पहुंचाना नहीं चाहती परन्तु यदि उनकी रुचि अनुकूल होती है तो मैं उनको ऐशकर्म्मसे युक्त करके उन उद्योगियोंसे जगत्का कल्याण निश्चय कराती हूँ।

माहात्म्यं कर्म्मणो देवाः ! सर्वश्रेष्ठत्वमाश्रितम् ।
कर्म्म भक्ता अपि त्यक्तुं प्रभवो ज्ञानिनोऽपि न ॥
यावद्देहं न कोऽपीशः कर्म्म त्यक्तुमशेषतः ।
कर्म्मयोगाश्रितैस्तस्माद्भवद्भिर्मत्परायणैः ॥
प्रतिभैवम्विधा शुद्धा नूनमुत्पाद्यतां सुराः ! ।
कर्म्मण्यकर्म्म पश्यन्तो ययाऽकर्म्मणि कर्म्म च ॥
कर्त्तव्यं कर्म्म कुर्वन्तो विमुक्ताः कर्म्मबन्धनात् ।
मत्सायुज्यदशामेत्य कृतकृत्यत्वमाप्नुत ॥

हे देवतागण ! कर्म्मोंकी महिमा सर्वोपरि है, क्योंकि भक्तको भी कर्मी बनना पड़ता है और ज्ञानीको भी कर्म्मी बनना पड़ता है और शरीर रहते हुए पूर्णरीत्या कर्म्मका त्याग असम्भव है। इस कारण हे देवतागण ! आपलोग कर्म्मयोगी और मत्परायण होकर ऐसी शुद्ध प्रतिभा निश्चय ही उत्पन्न करो जिससे तुमलोग कर्ममें अकर्म और अकर्म्ममें कर्म्म देखते हुए और कर्तव्य कर्म करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओ और मत्सायुज्यको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाओ।

उपनिषद् सदृश श्रीशक्ति गीताके ऊपर लिखित दार्शनिक सिद्धान्तके मनन करनेसे कर्मकी नियामिकाशक्ति, कर्मकी धर्माधर्मशक्ति, कर्मकी सर्वव्यापिनीशक्ति और कर्मकी अपरिहारिणी शक्तिका भलीभांति पता लग सकेगा। ब्रह्मसे जिसप्रकार ब्रह्मशक्ति-महामाया प्रकट होती है उसीप्रकार ब्रह्मशक्तिसे कर्म उत्पन्न होता है। ब्रह्मशक्ति जिसप्रकार त्रिगुण रूपमें प्रकट रहती है, कर्म भी उसीप्रकार तीन रूपमें प्रकट रहता है, यही कर्मका अपूर्व लोकोत्तर दिव्यप्रभाव है। एक अद्वितीयकर्म अपने आपही क्रमशः तीन तरङ्गोंमें प्रवाहित होता है। सहज दशामें वह समष्टि-ब्रह्माण्ड और व्यष्टि चतुर्विध भूतोंके सहज पिण्डको उत्पन्न करता है और अन्तमें वही सहजकर्म आत्माराम ज्ञानयोगीको जीवन्मुक्त बना देता है। जैवकर्मकी दशामें वही जैवकर्म जीवको नरक, प्रेत, पितृ और स्वर्गादि लोकोंमें पहुँचाता रहता है और पीछेसे प्रबल धर्मशक्तिको धारण करके कर्मयोगीको उसके उग्र तपस्या आदिके बलसे सप्तमलोक अर्थात् अन्तिम ऊर्द्धलोकमें पहुँचा देता है वही कर्म ऐश दशामें जीवको नाना आसुरी और देवयोनि प्रदान करता है और पूर्ण शुद्ध होकर अन्तमें ब्रह्माण्डके ईश्वर ब्रह्मा विष्णु महेशका साथी बन जाता है। यही तीनों प्रकारके कर्म तरङ्गोंका गूढ़ रहस्य है। परन्तु इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि कर्म जब शुद्ध हो जाता है और जब धर्म अधर्मकी विपरीत गतिको छोड़कर शुद्ध धर्मभावमें परिणत होता है तभी वह ज्ञानजननी विद्याका स्थान बनकर जीवको मुक्तिके प्रदान करनेमें समर्थ होता है। वह एकमात्र कर्म पहले जैव, ऐश और सहज रूपसे तीन रूपको प्राप्त करता है और पुनः नित्य नैमित्तिककाम्य, अध्यात्म, अधिदैव अधिभूत, आदि अनेक रूपोंको धारण करता है। परन्तु सबका रहस्य यह है कि कर्म किसी दशामें हो जब वह आसक्तिसे युक्त होकर मलिन रहता है तबतक वह जीवको बन्धन प्राप्त कराता ही रहता है और जब वह शुद्ध आत्मभाव युक्त होकर मलरहित और विशुद्ध हो जाता है तब वही जीवदशासे मुक्त करनेवाला बन जाता है। कर्म ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और विलयका कारण है। कर्म ही जीवपिण्डको उत्पन्न करता है और जीवको मुक्त करके पिण्डका लय कर देता है। कर्म ही सबका कारण है।

पञ्चम समुल्लासका दशम अध्याय समाप्त हुआ

मुक्तितत्त्व

मायाका स्वरूप मायाके दर्शन करनेकी शैली और मायासे उत्पन्न जीवके बान्धनेकी रज्जुरूपी कर्मका तत्त्व वर्णन करके अब मायाराज्यसे परे जो परमानन्दमय पद साधकको प्राप्त होता है उसीका रहस्य वर्णन किया जाता है। जीव जबतक त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें विचरण करता है तबतक वह बद्ध जीव कहलाता है और जब सुख दुःख मोहरूपिणी त्रिगुणमयी मायाके पासको काटकर नित्यानन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान हो जाता है तभी वह मुक्तात्मा कहलाता है। इसी मुक्तिका तत्त्व निर्णय करना ही प्रकृत प्रबन्धका आलोच्य विषय है। जीवमें मुक्तिकी इच्छा कैसे उत्पन्न होती है, इस प्रश्नका समाधान यह है कि जीवमें मुक्त होनेकी इच्छा स्वाभाविक है, क्योंकि जीव आनन्दमय ब्रह्मका अंश है।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

ऐसा कहकर श्रीभगवान्‌ने भी गोतामें जीवको अपना अंश ही बताया है। ब्रह्म नित्यानन्दमय है, जीव ब्रह्मका अंश है, इसलिये जीवके भीतर भी उसी नित्यानन्द सत्ताका बीज विद्यमान है। इसी नित्यानन्दका बीज रहनेसे जीवमात्रकी समस्त चेष्टा सुखप्राप्तिकेलिये होती है। जीवके हृदयमें विद्यमान नित्यानन्द सत्ता ही जीवको सुखके अन्वेषणमें इतस्ततः घुमाया करती है; परन्तु परिणामिनी प्रकृतिके समस्त सुखोंके क्षणभङ्गुर होनेसे जीव उनमें स्थायो सुख लाभ तथा पूरी तृप्तिको प्राप्त नहीं कर सकता है क्योंकि जिसके हृदयमें नित्यानन्दकी प्रेरणा है, वह अनित्य तथा दुःखमिश्रित सुखमें तृप्ति लाभ कैसे कर सकता है? यही कारण है कि—असंख्य जन्मों तक संसारमें सुखप्राप्तिके अर्थ भटकनेपर भी जीवको विषयसुखके द्वारा कदापि पूरी तृप्ति नहीं प्राप्त होती है। इसलिये विषयसुखके भोगते हुए भी जीवके भीतर नित्यानन्दकी चाह सदा ही बनी रहती है और विषय-भोगके अन्तमें उत्पन्न नाना दुःखोंको पाकर विषय-सुखकी ओरसे जीवका चित्त जितना-जितना हटता जाता है, हृदय निहित नित्यानन्दकी चाह उतनी ही उतनी बलवती होती जाती है। अन्तमें एक शुभ समय जीवको वह प्राप्त होता है कि जिस समय विषयकी ओरसे जीवकी दृष्टि एक बार ही हट जाती है और तभी नित्यानन्द मुक्तिपदकेलिये जीव

लालायित होकर सद्गुरुकी शरण लेता है। पूर्वप्रबन्धमें यह दिखा चुके हैं कि कर्मरूपी तरङ्ग प्रकृतिसे उत्पन्न होता है और पुनः प्रकृतिमें ही लय होता है। उस कर्म तरङ्गके तमकी ओरमें स्वतः जीव बन जाता है और जब वह तरङ्ग सत्त्वकी ओर पहुँचता है तब वह जीवके मुक्ति देनेका कारण बनता है। अतः जीवकी कर्म सम्बन्धसे स्वाभाविक गति मुक्तिकी ओर ही है। जीव जितना-जितना इस रहस्यको समझता जाता है उतना ही वह मुक्तिकी ओर अग्रसर होता है। यही जीव हृदयमें स्वाभाविक रूपसे मुक्तिकी इच्छाके प्रकट होनेका गूढ़ कारण है। यथा छान्दोग्य-श्रुतिमें—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा बन्धनमेवो-पाश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति।

जिस प्रकार व्याधके हाथमें सूतके द्वारा बंधा हुआ पत्ती इधर उधर उड़जानेकेलिये चेष्टा करनेपर भी जब असमर्थ हो जाता है तो बन्धनके स्थान में ही आकर बैठ जाता है, उसी प्रकार परमात्माके साथ नित्यानन्द सत्ताकी डोरी के द्वारा बँधा हुआ जीव प्रथमतः मोहिनी मायाके चक्रमें फँसकर मायाराज्यमें ही उसी नित्यानन्दकी प्राप्तिकेलिए अनेक जन्मों तक अन्वेषण करता है, परन्तु जब अन्तमें मायाके भीतर नित्यानन्दका अभाव देखकर अतृप्त हो जाता है तो माया-राज्यको छोड़कर नित्यानन्दमय ब्रह्मपदकी ओर अग्रसर होने लगता है। यही जीवमें मुमुक्षुभाव उत्पन्न होनेका कारण है। इस प्रकारसे वैराग्ययुक्त मुमुक्षुभावके साथ तत्त्वज्ञानी गुरुकी शरण लेनेपर गुरुदेव शिष्यको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करते हैं। जिन उपदेश वाक्योंके श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनद्वारा साधक क्रमशः प्रकृति-राज्यसे अतीत अपने नित्यानन्दमय ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है, इसीको मुक्ति कहते हैं। परमात्मा सत् चित् आनन्दमय हैं। जीवके परमात्माके अंश होनेके कारण जीवमें भी सत् चित् और आनन्दसत्ता विद्यमान है। जीवमें मायाका आवरण रहनेसे जीव अपने सत् चित् आनन्दभावको समझ नहीं सकता है। यही जीवका जीवत्व अर्थात् बन्धन है। गुरूपदेशानुसार निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठानद्वारा सत् सत्ता, उपासनायोगके अनुष्ठानद्वारा आनन्दसत्ता तथा ज्ञानयोगके अनुष्ठानद्वारा चित्सत्ताकी उपलब्धि होनेपर जीव

मायाके आवरणको परित्याग करके अपने सच्चिदानन्दमय ब्रह्मभावमें स्थित हो जाता है। उससमय जीवको सदा आनन्दमय शिवत्वप्राप्ति अर्थात् स्वरूपस्थिति होती है। इसीका नाम मुक्ति है। यथा योगदर्शन चतुर्थपादमें—

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वाचितिशक्तिरिति।"

पुरुषार्थ शून्य होकर त्रिगुणमयी प्रकृतिका जब लय हो जाता है तभी मुक्ति दशाका उदय होता है। जिस समय साधक अपने जीव-भावका परित्याग करके अद्वैत-भावमय स्वस्वरूपमें अवस्थान करता है, प्रकृति ब्रह्मसे प्रकट होकर स्वतः ही कर्मप्रवाह उत्पन्न करती है, कर्म चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न करके अज्ञानसे जीवको बान्धता है और अन्तमें सत्त्वगुणमय विद्याराज्यमें पहुँचाकर जीवको ज्ञानप्रदान करनेका कारण बनता है उससमय कर्म प्रकृतिमें और प्रकृति पुनः ब्रह्ममें लय हो जाती है: तब स्वस्वरूपका उदय होता है। यही शास्त्रानुसार मुक्तिका लक्षण है। मुक्तिदशामें ब्रह्मके साथ मुक्तपुरुषकी अद्वैत-भावमयी स्थिति होती है। पहले ही कहा गया है कि जीवमें ब्रह्मकी सत्‌चित् आनन्दरूपी त्रिविधसत्तायें विद्यमान हैं। केवल जीवके ऊपर मायाका आवरण आनेसे ही ब्रह्मसे जीवकी पृथक्‌ता प्रतीत होती है। इसलिये जब जीव और ब्रह्मके बीचमें पृथक्‌ता डालनेवाली मायाका लय हो जायगा तब अवश्य ही जीव ब्रह्मकी अभिन्नता सिद्ध हो जायगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। उससमय जीव ब्रह्ममें लवलीन होकर अपनी पृथक् सत्ताको भूल जायगा और अद्वैत-भावमें रमकर चिदानन्दरूप हो जायगा। यही मुक्तिकी चिदानन्दमयी परमा स्थिति है। यथा मुण्डक श्रुतिमें—

"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"

ब्रह्मको जानकर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है। जीवकी यह अद्वैत-स्थिति सविकल्प समाधिके अन्तर्गत सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार इनचार दशाओंमें ही साधक द्वैतके अवलम्बनसे परमात्मासे पृथक् रहकर उनकी आभास आनन्दसत्ताकी उपलब्धि करता है। यथा योगदर्शनके प्रथमपादमें—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।
एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।
ता एव सबीजः समाधिः ।
निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।

जब तक वस्तु, वस्तुके ज्ञाता और वस्तुका ज्ञान इन तीनोंमें पृथकूता रहे और उसी पृथकूताके साथ वस्तुकी आभास उपलब्धि हो तब तक सवितर्क समापत्ति अर्थात् समाधि जाननी चाहिये । निर्वितर्क समापत्तिमें इन तीनोंकी पृथकूता प्रायः नष्ट होने लगती है । तथापि एक-बारगी नष्ट नहीं होती है । ऐसी ही सविचार और निर्विचार समापत्ति समझनी चाहिये । यह सब सबीज अर्थात् सविकल्प समाधि-कोटिका ज्ञान तथा अनुभव है । निर्विचार समाधि जब परिपक्व होजाती है तब योगीको अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त होता है अर्थात् तब योगी परमात्मामें अपनी पृथक् सत्ताको रखते हुए भी रमण कर सकता है जिससे योगीको आत्मप्रसाद अर्थात् आत्मानन्द प्राप्त होने लगता है । यहाँ तक साधककी ब्रह्मसे पृथकूस्थिति रहती है । इसके बाद जब यह भाव भी नष्ट होजाता है अर्थात् त्रिपुटिका सम्पूर्ण विलय होकर जीव पूर्ण अद्वैतभावमें विलीन हो जाता है तभी निर्बीज अर्थात् निर्विकल्प समाधिका उदय होता है । यथा योगदर्शनके प्रथम पादमें—

"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।"

सबीज समाधिके समस्त संस्कारोंका जब निरोध अर्थात् लय होजाता है तभी निर्बीज अर्थात् निर्विकल्प समाधिका उदय होता है । इसी निर्विकल्प समाधि-दशामें ही जीव-ब्रह्मकी एकतासिद्धि तथा अद्वैतभावमें जीवकी स्वरूप-स्थिति होजाती है । यही सकल पुरुषार्थ तथा सकल साधनाकी चरमदशा है और मनुष्य-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है । इसीको मुक्तिदशा कहते हैं । ऊपर कथित विचारोंसे यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि मुक्तिदशामें अद्वैतस्थिति रहनेके कारण अद्वैतभावसे आनन्दका उपभोग नहीं होता, परन्तु मुक्त पुरुष आनन्दमयब्रह्ममें लय होकर आनन्दरूप होजाते हैं और वास्तवमें मुक्तात्माको इस प्रकार द्वैतानन्दकी इच्छा भी नहीं रह सकती है; क्योंकि किसी वस्तुकी इच्छा जीवमें तभी तक रह सकती है जब तक

जीव स्वयं उस वस्तुके स्वरूपको प्राप्त न हो। आनन्दकी चाह जीवमें तभीतक रह सकती है, जब तक जीवमें आनन्दका अभाव है अर्थात् जीव स्वयं आनन्दरूप न होजाय। परन्तु जब मुक्तजीव स्वयं ही ब्रह्ममें लय हो आनन्दरूप हो जाता है तब मुक्तपुरुषमें आनन्दभोगके लिए चाह किस प्रकारसे रह सकती है ?' स्वयं आनन्द-रूप हो जानेसे आनन्दका अभावबोधही उनमें नहीं रहेगा। इस मुक्तपुरुषको आनन्दकी चाह ही नहीं रहेगी। यही परमानन्दमय, सकल मङ्गलमय, आत्यन्तिक दुःखाभावमय मुक्तपुरुषकी शाश्वत निःश्रेयस दशा है, जिस दशाके प्राप्त होनेपर मनोनाश, वासनाक्षय और तत्त्वज्ञान तीनों योगीको साथही साथ प्राप्त हो जाते हैं और वासनाराज्य तथा मायाराज्यसे अत्यन्त अतीत होकर मुक्तपुरुष विभु सच्चिदा-नन्दमय ब्रह्मकी स्वरूपताको प्राप्त होजाते हैं। यह दशा वचनसे अतीत है, मनसे अतीत है, वर्णनासे अतीत है और बुद्धिसे भी अतीत है। यहाँ पर समस्त शास्त्र समाप्त हो जाता है। समस्त द्वैतसत्ता निरस्त हो जाती है और समस्त मायाजाल छिन्नविच्छिन्न होजाता है इस दशामें योगी आत्मानन्दके भोक्ता न होकर आत्मा-नन्दमय होजाते हैं। यथा—वृहदारण्यकोपनिषद् में—

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत् केन कं विजानीयात् ।"

"यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टे-र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥ यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन् वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरि-लोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥

....

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातु र्विज्ञातेर्वि-परिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥"

"अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोकाऽलोका देवाऽदेवा वेदाऽवेदाः।"

जब तक जीव और ब्रह्मकी पृथक्ता द्वारा द्वैतस्थिति है तभी तक एक दूसरेको देखता है, सुनता है, घ्राण लेता है, बोलता है, चिन्ता करता है, बुद्धिका प्रयोग करता है, परन्तु जीव-ब्रह्मकी एकता द्वारा अद्वैतस्थिति लाभ होने पर कौन किसको देखेगा, सुनेगा, घ्राण लेगा, बोलेगा, मनन करेगा या जानेगा ? इसलिये स्वरूपस्थित मुक्त पुरुषमें द्वैतमूलक दर्शनादि क्रिया बन नहीं सकती है। स्वरूपकी ओर दृष्टि होनेपर योगीको प्रपञ्चमय जगत्का भान होता ही नहीं। स्वरूपस्थितिके पहले दृश्य देखनेवालेकी दृष्टिका लोप नहीं होता है, परन्तु अद्वैतभावमय स्वरूपस्थितिके प्राप्त होनेपर जब दृश्य-द्रष्टा दर्शनरूपी त्रिपुटिका नाश ही हो जायगा तब कौन किसको देखेगा, इसलिये स्वरूपस्थित योगी दृश्यको अपनेसे पृथक्रूपसे देख नहीं सकता है, उनकी समस्त दृष्टि ब्रह्ममयी हो जाती है और संसारकी ओर कभी दृष्टि आने पर भी ब्रह्मरूपमें ही वे जगत्को देखते हैं। इसलिये उनका देखना भी न देखना ही है, इसी प्रकार रसन, घ्राण, श्रवण, स्पर्शन, चिन्तन और बुद्धि क्रियामें भी अद्वैतभाव जानना चाहिये। इसी कारण अद्वैत स्थितिमें पिता भी अपिता होते हैं, माता भी अमाता होती हैं, लोकसमूह भी अलोक हो जाते हैं, देव भी अदेव हो जाते हैं और वेद भी अवेद हो जाता है। यही स्वरूपस्थित मुक्तपुरुषकी आनन्दमयी अद्वैत स्थिति है।

साधना तथा ज्ञानशक्तिके पूर्ण अभावके कारण अर्वाचीन पुरुषोंने मुक्त पुरुषकी स्वरूपस्थितिके विषयमें बहुत ही भ्रमजाल फैलाया है। उन्होंने इस प्रकार कहनेका साहस किया है कि मुक्तात्मा ब्रह्मसे पृथक् रहकर ब्रह्मके भीतर स्वच्छन्द सर्वत्र घूमकर आनन्दको भोगता रहता है। क्योंकि यदि मुक्तपुरुष ब्रह्ममें मिलही जायगा तो आनन्द कैसे भोग सकेगा इसलिये ब्रह्ममें मिल जाना नहीं हो सकता है। मुक्तजीव सत्य सङ्कल्पके साथ जब सुनना चाहता है तो उसको कान मिल जाता है, देखना चाहता है तो चक्षु मिल जाता है, इत्यादि। और उसमें आकर्षण, प्रेरणा, गति, क्रिया, उत्साह, स्मरण, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, श्रवण, स्पर्शन आदि चौबीस प्रकारकी शक्तियां रहती हैं जिनके आश्रयसे मुक्तजीव ब्रह्ममें विचरण करता हुआ नाना प्रकारके सुखोंको भोगता है। अब नीचे ऊपर कथित

भ्रमोंका निराकरण किया जाता है। जीवको मुक्ति कब मिलती है यदि इसका ज्ञान अर्वाचीन पुरुषोंको होता तो वे इस प्रकार भ्रमजालमें पतित कभी नहीं होते। अन्यान्य वासनाओंकी तो बात ही क्या, ब्रह्मानन्द भोगने तककी वासना जब तक साधकमें रहती है तब तक उसको निःश्रेयसपदप्राप्ति नहीं हो सकती। कठ-श्रुतिमें लिखा है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥

जीवके हृदयकी समस्त वासना जब निवृत्त हो जाती है तभी जीव अमर होकर ब्रह्मको प्राप्त करता है। हृदयकी समस्त वासनाग्रन्थि टूट जानेपर तब जीव मुक्तिपदको प्राप्त कर सकता है। इसलिये जब तक जीवमें वासना रहे तब तक तो जीवको ब्रह्म मिल ही नहीं सकते, फिर जीव ब्रह्मसे पृथक् रह कर ब्रह्ममें आनन्द भोग कैसे करेगा? और इसप्रकार आनन्दभोगकी इच्छा मुक्त पुरुषमें हो कैसे सकती है? क्योंकि जैसा कि पहले बताया गया है कि किसी वस्तुका अभाव और तज्जन्य इच्छा जीवको तभी तक रह सकती है जब तक जीव स्वयं उसके स्वरूपको न प्राप्त करें। जब मुक्तपुरुष स्वयं ही आनन्दरूप हो जाते हैं तो उनमें आनन्दभोगकी इच्छा कैसे हो सकती है? स्वयं अमृतको अमृतकी चाह नहीं हो सकती है। जो स्वयं अमृत नहीं है उसको अमृतकी इच्छा हो सकती है। इस आनन्दभोग करनेकेलिये जीव ब्रह्मसे पृथक् रह कर स्वच्छन्द घूमा करेगा यह जो युक्ति अर्वाचीन पुरुषोंने दी है सो सर्वथा मुक्त पुरुषके स्वरूपसे विरुद्ध बात है। अतः इसपर विचार करना भ्रममूलक है। हां, यह सिद्धान्त यथार्थमें सालोक्य सामीप्य सारूप्य मुक्ति तथा उन्नत सिद्धात्माओंकी गतियोंका है। शास्त्रोंमें इसका वर्णन भी बहुधा पाया जाता है। ये लक्षण कैवल्य मुक्तिपदके नहीं हो सकते। अर्वाचीन पुरुषोंका दूसरा भ्रम यह है कि उन्होंने मुक्त पुरुषकेलिये दर्शन श्रवण आदि चाहना, क्रिया करना, इच्छा द्वेष आदि करना लिखा है। जबतक प्रकृतिका वेग जीवमें शान्त न हो जाय तबतक जीवको मुक्ति ही नहीं मिल सकती है। क्योंकि प्रकृतिके

वेगको समुद्रमें नदियोंकी तरह अपने व्यापक स्वरूपमें लयकर देना ही मुक्तिका साधन है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें लिखा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्यचाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

जिस प्रकार सर्वत्र पूर्ण अनन्त समुद्रमें नदियां जाकर लय हो जाती हैं, उनमें कोई भी चाञ्चल्य नहीं रहता है, उसी प्रकार समस्त वासनाएं जिनके उदार स्वरूपमें जा लय हो जाती हैं, वे ही मुक्तपुरुष शान्तिको प्राप्त करते हैं, वासनायुक्त जीव शान्तिको नहीं प्राप्त करता है। मान-मोह-हीन, विषयसङ्ग-रहित, ब्रह्मभावमें सदा ही मग्न, वासनाशून्य, इच्छाद्वेष सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे निर्मुक्त महात्मा ही अव्यय ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं। जिन्होंने प्रकृतिके समस्त वेगोंको दबाकर साम्यभावमें मनको ठहरा लिया है उन्होंने इसी लोकमें सृष्टिको जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म इच्छाद्वेषादिदोषरहित तथा साम्यस्वरूप हैं; इसलिये साम्यभावयुक्त योगी ब्रह्ममें ही स्थित रहते हैं। जिनको प्रिय वस्तुके मिलनेसे हर्ष नहीं है और अप्रिय वस्तुके मिलनेसे दुःख नहीं है, इस प्रकार धीरबुद्धि, भ्रमरहित पुरुष ही ब्रह्ममें स्थित होते हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धिको जिन्होंने संयत कर लिया है, इच्छाभयक्रोधादिवृत्तिरहित हैं, मोक्षपरा-यण हैं, इस प्रकारके मुनि सदा मुक्त ही हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रकृतिका वेग इच्छाद्वेष, क्रिया, संयोग, प्रेरणा, आकर्षण आदि कोई भी प्राकृतिक व्यापार मुक्तपुरुषमें नहीं हो सकता है। यह सब प्राकृतिक चाञ्चल्य तथा चेष्टा और इच्छादि मनोवृत्ति बद्ध जीवमें ही हुआ

करती है । अतः मुक्त पुरुषके लिये इच्छा द्वेष आदिका सम्बन्ध बताना अर्वाचीन पुरुषोंकी यथार्थतः भूल और साधनाराहित्य तथा ज्ञानहीनताका परिचायक है । जिस महात्माको मुक्तिराज्यका कुछ भी पता लगा है वह इस प्रकार उन्मत्तकी तरह प्रलापवाक्य कदापि नहीं लिख सकता है और तीसरी बात यह भी विचारनेकी है कि जबतक जीव ब्रह्मसे पृथक् है तबतक जीवको स्वस्वरूप (ब्रह्मस्वरूपकी) उपलब्धि ही नहीं हो सकती है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है—

"तं यथा यथोपासते तदेव भवति ।"

"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"—बृहदारण्यक ४—४—६

ब्रह्मसूत्रमें भी लिखा है—

"अविभागेन दृष्टत्वात्" ४—४—४

ब्रह्मकी उपासना करते करते जीव ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाता है । ब्रह्म होकर तब जीव ब्रह्मको प्राप्त करता है । स्वरूपस्थित मुक्त पुरुषका आत्मा परमात्माके साथ अभिन्नता प्राप्त कर लेता है । अतः मुक्तिमें ब्रह्मसे पृथक् होकर आनन्द भोगनेकी कल्पना मिथ्या कल्पनामात्र है, शास्त्रसम्मत सत्य सिद्धान्त नहीं है । अर्वाचीन पुरुषोंने अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिये जितने प्रमाण दिये हैं उनमेंसे कुछ प्रमाण तो सम्पूर्णरूपसे प्रसङ्गविरुद्ध हैं और कुछ प्रमाण सालोक्य सारूप्य आदि क्रममुक्तिपर हैं, आत्यन्तिक मुक्तिपर नहीं हैं । यथाः—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग् भवति,
पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति,

इत्यादि श्रुतिप्रमाण प्रसिङ्गविरुद्ध हैं । इस श्रुतिमन्त्रसे मुक्तपुरुषके आनन्दका तात्पर्य सिद्ध नहीं होता है । इसमें सूक्ष्म तथा कारण-शरीरके साथ अभिमानबद्ध जीवात्मा श्रवण दर्शन आदिकी इच्छा करके किस प्रकारसे श्रवणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय आदिको प्राप्त होते हैं उसीका ही वर्णन है; अतः इस श्रुतिका प्रमाण देना सर्वथा भ्रमयुक्त है । जीवात्माके इस प्रकार अभिमानद्वारा इन्द्रिययुक्त होनेके विषयमें 'जीवतत्त्व' नामक प्रबन्धमें पहले ही वर्णन किया गया है; अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है । यदि यह शङ्का हो, जैसे कि अर्वाचीन पण्डितोंने कहा है कि यदि जीवन्मुक्त होते रहेंगे तो एक दिन संसार जीवशून्य हो जायगा । इस प्रकारकी मोटी शङ्काओंका समाधान करना बहुत

सहल ही है। कर्मतत्त्वनामक अध्यायमें और जीवतत्त्वनामक अध्यायमें यह भली भाँति दिखाया गया है कि किस प्रकारसे प्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दन द्वारा चिज्जड़ ग्रन्थिरूपी जीवप्रवाह अपने आपही कर्मराज्यके एक ओरसे उत्पन्न होते रहते हैं और दूसरी ओर जाकर ग्रन्थि छूटकर मुक्त होते रहते हैं, अतः यह जीवोत्पत्ति-प्रवाह अनादि और अनन्त होनेके कारण इस प्रकारकी शंकाका कोई अवसरही नहीं है।

अर्वाचीन पुरुषोंके दिये हुए वेदान्तदर्शन आदिके प्रमाण क्रममुक्तिके लिये हैं अतः अब मुक्तिका प्रकारभेद वर्णन करके सब प्रमाणोंकी संगति की जाती है। किन किन उपायोंके द्वारा जीवको मुक्तिपद प्राप्त होता है, कर्मके द्वारा परमात्माकी सत्सत्ता, उपासनाके द्वारा आनन्दसत्ता तथा ज्ञानके द्वारा चित्सत्ताकी उपलब्धि करके जीव किस प्रकारसे मायाराज्यको अतिक्रम करता हुआ सच्चिदानन्दमय ब्रह्मभावमें विराजमान हो सकता है, इसका पूर्ण विवरण कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, भक्ति और योग, राजयोग आदि अनेक प्रबन्धोंमें इससे पहले ही कर चुके हैं। इस प्रकार ब्रह्मरूपताप्राप्तिके दो क्रम शास्त्रमें वर्णित किये गये हैं। यथा सहजमुक्ति और क्रममुक्ति। कर्म, उपासना, ज्ञानकी सहायतासे त्रिविध शुद्धि सम्पादन करनेपर वैराग्यवान् राजयोगी अपने आत्माको धीरे धीरे प्रकृतिके अन्नमय, प्राणमयादि पञ्चकोषोंसे पृथक् कर लेते हैं। तदनन्तर प्रकृति पञ्चपर्व-मुक्त वह जीवात्मा प्रथमतः त्रिपुटिके अवलम्बनसे ही व्यापक परमात्मामें लय हो जाता है। इस प्रकार लय होनेकी चार दशायें हैं। यथा वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। ये सब सविकल्प समाधिकी दशायें हैं। वितर्क दशामें प्रकृतिके पञ्चपर्वोंका विचार रखते हुए विभु परमात्माकी ओर जीवात्माकी गति होती है। विचारदशामें प्रकृतिका विचार छोड़कर परमात्मामें जीवात्माकी स्थिति होती है। आनन्द दशामें जीवात्मा वितर्क और विचारको छोड़कर विभु परमात्मामें लय हो ब्रह्मानन्दको भोगता है और अस्मिता दशामें वितर्क विचार आनन्द तीनोंसे अतीत हो त्रिपुटिकी अतिसूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त करके जीवात्मा परमात्मामें लय हो जाता है। उस समय केवल परमात्मासे कथञ्चित् पृथक्ताका आभास तथा स्मृतिमात्र राजयोगीको रहती है। तदनन्तर सविकल्प भावका लय होकर निर्विकल्प समाधिका उदय होता है। यथा-दैवीमीमांसामें—

"निर्विकल्पः सविकल्पलयात्"

सविकल्प समाधिभावके लय होनेपर तब निर्विकल्प समाधिका उदय होता

है । उस समय त्रिपुटिका कुछ भी सम्पर्क नहीं रहता है, जीवात्मा परमात्माका कोई भी भेद नहीं रहता है, जीवभावका निर्गुण ब्रह्मभावमें सम्पूर्ण रूपसे लय हो जाता है और भाग्यवान् राजयोगी अपनेमें तथा सर्वभूतोंमें व्यापक ब्रह्मसत्ताका अनुभव करके उस ब्रह्मभावमें अपनी सत्ताको भी विलीन करके अद्वितीय स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं । यही दशा सहजमुक्ति दशा कहलाती है । इस दशामें क्या होता है, इसके विषयमें मुण्डकश्रुतिमें लिखा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

ब्रह्मके साक्षात्कारके अनन्तर मुक्त पुरुषके हृदयकी गांठ खुल जाती है, अविद्यामूलक समस्त सन्देह निवृत्त हो जाते हैं और सञ्चित तथा क्रियमाण समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं । इसी प्रकार गीतामें भी—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
"बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।"
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥"

अपने ही भीतर ब्रह्ममें आनन्दरूप होकर आनन्दपूर्ण, आत्माराम, आत्मप्रकाशयुक्त योगी ब्रह्मभूत होकर निर्वाण मुक्ति प्राप्त करते हैं । ज्ञानी भक्त परब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको जानकर उनमें विलीन हो जाते हैं । समस्त संसार त्रिगुणमयी प्रकृतिका ही विलास है, ब्रह्म इससे पृथक् है ऐसा ज्ञान होकर जीव ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रकार परमज्ञानको प्राप्त होकर अनेक महात्मा ब्रह्मीभूत हो गये हैं । त्रिगुणमयी मायाके राज्यको अतिक्रम करके वे सब ब्रह्मीभूत हुए हैं । निर्विकल्प समाधिप्राप्त इस प्रकारके मुक्त पुरुषके सञ्चित और क्रियमाण संस्कार नष्ट हो जाते हैं । वासनाके आमूल नाशसे क्रियमाण कर्मका नाश और शरीरके

साथ आत्माका अभिमान सम्बन्ध नष्ट होनेके कारण सञ्चित कर्मका नाश हो जाता है; परन्तु जिन कर्मोंसे उनका यह अन्तिम शरीर बन चुका है उन प्रारब्ध कर्मोंके फलीभूत हो जानेके कारण मुक्त पुरुषको भोगद्वारा प्रारब्ध संस्कारोंको समाप्त करना पड़ता है। इसलिये शास्त्रमें कहा है—

"प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः"

भोगके द्वारा ही प्रारब्ध कर्म नष्ट हो सकते हैं। इसलिये स्वरूप स्थित होनेके बाद भी जब तक प्रारब्ध कर्मका क्षय न हो जाय तब तक मुक्तपुरुषको स्थूलशरीर धारण करना पड़ता है। मुक्तपुरुषकी इस प्रारब्ध भोगावस्थाको 'जीवन्मुक्त' अवस्था कहते हैं, अर्थात् वे जीते हुए भी मुक्त रहकर प्रारब्ध क्षयके अन्त तक शरीर धारण करते हैं और समस्त प्रारब्ध जब क्षय हो चुकता है तब उनका शरीर भी नष्ट हो जाता है। उस समय उनमेंसे स्थूल सूक्ष्म प्रकृतिका अंश महाप्रकृतिमें मिल जाता है और उनका निर्गुण शान्त आत्मा प्रकृतिसे अतीत ब्रह्ममें लय होकर अनन्तकालके लिये आनन्दरूप तथा अमृतरूप हो जाता है। ये ही सहजमुक्तिके अन्तर्गत 'जीवन्मुक्ति' तथा 'विदेहमुक्ति' नामक दो दशाएँ हैं। इस विषयमें श्री भगवान् शंकराचार्यजीने विवेक चूड़ामणिमें वर्णन किया है, यथा—

ज्ञानोदयात् पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्॥
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्॥
प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः।
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्सञ्चितागामिनाम्॥
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिताः।
तेषां तत्त्रतयं नहि क्वचिदपि ब्रह्मैव ते निर्गुणम्॥

जिस प्रकार किसी वस्तुको लक्ष्य करके बाण निक्षेप करनेपर वह निक्षिप्त बाण लक्ष्यभेद किये बिना निवृत्त नहीं होता उसी प्रकार तत्त्वज्ञानोदयके पहले उत्पन्न प्रारब्ध संस्कार ज्ञानसे भी नष्ट नहीं होता, केवल भोगसे ही नष्ट होता है

व्याघ्र समझकर बाण निक्षेप करनेके बाद यदि शिकारीको पता लग जाय कि वह व्याघ्र नहीं है, किन्तु गौ है, तथापि फेका हुआ बाण लक्ष्यभेद किये बिना नहीं रहता है, यहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिये। ज्ञानरूपी अग्निके द्वारा सञ्चित और आगामी अर्थात् क्रियमाण कर्म भस्म हो सकते हैं, परन्तु बलवान् प्रारब्ध कर्म भोगकेद्वारा ही समाप्त हो सकता है। केवल जो महात्मा निर्गुण ब्रह्मके साथ तन्मयता द्वारा एकीभाव प्राप्त होकर सदाके लिये ब्रह्ममें लवलीन हो गये हैं उनको कोई भी कर्म स्पर्श नहीं करता है। जब तक प्रारब्ध अवशेष रहे तबतक जीवन्मुक्त पुरुष स्वरूपस्थित रहनेपर भी तटस्थमें अवतीर्ण होकर प्रारब्ध कर्मको भोगा करते हैं और इस प्रकारसे प्रारब्ध कर्म जितने समाप्त होते जाते हैं उतनी ही उनकी दृष्टि तटस्थकी ओरसे निवृत्त होती जाती है। अन्तमें जब समस्त प्रारब्धकर्म नष्ट हो जाते हैं तब तटस्थ राज्यमें उनके आनेका कोई कारण ही नहीं रहता है। उस समय वे योगी निर्गुण ब्रह्मस्वरूपके साथ पूर्णरूपसे मिलते हुए उन्हींमें विलीन होकर विदेहमुक्ति लाभ करते हैं। उनका प्राण ऊपरको नहीं जाता है, यहीं विलीन हो जाता है। यथा वृहदारण्यक श्रुतिमें

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। अत्रैव समवलीयन्ते॥

सहजमुक्तिमें क्रममुक्तिकी तरह प्राण ऊपरको नहीं जाता है। यहीं महा-प्राणमें व्यष्टिप्राणका लय हो जाता है, विदेहमुक्तिके समय व्यष्टि प्रकृतिका महाप्रकृतिमें और आत्माका व्यापक परमात्मामें किस प्रकार विलय हो जाता है सो श्रुतिमें विस्तारितरूपसे वर्णित किया गया है। यथा-प्रश्नोपनिषद्में—

यथेमा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्यवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति॥ प्र० उ० ६-५॥

जिस प्रकार नदियाँ समुद्रकी ओर जाती हुई अन्तमें समुद्रमें लवलीन हो समुद्र बन जाती हैं, उनके पृथक् नामरूप नहीं रहते हैं, उसी प्रकार मुक्त पुरुषकी षोडश कला ब्रह्मकी ओर जाकर अन्तमें ब्रह्ममें ही लवलीन हो जाती है।

उनके पृथक् नाम रूप नहीं रहते हैं, वे अकल, अमृत होकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद्में भी लिखा है, यथा—

गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥
यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

विदेह मुक्तिके समय इन्द्रियसमूहके महाप्रकृतिमें लय होनेपर इन्द्रियाधिष्ठात्री पञ्चदश देवतागण मूल देवतामें मिल जाती हैं, मुक्तात्माका सञ्चित संस्कार महाकाशमें लय हो जाता है और उनका आत्मा अव्यय परब्रह्ममें मिलकर एक हो जाता है। जिस प्रकार समुद्रकी ओर प्रवाहशालिनी नदियाँ समुद्रमें लय होकर नाम रूपको त्याग देती हैं, उसी प्रकारमुक्त पुरुषविदेह मुक्तिके समय अपनी नाम रूपमयी पृथक् सत्ताको त्याग करके परात्पर परब्रह्ममें लवलीन हो जाते हैं। यही सहज मुक्तिके अन्तर्गत जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्तिका तत्त्व है। जीवन्मुक्त कितने प्रकारके होते हैं, उनके द्वारा संसारमें किस किस प्रकारके लोकहितकर कार्य हो सकते हैं और स्वरूपमें सदा स्थित होकर तटस्थ दशामें आवश्यकतानुसार अवतीर्ण हो ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि किस प्रकारसे कर सकते हैं, इन सबोंका विस्तारित वर्णन 'जीवन्मुक्ति समीक्षा' नामक आगेके अध्यायमें किया जायगा।

कर्मतत्त्व नामक अध्यायमें संक्षेपसे कहा गया है कि सहज कर्मका अन्तिमफल जीवन्मुक्त दशा है, ऐश कर्मका अन्तिम शुभफल ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिमूर्त्ति-पद प्राप्ति है और जैव कर्मका अन्तिम शुभफल सप्तम उर्द्ध्वलोक प्राप्ति है। इसी तृतीय गतिके साथ क्रममुक्तिका सम्बन्ध समझना उचित है। अब क्रममुक्तिके विषयमें शास्त्रीय सिद्धान्त बताया जाता है। छान्दोग्यश्रुति ५-१०-१-२ में लिखा है, यथा—

ये चेमेऽरण्ये तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेतिमासांस्तान्। मासेभ्यः सम्वत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत् पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति।

जो तपस्विगण निष्कामभावसे अरण्यमें उपासना करते हैं उनको शरीर-त्यागानन्तर देवयान गति प्राप्त होती है। वे अर्चिरभिमानी देवता, दिवाभिमानी देवता, शुक्लपक्षदेवता, उत्तरायणदेवता, संवत्सरदेवता, आदित्यदेवता और चन्द्रदेवताके लोकोंको अतिक्रम करके विद्युत्‌देवताके लोकको प्राप्त होते हैं। वहांसे अमानव पुरुष आकर उनको ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं। छान्दोग्यश्रुति-४-१५-५ में लिखा है—

"एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते"।

इसीको देवयानपथ या ब्रह्मलोकपथ कहते हैं। इस पथमें गमनकारी पुरुषको पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता है। महर्षिवेदव्यासने—

'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्"

इस ब्रह्मसूत्रके द्वारा प्रमाणित किया है कि अर्चि, दिवा आदि भोगभूमि नहीं है, परन्तु आतिवाहिक दिव्य पुरुषगण हैं, जो देवयानगतिप्राप्त साधकको ब्रह्मलोक तक पहुँचाते हैं। कौषीतकी उपनिषद्‌में रूपककी भाषामें ब्रह्मलोकप्राप्त साधककी अवस्था बताई गयी है। यथा-कौ-उ.१-२-५।

स एतं देवयानं पन्थानमापद्य अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स आदित्यलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्। तस्य वा एतस्य ब्रह्मलोकस्य आरो ह्रदो मुहूर्तो येष्टिहा विरजा नदी ह्ल्यो वृक्षः सालज्यं संस्थानं अपराजितं आयतनं इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ। विभु-प्रमितं विचक्षणा आसन्दी अमितौजाः पर्यङ्कः।...... स आगच्छति आरं, ह्रदं तं मनसैवात्येति। तमित्वा संप्रतिविदो मज्जन्ति। स आगच्छति मुहूर्त्तान्येष्टिहान् ते अस्मद् अपद्रवन्ति। स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति। तत् सुकृतदुष्कृते धुनुते......स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति। स आगच्छति ह्ल्यं वृक्षम्। तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति। स आगच्छति सालज्यं संस्थानं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति। स आगच्छति अपराजितं। आयतनं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति। स आगच्छति

इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ तौ अस्मद् अपद्रवतः। स आगच्छति विभुप्रमितं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति। स आगच्छति विचक्षणामासन्दी......सा प्रज्ञा। प्रज्ञया हि विपश्यति। स आगच्छति अमितौजसं पर्यङ्कं स प्राणः...... तस्मिन् ब्रह्मास्ते। तं ब्रह्मवित् पादेनैवाग्रे आरोहति। इत्यादि।

साधक देवयानपथसे अग्निलोकमें आते हैं। तदनन्तर क्रमशः वायु-लोक, आदित्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक और प्रजापतिलोकको अतिक्रम करके अन्तमें ब्रह्मलोकमें आजाते हैं। इस ब्रह्मलोकमें 'आर' नामक ह्रद है, 'येष्टिहा' नामक मुहूर्त्त है, 'विरजा' नामक नदी है, 'इल्य' नामक वृक्ष है, 'सालज्य' नामक पत्तन है, 'अपराजित' नामक आयतन है, 'इन्द्र-प्रजापति' द्वारपाल हैं, 'विभु' नामक सभा स्थान है, 'विचक्षणा' नामक मञ्च है और 'अमितौजा' नामक पर्यङ्क है। साधक 'आर'ह्रदमें पहुँचकर मनके द्वारा उसको पार हो जाते हैं, अज्ञानि-गण उसमें डूब जाते हैं। वे येष्टिहा नामक मुहूर्त्तगणको प्राप्त होते हैं। मुहूर्त्तगण उनको देखकर भाग जाते हैं। वे पुण्य पापको परित्याग करते हैं। पुण्य पापको परित्याग करके ब्रह्मको जानकर साधक ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। वे 'इल्य' वृक्षके पास आजाते हैं, तब उनमें ब्रह्म गन्ध प्रवेश करती है। वे 'सालज्य' नामक पत्तनको प्राप्त करते हैं, तब उनमें ब्रह्मरस प्रविष्ट होता है। वे अपराजित नामक आयतनको प्राप्त होते हैं। तब उनमें ब्रह्मतेज प्रवेश करता है। वे इन्द्र प्रजापति नामक दोनों द्वारपालके पास आते हैं। द्वारपालगण उनके पाससे हट जाते हैं। वे विभु नामक सभास्थलमें आजाते हैं, तब उनमें ब्रह्मतेज प्रविष्ट होता है। वे विचक्षण नामक मञ्चको प्राप्त होते हैं। यह मञ्च ही प्रज्ञा है, जिससे समस्त विषयोंका दर्शन होता है। वे अमितौजा नामक पर्यङ्कके पास आते हैं, यही प्राण है। इसमें ब्रह्मा विराजमान हैं। ब्रह्मवित् साधक एक पदसे उस पर्यङ्कपर चढ़ जाते हैं। इसी प्रकार छान्दोग्य श्रुतिमें भी वर्णन है, यथा—

अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्।

तद् य एष एतौ अरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ छा० उ० ८।५।३-४।

एष सम्प्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन् इदं शरीरं···स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। य एते ब्रह्मलोके ॥ छा० उ० ८।१२।३-५।

इस पृथिवीसे तीसरे स्वर्गमें ब्रह्मलोक है, जहाँपर ब्रह्मा निवास करते हैं। वहांपर 'अर' और 'एय' नामक दो समुद्र, 'ऐरंमदीय' नामक सरोवर, 'सोमसवन' नामक अश्वत्थ वृक्ष और 'अपराजिता' नामक पुरी है। उसमें ब्रह्माका स्वर्णमय गृह है। ब्रह्मचर्यके बलसे जो लोग 'अर' और 'एय' नामक दो समुद्र प्राप्त होते हैं, उन्हींके लिये यह ब्रह्मलोक है। ब्रह्मलोक प्राप्त साधकको सब लोकोंमें इच्छागति होती है। आत्मप्रसादयुक्त साधक स्थूलशरीरसे निष्क्रान्त होकर परम ज्योतिको प्राप्त हो स्वरूपस्थ हो जाते हैं। वे ही उत्तम पुरुष हैं, वे वहांपर स्त्री, यान अथवा कुटुम्बोंके साथ रमण क्रीडा तथा हास्य करते हुए विचरण करते हैं। उनको पूर्व-स्थूल शरीर स्मरण नहीं रहता है। वे ब्रह्मलोकमें दिव्यचक्षु तथा मनके द्वारा समस्त वस्तुओंको देखकर रमण करते हैं। यही सब श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मलोकका वर्णन तथा ब्रह्मलोकप्राप्त क्रममुक्तिके अधिकारी साधकोंके विविध सुखभोगका वृत्तान्त है। श्रीभगवान् वेदव्यासने वेदान्तदर्शन ४-४-८ में कहा है—

'सङ्कल्पादेव तत् श्रुतेः'।

ब्रह्मलोकप्राप्त सिद्धात्माके सङ्कल्पमात्रसे समस्त ऐश्वर्यकी प्राप्ति उनको होती है।

अतएव च अनन्याधिपतिः। ब्रह्मसूत्र ४-४-९।

इसलिये सिद्धात्मा स्वराट् होजाते हैं। छान्दोग्यश्रुति प्र० ८ खं० २ में लिखा है—

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः
समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ।
अथ यदि मातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य मातरः
समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ।
यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते
सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ॥

ब्रह्मलोकप्राप्त सिद्धपुरुष यदि पितृलोकका आनन्द चाहते हैं तो उनके सङ्कल्पमात्रसे ही पितृगण उनके पास आ जाते हैं और उनको पितृलोकका आनन्द प्राप्त होने लगता है। यदि मातृलोकका आनन्द चाहते हैं तो सङ्कल्पमात्रसे माताएं उनके पास आ जाती हैं और मातृलोकका आनन्द प्रदान करती हैं। इस प्रकारसे सिद्धात्मा जो कुछ कामना करते हैं उनके सङ्कल्पमात्रसे ही सब कुछ उनको प्राप्त हो जाते हैं। श्रीभगवान् वेदव्यासने वेदान्त-दर्शन ४-४-१५ में लिखा है—

"प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ।"

सिद्धात्मा इच्छाके अनुसार अनेक शरीरोंको बनाकर उनमें प्रवेश कर सकते हैं। छान्दोग्य श्रुति प्र० ७, खं० २६ में भी लिखा है—

"स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव ।"

सिद्धपुरुष एक तीन पांच सात नौ इस प्रकारसे अनेक शरीर धारण कर सकते हैं। यही सब ब्रह्मलोक प्राप्तजीवोंके मुक्ति होनेसे पहले प्राप्त ऐश्वर्यसमूह हैं। इस प्रकार ऐश्वर्योंकी कामना मुक्तपुरुषको नहीं हो सकती है, क्योंकि कामनाके सम्पूर्ण नाशके बिना जीवको कदापि मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। यथा मुण्डक श्रुतिमें—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

सिद्धात्मा अमुक्त पुरुषमें कामनाके अनुसार कमनीय वस्तुओंकी प्राप्ति होती है, परन्तु आप्तकाम कृतात्मा मुक्तपुरुषकी सभी कामनाएं नष्ट हो जाती हैं। अर्वाचीन पुरुषोंने ब्रह्मलोक प्राप्त सिद्धात्माओंकी कामना सम्बन्धीय श्रुतियोंको मुक्तात्माके लिये लगा दिया है। यह उनकी भूल है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शनके जो तीन

सूत्र उन्होंने मुक्तपुरुषके ब्रह्मसे पृथक् रहनेके विषयमें लगा दिये हैं, ये भी तीन सूत्र ब्रह्मलोकप्राप्त ब्रह्मसे पृथक्भावमें स्थित सिद्धपुरुषोंके विषयके हैं, मुक्तात्माके विषयके नहीं हैं। ये तीन सूत्र और इनके आगेके दो सूत्र इस प्रकारके हैं, यथा—वेदान्तदर्शन ४।४।१०–१४ में—

अभावं वादरिराह ह्येवम् ।
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।
तन्वभावे सन्धवदुपपद्यते ।
भावे जाग्रद्वत् ।

ब्रह्मलोक प्राप्त सिद्धात्माका शरीर रहता है कि नहीं इस विषयमें बादरि ऋषि कहते हैं कि उनका शरीर नहीं रहता है, जैमिनी ऋषि कहते हैं कि शरीर रहता है। इन दोनों मतोंका सामञ्जस्य करके बादरायण महर्षिने कहा है कि शरीरसे सम्बन्ध रखना या न रखना ब्रह्मलोकप्राप्त सिद्धपुरुषकी इच्छाके अधीन है। यदि शरीरको रक्खें तो उनको जाग्रतकी तरह भोगोंका अनुभव होता है और यदि शरीर न रहे तो स्वप्नवत् उनको भोगोंका अनुभव होता है। यही सब ब्रह्मलोक-प्राप्त जीवोंके भोगोंके प्रमाण हैं। इनमेंसे कोई भी भोग मुक्तपुरुषके लिये नहीं लिखा गया है क्योंकि मुक्तपुरुषमें इस प्रकारके भोगोंकी इच्छा ही नहीं रहती है। अतः अर्वाचीन पुरुषोंकी दी हुई समस्त युक्तियां निर्मूल हैं। इस प्रकारसे ब्रह्मलोक-प्राप्त सुख भोक्ता जीव कबतक ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं, इस विषयमें वेदान्तदर्शन ४–३–१० में लिखा है—

"कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्" ।

ब्रह्मलोकप्राप्त जीव उसलोकमें महाप्रलय कालतक रहते हैं। पश्चात् ब्रह्माण्डके अवसानमें महाप्रलयके समय जब त्रिमूर्त्ति भी परब्रह्ममें विलीन हो जाती हैं उस समय वह जीव भी ब्रह्माण्डके अध्यक्ष त्रिमूर्तियोंके साथ परब्रह्ममें विलीन होकर मुक्त हो जाते हैं। बृहदारण्यक श्रुतिमें लिखा है—

"ब्रह्मलोकान् गमयति। ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ।"

"स खलु एवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते ।" छा०उ०, ८-१५-१

ब्रह्मलोक प्राप्त जीवगण उसलोककी आयु परिमितकाल ब्रह्मलोकमें वास करते हैं । उनको पुनः इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता है । इसीप्रकार स्मृतिमें भी लिखा है यथा—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रति सञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

कल्पके अन्तमें जब प्रलय उपस्थित होता है, उससमय ब्रह्मलोकमें वासनानाश द्वारा ज्ञानप्राप्त कृतकृत्य वे साधकगण ब्रह्माके साथ परब्रह्ममें विलीन होकर निःश्रेयपद प्राप्त हो जाते हैं । ब्रह्माकी आयुसे विष्णुकी आयु और विष्णुकी आयुसे रुद्रकी आयु अधिक है । उसीके अनुसार इस श्रेणीके मुक्तात्मा उक्त तीन श्रेणीकी आयु प्राप्त होते हैं । इस प्रकारकी आयुका रहस्य स्वतन्त्र अध्यायमें वर्णन किया जायगा । यही देवयानमार्गद्वारा क्रममुक्तिका आर्यशास्त्रवर्णित गूढ़ तत्त्व है ।

सगुणपञ्चोपासनाके द्वारा जो सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य और सालोक्य-नामक चार प्रकारकी मुक्तियोंका वर्णन उपासनाशास्त्रोंमें पाया जाता है, विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि ये सब क्रममुक्ति कोटिके ही अन्तर्गत हैं । विष्णु, शक्ति, शिव, सूर्य और गणपति-रूगुण ब्रह्मकी इन पञ्च मूर्तियोंका लोक षष्ठलोक कहलाता है । इसलिए सगुण ब्रह्मकी उपासनाद्वारा उपास्यदेवतामें तन्मय होकर तत्त्वज्ञानप्राप्तिके पहले यदि किसी उपासकका शरीरत्याग हो जाय तो शरीर-त्यागानन्तर षष्ठलोकके अन्तर्गत उसलोकमें उस उपासककी गति होगी जिस उपास्य-देवतामें उसको तन्मयता प्राप्त हुई थी । यथा विष्णूपासक विष्णुलोकमें जायेगें, शिवोपासक शिवलोकमें, शक्ति-उपासक शक्तिलोक मणिद्वीपमें इत्यादि । इन सब लोकोंका वर्णन आर्यशास्त्रमें बहुत मिलता है, यथा श्रीमद्भागवत ३य स्कन्ध १५ अध्यायमें विष्णुलोकका वर्णन—

मनसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकाल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥
त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः ।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्॥
यत्र चाद्य पुमानास्ते भगवाञ्छब्दगोचरः।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः॥
यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्त्तिमत्॥ इत्यादि॥

ब्रह्माके मानसपुत्र सनकादि चार ब्रह्मर्षि आकाशमार्गमें अनेक लोकोंमें विचरण करते हुए किसी समय सर्वलोक पूज्य विष्णु भगवान्के स्थान विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठमें पहुँचे। वहांपर संसारवासनाशून्य परम धार्मिक विष्णुलोक-वासिगण थे। उनकी मूर्ति विष्णुकी तरह थी और वे सभी विष्णुके परम निष्काम उपासक थे। आदिपुरुष वेदप्रतिपाद्य सगुण ब्रह्म विष्णुदेव उसी लोकमें रहते हैं, जिनमें रजस्तमोगुणोंका लेशमात्र नहीं है और केवल शुद्ध सत्त्वगुण ही विद्यमान है। वहांपर निःश्रेयस नामक सुन्दर उद्यान है, जिसमें इच्छानुसार फल देनेवाले अनेक वृक्ष हैं, जो सकल ऋतुओंमें फलफूल समृद्धिसम्पन्न तथा मूर्तिमान् कैवल्य-रूप हैं, इत्यादि। इसीप्रकार देवीभागवतमें, मणिद्वीपनामक शक्तिलोकका भी वर्णन मिलता है, यथा देवीभागवतके ८ म स्कन्धमें—

भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग!
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति॥
तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति।
तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग॥
तेन मुक्तः सदैव स्यात् ज्ञानान्मुक्तिर्न चान्यथा।
इहैव यस्य ज्ञानं स्याद् धृद्गतप्रत्यगात्मनः॥
मम संवित् परतनोस्तस्य प्राणा व्रजन्ति न।
ब्रह्मैव संस्तदाप्नोति ब्रह्मैव ब्रह्म वेद यः॥

भक्ति करनेपर भी प्रारब्धसंस्कारके कारण जिस भक्तको तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त होता है वह मणिद्वीप नामक शक्तिलोकमें जाता है। वहांपर इच्छा न होने पर भी उसका समस्त भोग प्राप्त होते हैं और अन्तमें तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर उसको

मुक्ति होती है क्योंकि ज्ञानके बिना आत्यन्तिक मुक्ति कदापि नहीं होती। इसके अतिरिक्त इसी लोकमें जिसको अन्तरात्माका ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह यही मुक्ति-पदको प्राप्त करता है। उसका प्राण सारूप्यादि मुक्ति प्राप्त करनेवालोंकी तरह ऊपरके लोकोंमें नहीं जाता है। वह इसी लोकमें सहजगति द्वारा ब्रह्मरूप होकर ब्रह्मको प्राप्त करता है, क्योंकि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप ही है। इसी प्रकार शिवपुराणादिकोमें भी शिवलोकादिकोंका वर्णन हैं जहाँपर शिवादि सगुण ब्रह्मोपासकोंको सारूप्य, सायुज्य, सालोक्य, आदि मुक्तियाँ प्राप्त हुआ करती हैं। सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य और सालोक्य इन चारोमेंसे कोई भी मुक्ति आत्यन्तिक नहीं है इसलिये इनमें परब्रह्मभावकी प्राप्ति नहीं होती है। इनमें केवल उपास्य देवताओंमें तन्मयता तथा उनके लोकमें निवासद्वारा अत्युत्तम सात्त्विक आनन्द साधकको प्राप्त होता है। सारूप्य मुक्तिमें उपास्य देवताका रूपधारण करके साधक उनमें तन्मयताद्वारा आनन्दमग्न रहते हैं। सायुज्य मुक्तिमें उपास्य देवताके साथ योगयुक्त होकर साधक सात्त्विक आनन्दलाभ करते हैं। सामीप्य मुक्तिमें उपास्यके समीप रहकर उनके दर्शनादि द्वारा तथा सालोक्य मुक्तिमें उपास्यके लोकमें स्थित होकर स्थान महिमाद्वारा साधकको अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। वे सभी आनन्द द्वैतभावमें प्राप्त आनन्द हैं। अद्वैतभावमें व्यापक परमात्माके साथ एकरूप होकर आनन्दरूपताप्राप्ति इन सभोंका स्वरूप नहीं है। इसलिए अद्वैतभाव-प्रयासी साधक इन मुक्तियोंकी इच्छा नहीं करते हैं, यथा श्रीमद्भागवतके ३४ स्कन्धके २९ अध्यायमें—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥

एकान्तरति भक्तगण सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यरूप चार प्रकारकी मुक्ति तथा भगवान्‌के ऐश्वर्य समूहको उनके द्वारा दिये जानेपर भी नहीं ग्रहण करते हैं। वे पूर्ण निष्काम आत्यन्तिक भक्तियोगके आश्रयसे उनमें अनन्यासक्तिद्वारा लयलीन होकर त्रिगुणमयी मायाके राज्यको छोड़ ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। सालोक्यादि मुक्तिमें द्वैतसत्ताकी विद्यमानता रहनेसे यह स्थिति प्रकृतिराज्यसे परे नहीं

हैं। इसलिए किसी असाधारण कारणके उपस्थित होनेपर इन दशाओंसे साधकका पतन भी हो सकता है, यथा—श्रीमद्भागवतमें जय विजय नामक सामीप्य मुक्तिप्राप्त विष्णुके दोनों द्वारपालकोंका रावण, कुम्भकर्ण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु आदिरूपमें सनकादि ब्रह्मर्षियोंके अभिसम्पातद्वारा पतन लिखा है। परन्तु इस प्रकारकी पतन-सम्भावना किसी असाधारण कारणसे ही संगठित हो सकती है, साधारण कारण द्वारा कदापि नहीं और इसप्रकार असाधारण कारणके उपस्थित होनेपर भी सारूप्य तथा सायुज्यमुक्तिप्राप्त साधकका पतन विरल ही होता है। केवल सामीप्य सालोक्य मुक्तिप्राप्त साधकके प्रति इस प्रकार असाधारण कारणका सम्पर्क हो सकता है। इसी असाधारण कारणके वर्णनस्वरूपसे गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन !
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।

समस्त लोक, यहाँ तक कि ब्रह्मलोकके भी जीव पुनः संसारमें आ सकते हैं, परन्तु निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता है। इस प्रकारसे ब्रह्मलोक तथा अन्य किसी उपास्यदेवताओंके लोकसे पतन होना असाधारण घटना है। साधारणदशामें उपास्यलोकप्राप्त साधक उपास्यके साथ कल्पान्तपर्यन्त उस लोकमें रहते हैं। तदनन्तर पूर्ववर्णित नियमानुसार प्रलयके समय जब ब्रह्माण्डका नाश होता है और उनके उपास्यदेव भी परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं उस समय उपास्यके साथ वह सामीप्यादि मुक्तिप्राप्त उपासकभी परब्रह्ममें विलीन होकर निर्वाणमुक्ति प्राप्त हो जाते हैं। विष्णूपासक विष्णुके साथ, शिवोपासक शिवके साथ, सूर्योपासक सूर्यके साथ, इस प्रकारसे महाप्रलयकालमें निःश्रेयसपदको प्राप्त करके ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। उस समय उनकी सत्ता पृथक्‌रूपमें न रहकर परब्रह्मके साथ एकीभूत हो जाती है और वे आनन्दरूप अमृतरूप हो जाते हैं। षष्ठलोकवासी किसी साधकमें यदि तत्त्वज्ञानका विकास हो जाय तो महाप्रलयके पहले भी उनकी आत्यन्तिकी मुक्ति हो सकती है। इसमें यह प्रकार होगा कि इस प्रकार तत्त्वज्ञान प्रयासी साधक कुछ कालतक उपास्यलोक अर्थात् षष्ठलोकमें रहकर पश्चात् सप्तमलोकको प्राप्त हो जायेंगे और सप्तमलोकमें उनको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जायेगी जिससे वे परब्रह्मके मायातीत विभुस्वरूपको ज्ञानद्वारा जानकर उनमें विलीन हो निर्माणमुक्तिप्राप्त हो जायेंगे। यही उपास्यलोकप्राप्त साधकोंमें क्रममुक्तिके

दो क्रम हैं। सालोक्यादि मुक्तियोंका स्वरूप न समझकर अर्वाचीन पुरुषोंने इनके भी विषयमें अनेक शंकाएँ उठाई हैं; परन्तु वे सब शंकाएँ नितान्त अकिञ्चित्कर होनेसे उपेक्षा करने योग्य हैं।

साधनराज्यमें प्रवेशका अभाव तथा आध्यात्मिक शक्तिहीनता और अज्ञानके कारण अर्वाचीन पुरुषोंने मुक्तिके विषयमें एक बड़ी ही हास्यजनक कल्पना निकाली है। वे कहते हैं कि अनन्तकालकेलिये मुक्तिमें रहना अच्छा नहीं होता है इसलिये मुक्तिमें कुछ दिनों तक रह कर पुनः संसारमें लौट आना ही अच्छा है। उनकी हास्यजनक युक्तियाँ नीचे क्रमशः दी जाती हैं:—

(१) जीवका सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं इसलिये उसका फल अनन्त नहीं हो सकता है।

(२) मुक्तिमेंसे कोई भी जीव लौट कर इस संसारमें न आवें तो संसारका उच्छेद अर्थात् जीवका निःशेष होजाना चाहिये।

(३) मुक्तिके स्थानमें बहुतसा भीड़ भड़क्का होजायगा क्योंकि वहाँ आगम अधिक और व्यय कुछ भी नहीं होनेसे बढ़तीका पारावार न रहेगा।

(४) दुःखके अनुभवके विना सुख कुछ भी नहीं हो सकता, जैसे कटु न हो तो मधुर क्या, जो मधुर न हो तो कटु क्या कहावे?

(५) जो ईश्वर अन्तवाले कर्मोंका अनन्त फल देवे तो उसका न्याय नष्ट होजाय।

(६) जो जितना भार उठा सके उतना उसपर धरना बुद्धिमानोंका काम है, जैसे एक मन भार उठानेवालेके सिरपर दस मन धरनेसे भार उठवानेवालेकी निन्दा होती है, वैसे अल्पज्ञ अल्प सामर्थ्यवाले जीवपर अनन्त सुखका भार धरना ईश्वरके लिये ठीक नहीं।

(७) जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है तो जिस कारणसे उत्पन्न होते हैं वह चुक जायगा क्योंकि चाहे कितना बड़ा धनकोश हो परन्तु जिसमें व्यय है और आय नहीं उसका कभी न कभी दिवाला निकलही जाता है, इसलिये यही व्यवस्था ठीक है कि मुक्तिमें जाना और वहांसे पुनः आना ही अच्छा है।

(८) क्या थोड़ेसे कारागारसे जन्मकारागारका दण्ड अथवा फांसीको कोई अच्छा मानता है? जब वहांसे आना ही न हो तो जन्मकारागारसे इसमें इतनाही अन्तर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती।

(९) ब्रह्ममें लय होना समुद्रमें डूब मरना है।

ये सब मुक्तिसे लौटनेके विषयमें अर्वाचीन पुरुषोंकी दी हुई युक्तियां हैं। मुक्ति क्या वस्तु है और जीवको किस अवस्थामें प्राप्त होती है इस तत्त्वका यदि अणुमात्र भी ज्ञान उनको रहता तो इस प्रकार हास्यजनक तुच्छ युक्तियां वे कदापि देनेका साहस नहीं करते। प्रथम तो विचार करनेकी बात यह है कि कारणके बिना कार्य नहीं हो सकता इसलिये जन्मरूपी कार्यकेलिये संस्काररूपी कारणकी आवश्यकता है। संस्कारका कारण वासना है इसलिये जबतक जीवके अन्तःकरणमें वासनाका बीज रहता है, तब तक उससे संस्कारकी उत्पत्ति होती रहती है और संस्कारके द्वारा प्रेरित होकर जीव आवगामनचक्रमें घूमता रहता है। मुक्ति जीवको तभी प्राप्त होती है जब तत्त्वज्ञानद्वारा वासनाका आमूल नाश होकर जन्मके कारण कर्मसंस्कारका नाश होजाता है। योगदर्शनके साधन पादमें लिखा है:—

"ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः"

जीवके चित्तस्थित सूक्ष्मसंस्कार विलोमविधिके द्वारा लय कर देने होते हैं तब जीवको समाधि प्राप्त होती है। कठोपनिषद्में लिखा है :—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

अन्तःकरणमें स्थित समस्तवासनाएँ जब नष्ट होजाती हैं तभी जीव अमृतरूप होकर ब्रह्मको प्राप्त करता है। मुण्डक श्रुतिमें लिखा है :—

"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं
साम्यमुपैति ॥"

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।"

जीव पुण्यकर्म और पापकर्म दोनोंके संस्कारोंको ही धोकर निरञ्जन हो परम शान्तिमय ब्रह्मको प्राप्त करता है। ब्रह्मको प्राप्त होने पर समस्त कर्मका क्षय होजाता है और भी गीतामें :—

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !"

तत्त्वज्ञानरूप अग्निके द्वारा जीवके समस्त कर्म भस्म होजाते हैं। अतः समस्त वासनाजनित कर्मसंस्कारोंके आमूल नाशके अनन्तर ही जब जीवको मुक्ति प्राप्त होती है, तो मुक्तिसे लौटकर पुनः जन्म लेनेकेलिये जीवके पास कर्म कहाँसे आवेगा ? अतः वासना तथा कर्मसंस्कार रूपी कारणके अभावसे मुक्तिके

बाद पुनर्जन्मरूपी कार्य कदापि नहीं हो सकता है। अर्वाचीन पुरुषोंने अत्यन्तही प्रमादके साथ इस प्रकार शास्त्रविरुद्ध, विचारविरुद्ध, तथा भ्रमपूर्ण सिद्धान्तकी अवतारणा की है। प्रवृत्तिमूलक संस्कार ही जीवके संसारमें जन्मग्रहणका कारण बनता है इसलिये यदि "मुझे इतने दिनों तक मुक्तिमें रहकर पुनः संसारमें आकर विषयभोग करना होगा ?" इस प्रकार प्रवृत्तिमूलक संस्कार साधकके अन्तःकरणमें रहे तो न वह साधक निवृत्तिसेवी संन्यासी ही बन सकता है, न उसको समाधि ही प्राप्त हो सकती है और न उसको प्रकृति-राज्यसे अतीत व्यापक ब्रह्मका ही अनुभव हो सकता है क्योंकि उसके चित्तमें जबतक प्रवृत्ति संस्कारका बीज रहेगा तबतक वह कदापि प्रकृतिराज्यसे अतीत नहीं हो सकेगा। अतः इस प्रकारका सिद्धान्त सर्वथा भ्रमपूर्ण है। अब नीचे क्रमशः अर्वाचीन पुरुषोंकी दी हुई शंकाओंका निराकरण किया जाता है :—

(१) मुक्ति किसी साधनाकेद्वारा साध्य वस्तु नहीं है क्योंकि जबतक साधन, साधक और साध्यरूपी त्रिपुटि रहती है तबतक द्वैतभाव है, अद्वैतमें त्रिपुटिकाका विलय हो जाता है। जीव जो कुछ साधना करता है सो मुक्तिके विरोधी व्यापारोंको हटानेके लिये ही करता है। 'जीवतत्त्व' नामक प्रबन्धमें पहले ही बताया गया है कि स्वरूपतः जीव और ब्रह्ममें कोई भी भेद नहीं है, जीव और ब्रह्ममें भेद अविद्यारूपी उपाधिसे कृत है। इसी अविद्यारूपी उपाधिको दूर करनेके लिये ही जीवको साधनमार्गका आश्रय लेना पड़ता है। जब साधनाके परिपाकमें अविद्याग्रन्थि टूट जाती है तब ब्रह्मसे जीवको पृथक् भावमें रखनेकी कोई भी वस्तु नहीं रहती है। उस समय जीव द्वैतभावको छोड़ अद्वैत-भावमय ब्रह्ममें अपनी सत्ताको विलीन कर आनन्दमय तथा अमृतमय हो सकता है। अतः परिमित साधन द्वारा आनन्दफलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है, इस प्रकार शंकाही नहीं उठ सकती है।

(२) समस्त जीवोंका निःशेष होकर संसारका उच्छेद तो तब हो सकता है जब कि प्रकृति सादि सान्त और जीवप्रवाह भी सादि सान्त हो। 'जीव-तत्त्व' नामक प्रबन्धमें पहले ही बतलाया गया है कि अनन्त महाप्रकृतिमें स्वाभाविक परिणाम द्वारा अनन्त जीवकेन्द्रोंकी उत्पत्ति और अनन्त जीवकेन्द्रोंका लय होता है। उत्पत्ति भी अनन्त है और मुक्ति भी अनन्त है, किसीकी भी संख्या नहीं है अतः उच्छेदकी आशंका वृथा और सृष्टितत्त्वके विषयके अज्ञानका ही फलमात्र है।

(३) मुक्ति कोई पशुशाला या पान्थशालाकी तरह स्थान नहीं है, जहां पर मुक्तजीव सब इकट्ठे होते हों। आत्माकी चेतनसत्ता सर्वव्यापी है, अविद्याकी उपाधिसे ग्रसित वही चेतनसत्ता जीव कहलाती है। जब तक अविद्या है तबतक जीवभाव है; ज्ञानद्वारा अविद्याके नाश होने पर जीवभावका भी विलय हो जाता है। उस समय जीव और ब्रह्ममें कोई भी भिन्नता नहीं रहती है। जीव पहले भी ब्रह्ममें ही था और मुक्त होने पर भी ब्रह्ममें ही रहता है। बद्धावस्थामें केवल उपाधिकृत भेदमात्र रहता है। मुक्तावस्थामें व्यापकमें स्थित जीव व्यापकमें लय हो जाते हैं इसलिये मुक्तजीव पशुशालामें पशुओंकी तरह कहीं भर दिये जाते हैं, वहां अधिक जीवोंके भरे जाने पर भीड़ हो जायगी, इस प्रकारकी कल्पनाही नहीं हो सकती। आर्यत्वका डिण्डिम बजाते हुए इस प्रकार मूर्खताका प्रचार और आस्फालन बहुत ही निन्दनीय तथा दुःखजनक है !!

(४) दुःख पाये बिना सुखका स्वाद नहीं आता, जैसा कि कटुके स्वादके बिना मधुर रसका स्वाद प्रिय नहीं होता इसलिये मुक्तिसे लौटकर संसारका दुःख देखना ठीक है, इस प्रकार युक्ति देना मुक्तिके स्वरूपके विषयके पूर्ण अज्ञानका ही फल है। सुखदुःख, रागद्वेष, हर्षविषाद, शीतग्रीष्म, आदि सब द्वन्द्व पदार्थ हैं। इन सभोंका अनुभव जीवको तब तक होता रहता है जब तक जीव मायाराज्यमें बद्ध हो। इस मायामूलक द्वन्द्वसे अतीत होना ही मुक्ति है। यथा गीतामें :—

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत् ।

सुखदुःखादि द्वन्द्वभावोंसे अतीत होकर तब ज्ञानीपुरुषको अक्षय ब्रह्मपद प्राप्त होता है। कठ श्रुतिमें भी है :—

"अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति"

अध्यात्मयोगकी सहायतासे योगी ब्रह्मको जानकर सुखदुःखसे अतीत होते हैं। महाभारतके शान्तिपर्वमें भी :—

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः ।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं तं न शोचन्ति पण्डिताः ॥

सुख और दुःख दोनोंको जो परित्याग कर सकता है उसीको ब्रह्मप्राप्ति होती है। अतः मुक्तिका आनन्द द्वन्द्वमूलक सुखदुःखसे अतीत निर्विकार

अद्वैतभावका आनन्द है। इसमें कटु मधुर आदिका दृष्टान्त घट ही नहीं सकता है। वे सब दृष्टान्त सांसारिक सुखदुःखके विषयोंमें दिये जा सकते हैं, ब्रह्मानन्दके विषयमें नहीं। अतः अर्वाचीन पुरुषोंकी यह युक्ति सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

(५) इस शंकाका उत्तर पहली शंकाके उत्तरमें पहले ही दे चुके हैं। मुक्ति कर्मसाध्य नहीं है, किन्तु सिद्ध वस्तु है। विहित कर्मकेद्वारा निषिद्ध कर्मका नाश होकर पश्चात् ज्ञानकेद्वारा विहितकर्मसंस्कारका भी नाश हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है :—

"रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च"

राजसिक, तामसिक कर्मसंस्कार सात्त्विक कर्मसंस्कारके द्वारा नष्ट होता है और सात्त्विक कर्मसंस्कार भी समाधिके द्वारा नष्ट होता है। गीतामें भी लिखा है :—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

योगमार्गमें अग्रसर होनेकेलिये निष्काम कर्मकी आवश्यकता है; परन्तु योगारूढ होनेपर समाधि अवलम्बन रहती है, कर्म नहीं। इस प्रकारसे निष्काम कर्मयोगद्वारा चित्तशुद्धि होनेपर तत्त्वज्ञानका उदय होता है जिससे सञ्चित क्रियमाण समस्त कर्मसंस्कार दग्ध हो जाते हैं और ज्ञानके आश्रयसे ज्ञेय ईश्वरका पता लगता है; परन्तु यह ज्ञाता ज्ञानज्ञेय भाव भी तटस्थ दशाका भाव है। निर्विकल्प समाधिमें इस त्रिपुटिका भी लय हो जाता है और तभी यथार्थमें अद्वैतस्थिति साधकको लाभ होती है और वे जीवत्वको छोड़कर अद्वितीय मायातीत ब्रह्मभावमें विलीन हो जाते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि मुक्ति कर्मसाध्य नहीं है। इसलिये सान्त कर्मका अनन्तफल कैसे हो सकता है, इस प्रकारकी अर्वाचीन पुरुषोंकी शंका सम्पूर्ण निरर्थक तथा मुक्तितत्त्वकी विरोधी बात है।

(६) सुखका कोई बोझा नहीं होता है, कि मुक्तजीव उसके गुरुभारसे दब जायगा। इस प्रकार व्यर्थ बातें लिखना ही महा अज्ञानका मूल है। ब्रह्म आनन्दरूप हैं, जीव अपने जीवत्वको छोड़कर उसी आनन्द समुद्रमें लवलीन हो जाता है। इसमें सुखके बोझा होनेकी कोई कल्पना भी नहीं हो सकती है।

(७) परमात्माका दिवाला नहीं निकलता है, वे पूर्ण हैं। इस प्रकारसे लेखिनीका अपलाप करना ही महापाप है। परमात्मा अपनी इच्छासे सृष्टि

कभी नहीं करते हैं। 'जीवतत्त्व' तथा 'सृष्टितत्त्व' नामक प्रबन्धोंमें पहले ही सप्रमाण प्रतिपादित किया गया है कि महाप्रकृतिमें अनन्त सृष्टिका अनन्त विस्तार स्वभावतः ही होता है। परिणामधर्मिणी प्रकृतिके स्वाभाविक त्रिगुण-परिणाम द्वारा अनन्त जीवभावके विकाश होते रहते हैं। अतः जब इसमें कोई कारण ही नहीं है तो कारणके चुक जाने की तथा चुक जानेपर परमात्माका दिवाला निकल जानेकी शंका नहीं हो सकती है। यह सब सृष्टितत्त्वके विषयके पूर्ण अज्ञानका ही परिचायक है।

अर्वाचीन पुरुषोंकी अन्तिम दो अर्थात् अष्टम तथा नवम शंकाएँ बहुत ही हास्यजनक हैं। मुक्ति जन्मकारागार नहीं हैं; परन्तु जन्ममृत्युरूपी संसार कारागारसे छूट जाता है। मुक्ति डूब मरना नहीं है, परन्तु सच्चिदानन्द-समुद्रमें लवलीन होकर अनन्तकालके लिये अमर होना है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में लिखा है :--

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः ।
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ॥"

कठोपनिषद्में लिखा है :--

"अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं ।
निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

वृहदारण्यकमें लिखा है :--

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति ।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥"

ब्रह्मको जानकर समस्त संसारपाश कट जाता है, अविद्यादि क्लेशोंके नाशसे जन्ममृत्युका नाश होकर जीव अमर हो जाता है। महत्तत्त्वसे भी परे अनादि अनन्त ध्रुव ब्रह्मको जानकर मृत्युके मुखसे जीव निस्तार प्राप्त करता है। केवल ब्रह्मज्ञानसे ही मृत्युसे अतीत जीव हो सकता है। संसारसे निस्तार पानेकेलिये और कोई उपाय नहीं है। इन प्रमाणोंसे अर्वाचीन पुरुषोंकी ऊपर लिखित शंकाएं उन्मत्तप्रलापकी तरह जान पड़ती हैं। मुक्ति-तत्त्वके विषयमें जिस साधकको कुछ भी ज्ञान हो वह ऐसी विचाररहित कच्ची बातें नहीं कह सकता है। अतः उल्लिखित प्रमाणसहित विचारोंके द्वारा अर्वाचीन पुरुषोंका समस्त कल्पनाजाल खण्डविखण्ड होगया।

ऊपर लिखित मिथ्या कल्पनाजालकी पुष्टिमें अर्वाचीन पुरुषोंने वेदादि शास्त्रोंसे कुछ प्रमाण भी दिये हैं; परन्तु विचार करनेपर निश्चय होगा कि उनके दिये हुए सभी प्रमाण अप्रासङ्गिक हैं, उनमेंसे किसीके द्वारा भी मुक्त जीवका संसारमें लौटना सिद्ध नहीं होता है। अब नीचे उन प्रमाणोंको उद्‌धृत किया जाता है। उन्होंने प्रथमतः—

छान्दोग्योपनिषद्‌का

"न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्तते"

वेदान्तदर्शनका

"अनावृत्तिः शब्दात्"

गीताका

"यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम"

इस प्रकारसे तीन प्रमाण मुक्तिसे न लौटनेके विषयमें देकर पश्चात् ऋग्वेदसे:—

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।"

ये सब प्रमाण देकर यह कहा है कि उपनिषद् वेदान्त तथा गीतामें मुक्तिसे न लौटना लिखनेपर भी जब वेदमें लौटना लिखा है तब लौटना ही ठीक है। यह अद्‌भुत सिद्धान्त है! क्या उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त वेदविरुद्ध ग्रन्थ हैं? कभी नहीं। इसको कोई भी नहीं स्वीकार करेगा। इसलिये अर्वाचीन पुरुषोंका इसप्रकार कहना केवल धृष्टता-मात्र है। उन्होंने वेदका प्रमाण ठीक-ठीक लगाया नहीं। नहीं तो इस प्रकार विरुद्धताकी कल्पना कभी नहीं होती। "कस्य नूनं कतमस्य" आदि मन्त्र ऋग्वेद-के जिस प्रकरणमें लिखा गया है वहाँ मुक्तजीवके पुनः संसारबन्धनमें आने-की कोई बात ही नहीं है। वह प्रकरण राजसूय यज्ञका है। वहाँपर यह वर्णन है, जैसा कि ऐतरेयब्राह्मण सप्तमपञ्चिका खं० १६ में लिखा है—अजीगर्त नामक एक राजर्षि खड्‌गको शाणित करके शुनःशेपके पास आया, तब शुनः-शेप सोचने लगा कि यह पशु की तरह मुझे मार देगा, इसलिये मैं इस समय देवतासे प्रार्थना करूँ कि मेरा आगामी जन्म अन्धे पितामातासे हो जो मेरे साथ इस प्रकार निष्ठुर व्यवहार न करें। ऐसा सोच कर शुनःशेपने प्रजा-पतिको पूछा कि किस देवताकी प्रार्थना करें, तब प्रजापतिने अग्निकी प्रार्थना करनेको कहा। उसपर शुनःशेपने अग्निकी प्रार्थना की कि उसको आगेके जन्ममें

पृथिवीमें अच्छे पितामाताका दर्शन हो। तदनन्तर ऋग्वेदके मं० १ सू०-२४. मं० १३ में लिखा है कि जब पशुकी तरह हत्याकेलिये शुनःशेप बलिदानके निमित्त काष्ठमें बाँधा गया तो शुनःशेपने बन्धन छुड़ानेके अर्थ वरुणदेवता की शरण ली और इससे भी आगेके मन्त्रमें लिखा है कि वरुण देवताने उसकी प्रार्थनापर सन्तुष्ट होकर शुनःशेपको बन्धनमुक्त कर दिया। इस प्रकरणमें मुक्तजीवके पुनः संसारबन्धनमें आनेका कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, बल्कि पाशबद्ध शुनःशेपके बन्धनमुक्त होनेका ही प्रसङ्ग है। अपनी भ्रमपूर्ण पक्षपातयुक्त कल्पनाको चरितार्थ करनेकेलिये वेदमन्त्रका अर्थ बिगाड़ कर इसप्रकार वैदिकज्ञानपर कलङ्क लगाना बहुतही निन्दनीय तथा दुःखकी बात है। एक सामान्य मनुष्य भी इस बातको सोच सकता है कि मुक्तिके आनन्दमें मग्न जीव पुनः संसारके रागद्वेषमय दुःखसागरमें डूबनेकेलिये देवता या भगवान्से क्यों प्रार्थना करेगा। कौन मूर्ख मुक्तिके आनन्दसे बन्धनके दुःखमें आनेकेलिये प्रार्थना करेगा ? और सत्यसङ्कल्प तथा इच्छामात्रसे सब कुछ पानेवाले मुक्त जीवकेलिये इस प्रकार प्रार्थना करनेका ही प्रयोजन क्यों होगा। वह तो इच्छामात्रसे हीं सब कुछ कर सकेगा। अतः अर्वाचीन पुरुषोंके सिद्धान्तानुसार भी ऋग्वेदके उल्लिखित मन्त्रका उसप्रकार अर्थ सम्पूर्ण रूपसे अनर्थ तथा भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। उस मन्त्रका यथार्थ अर्थ ऊपर दिया गया है। द्वितीयतः अर्वाचीन पुरुषोंने सांख्यदर्शनके प्रथमाध्यायका १६० वाँ सूत्र प्रमाणरूपसे दिया है, यथाः—

"इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः"

इसका अर्थ उन्होंने यह लिखा है कि बन्धमुक्ति सदाके लिये नहीं है। यह पूर्णरूपसे अप्रासङ्गिक मिथ्या अर्थ है। सांख्यदर्शनका वह प्रकरण यह है:—

वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम्। सां० अ० १. सू० १५८

अनादावद्य यावदभावाद्भविष्यदप्येवम्। सां० अ० १. सू० १५९

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः॥ सां० अ० १. सू० १६०

वामदेवादि अनेक महर्षियोंके मुक्त होजानेपर भी संसारकी अद्वैततासिद्धि नहीं होती है। प्रकृति अनादि है इसलिये आज तक जैसा सृष्टिके अत्यन्त नाशका अभाव है वैसा भविष्यत्में भी रहेगा अर्थात् अतीत वर्त्तमान भविष्यत् किसी कालमें भी सृष्टि एकवार ही नष्ट नहीं हो जायगी। जैसा इस समय है

ऐसा सर्वत्र सकल समय संसारका एक बार ही उच्छेद कदापि नहीं हो सकता है। यही इन तीनों सूत्रोंका तात्पर्य है। इसमें संसारके अत्यन्ताभावका निषेध किया गया है, मुक्तजीवके संसारमें लौटनेका कोई भी वृत्तान्त इसमें नहीं है। महाप्रकृतिके अनादि अनन्त होनेसे जीवधारा अनादि अनन्त है। इसलिये चाहे कितने ही जीव क्यों न मुक्त होजायँ समस्त सृष्टिका नाश कदापि नहीं हो सकता है। यह विचार विज्ञानसिद्ध है और पहले भी इसका बहुत वर्णन किया गया है। अतः अर्वाचीन पुरुषोंके समस्त प्रमाण ही अप्रासङ्गिक तथा मिथ्या प्रमाणित हो गये। सांख्यदर्शनमें इस प्रकारका सूत्र कभी नहीं हो सकता है; क्योंकि दर्शनकारके एक सूत्रके साथ दूसरे सूत्रका विरोध नहीं हो सकता है। सांख्यदर्शनका पहला सूत्र ही है—

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।"

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों प्रकारके दुःखों-की अत्यन्तनिवृत्तिही अत्यन्तपुरुषार्थ है। दुःखत्रयकी अत्यन्त निवृत्ति मुक्ति द्वारा ही होती है। इसमें अर्वाचीन पुरुषोंकी कल्पनानुसार 'अत्यन्त' शब्दका 'बहुत' अर्थ नहीं है; क्योंकि दूसरे सूत्रद्वारा यह बात सांख्यकारने स्पष्ट कर दी है यथा—

"न दृष्टात् तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्।"

केवल क्षुधानिवृत्ति आदि दृष्ट उपायोंके द्वारा त्रिविध दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि दृष्ट उपायोंके द्वारा दुःखोंकी कुछ देरके लिये निवृत्ति हो कर पुनः दुःखोंकी प्राप्ति हो जाती है। अतः यहाँपर 'अत्यन्त' शब्दका 'बहुत' अर्थ नहीं किया जा सकता है। और भी सांख्यदर्शनके ६ठे अध्याय १७ और १८ सूत्रोंमें लिखा है—

"न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः।"

"अपुरुषार्थत्वमन्यथा।"

मुक्त पुरुष पुनः कभी संसारबन्धनमें नहीं आते हैं, क्योंकि श्रुतिने मुक्तिसे लौटना नहीं लिखा है। यदि मुक्त पुरुष भी पुनः बन्धनप्राप्त हो तो मुक्तिकेलिये पुरुषार्थ करना ही वृथा है। इस प्रकारसे सांख्यकारने मुक्तिसे पुनः बन्धनमें आनेका पूर्णरूपसे निषेध किया है। और उसमें वेदके विषयमें भी लिखा है कि वेदमें ऐसी बात नहीं हो सकती है। पक्षपातयुक्त, साधना-

शून्य, ज्ञानहीन, अविद्यान्धकारभरे हृदयमें इस तत्त्वकी स्फुरता कब हो सकती है!

मुक्तिसे जीव कब लौटता है इसके विषयमें अर्वाचीन पुरुषोंने मुण्डकोपनिषद्से एक प्रमाण उठाकर उसका बड़ा ही हास्यजनक अप्रासङ्गिक अर्थ किया है। वह प्रमाण यह है—

"ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।"

इसका अर्थ उन्होंने यह किया है कि मुक्त जीव ब्रह्ममें महाकल्प तक रह कर पश्चात् संसारमें आजाता है। मन्त्रोक्त किसी शब्दके द्वारा यह अर्थ नहीं निकलता है। मुण्डकश्रुतिका वह प्रकरण यह है :—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

वेदान्तके सम्यक् ज्ञानद्वारा जिन्होंने तत्त्ववस्तुको निश्चय कर लिया है, सन्न्यासयोगसे जिन्होंने संयम तथा शुद्धसत्त्वगुणकी पराकाष्ठाको प्राप्त कर लिया है, ऐसे ब्रह्मलोकप्राप्त महात्मा ब्रह्माके शतायु तक ब्रह्मलोकमें निवास करके ब्रह्माजी जिस समय ब्रह्ममें लय हो जाते हैं, उसी समय वे भी ब्रह्माके साथ ब्रह्ममें लय होकर मुक्त हो जाते हैं। जिसप्रकार बहती हुई नदियाँ नामरूप छोड़ समुद्रमें लय हो जाती हैं उसी प्रकार मुक्त पुरुष भी नामरूपसे रहित हो परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। इन श्रुतियोंमें मुक्तिसे संसारमें लौट आनेका कोई भी प्रकरण नहीं है, प्रत्युत अनन्तकालके लिये ब्रह्ममें विलीन होनेका ही प्रकरण है। वेदान्तज्ञानद्वारा तत्त्ववस्तुको जान कर तथा सत्त्वगुणकी पराकाष्ठामें पहुँच कर कोई भी पुनः संसारमें नहीं आ सकता है अतः अर्वाचीन पुरुषोंका इस प्रकार मिथ्या मन्त्रार्थ करना सर्वथा भ्रममात्र है। महाप्रलयके बाद उन्हीं जीवोंका पुनर्जन्म होता है, जो अमुक्त अवस्थामें महाकाशमें लीन रहते हैं इसका विवरण 'सृष्टितत्त्व' नामक प्रबन्धमें पहले ही किया गया है।

मुक्तिसे न लौटनेके विषयमें गीता तथा वेदादि शास्त्रोंमें भूरि भूरि प्रमाण मिलते हैं। यथा गीतामें—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
"यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ।"
"तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।"
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

परमसिद्धिप्राप्त महात्मागण मुझे प्राप्त करके अनित्य तथा दुःखजनक पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त करते हैं। मुझमें चित्तके अर्पण करनेपर मैं शीघ्रही भक्तका मृत्युपूर्ण संसार-समुद्रसे उद्धार करता हूँ। अव्यक्त अक्षर परमात्मा ही परम गति है, जिसके प्राप्त होनेसे पुनर्जन्म नहीं होता है, वही उनका परमधाम है। परमात्माके अवतारादि दिव्यजन्म तथा कर्मोंको यथार्थरूपसे जाननेपर शरीरत्याग करके जीव परमात्माको प्राप्त होता है, उसको पुनः संसारमें जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता। ब्रह्मलोक तकसे जीव लौट सकता है, परन्तु परमात्माके प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता है। परमात्मामें बुद्धि, अन्तःकरण तथा निष्ठा रख कर तत्परायण महात्मा ज्ञानकेद्वारा निष्पाप हो

ब्रह्मको प्राप्त करते हैं, उनको पुनः संसारमें लौटना नहीं पड़ता है। जहाँ जाकर जीव संसारमें नहीं लौटता है वही मेरा परमधाम है। श्रुतिपरायण भक्तगण मृत्युको अतिक्रम करते हैं। त्रिगुणातीत भक्त जरा, दुःख, जन्म तथा मृत्युको अतिक्रम करके अमृतत्व प्राप्त हो जाते हैं। वही परम ब्रह्मपद अनुसरण करने योग्य है। जहाँ जाकर पुनः संसारमें लौटना नहीं पड़ता है, उसी आदिपुरुषकी शरण लेता हूँ जिनसे समस्त संसारकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। यही सब श्रीभगवानके द्वारा कही हुई गीतामें मुक्तिसे नहीं लौटनेके विषयमें प्रमाण है। इसी प्रकार श्रुतियोंमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं यथा—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

१ यजु० ३१—१८

तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।

—मुण्डकश्रुति ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते । बृहदारण्यक श्रुति ।

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति । कठश्रुति ।

निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । कठश्रुति ।

यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति । कठश्रुति ।

धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति । तलवकारश्रुति ।

क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः । श्वेताश्वतरश्रुति ।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।

केनश्रुति ।

"तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ।" श्वेताश्वतर श्रुति ।

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये । कैवल्यश्रुति ।

ब्रह्मको जानकरही मृत्युको अतिक्रम करते हैं। अन्य कोई इसका दूसरा उपाय नहीं है। ब्रह्मको जानकर शोक तथा पापसे निस्तार पाते हैं और शरीररूपी गुहाको ग्रन्थियोंसे मुक्त होकर अमृत होजाते हैं। संसारके जीव ब्रह्मको प्राप्त होकर ही अमृत होते हैं। उनको जो जानता है वह अमृत होजाता है। ब्रह्मको जान कर मृत्युमुखसे मुक्त होजाता है। उनको जानकर ही जीव मुक्त होता है और अमृतत्व प्राप्त करता है। धीर योगी ब्रह्मज्ञानद्वारा इस

लोकको छोड़कर अमृत हो जाते हैं। अविद्यादि पञ्च क्लेशोंके दूर होजानेपर जन्म-मृत्युका नाश होजाता है। सकल भूतोंमें परमात्माको जानकर इस लोकसे पृथक् हो जीव अमृत होजाता है। ब्रह्मको जान जीव मृत्युपाशको छेदनकर सकता है। केवल ब्रह्मको जाननेसेही मृत्युको जीव अतिक्रम कर सकता है, मुक्तिकेलिये और कोई दूसरा उपाय नहीं हैं। इसी प्रकारसे श्रुति स्मृति आदि सकलशास्त्रोंमें मुक्तिसे प्रत्यावर्त्तनका निषेध किया है। अतः अर्वाचीन पुरुषोंकी समस्त कल्पना मिथ्या प्रमाणित होगई।

अब सप्त आर्यदर्शनशास्त्रोंमें मुक्तिका तत्त्व किस प्रकारसे प्रतिपादित किया गया है सो बताया जाता है। जबतक आत्माके ऊपर सुखदुःखमोहमयी प्रकृतिका आवरण अधिक रहता है, तब तक आनन्दमय आत्माका स्वरूप पूर्णरूपसे प्रकट नहीं हो सकता है। इसलिये प्रथम दार्शनिक भूमियोंमें दुःखमयी प्रकृतिसे अतीत होनाही मुक्तिका लक्षण कहा गया है। प्रकृति दुःखमयी है और उसमें जो कुछ सुख है सो भी परिणाममें दुःखदेनेवाला होनेसे दुःखरूप ही है। अतः साधना तथा तत्त्वज्ञानद्वारा इस दुःखमयी प्रकृतिके राज्यसे अतीत होनाही प्रथमभूमिकाके दर्शनका लक्ष्य है। तदनन्तर उन्नततर भूमियोंमें प्रकृतिसम्बन्धशून्य आत्माका आनन्दमय स्वरूप जब धीरे-धीरे विकाशप्राप्त होने लगता है तब साधक तत्त्वज्ञानद्वारा प्रकृतिसे अतीत होकर उसी आनन्दमयसत्तामें अपनेको प्रतिष्ठित करते हैं। उस समय तत्त्वज्ञानी मुक्तपुरुषकेलिये केवल प्राकृतिक दुःखकाही अभाव नहीं रहता है, अधिकन्तु आनन्दमय आत्मामें विराजमान होनेसे आत्माकी नित्यानन्दसत्ताकी भी उपलब्धि बनी रहती है। अतः उन्नत दार्शनिक भूमियोंमें केवल दुःखनिवृत्तिही लक्ष्य नहीं है अधिकन्तु आनन्दप्राप्ति भी लक्ष्य है। इन्हीं सिद्धान्तसमूहको लेकर वैदिक सप्तदर्शनोंकी ज्ञानभूमियोंके विषयमें यह विचार निश्चय हुआ है कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य और पातञ्जल इन चारों दर्शनोंमें मुक्तिका लक्ष्य आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति है और कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा तथा ब्रह्ममीमांसा नामक तीनों मीमांसादर्शनोंमें मुक्तिका लक्ष्य ब्रह्मानन्दप्राप्ति और आनन्दरूपता है। अब नीचे सातों दर्शनोंसे सूत्र उठाकर ऊपर लिखित सिद्धान्तोंको प्रमाणित किया जाता है। न्यायदर्शनमें मुक्तिके लक्ष्यके विषयमें लिखा है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। १—१—२।

इसके भाष्यमें वात्स्यायन ऋषिने लिखा है—

यदा तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति, दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्म अपैति, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखपाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति ।

तत्त्वज्ञानके उदय होनेसे मिथ्याज्ञान नष्ट होता है, मिथ्याज्ञानके नाशसे दोष नष्ट होते हैं, दोषोंके नाशसे प्रवृत्ति नष्ट होती है, प्रवृत्तिके नाशसे जन्मका नाश होता है, जन्मके नाशसे दुःखका नाश होता है और दुःखके नाशसे निःश्रेयस अर्थात् मुक्तिपद प्राप्त होता है । अतः न्यायदर्शनभूमिके अनुसार दुःखका आत्यन्तिक नाशही मुक्तिका लक्ष्य हुआ । किन-किन पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे इस प्रकार दुःखनाश-कारी मुक्तिको जीव प्राप्त कर सकता है उसीका विस्तारके साथ वर्णन न्यायदर्शनमें किया गया है । उसमें प्रमाण प्रमेय आदि पहले ही वर्णित सोलह पदार्थोंके नाम तथा लक्षण दिये गये हैं जिनके तत्त्वज्ञानसे दुःखनिवृत्ति होकर ज्ञानीको मुक्तिपद प्राप्त होता है । यही न्यायदर्शनभूमिमें प्रतिपादित मुक्तितत्त्व है । तदनन्तर द्वितीय ज्ञानभूमिके दर्शन अर्थात् वैशेषिक सूत्रोपस्कार १-१-२ में इसका वर्णन भी है यथा—

"निःश्रेयसं आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः ।"

आत्यन्तिक दुःखनाशको ही मुक्ति कहते हैं । वह आत्यन्तिक दुःखनाश रूपी मुक्ति साधकको कब प्राप्त होती है इसके लिये वैशेषिकदर्शनमें सूत्र है यथा वै० १-१-३ ।

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।

धर्मविशेषसे उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इन छः पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्यज्ञानसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानके द्वारा मुक्तिपद प्राप्त होता है । द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थोंके लक्षण इस दर्शनमें वर्णित किये गये हैं और इनके साधारणधर्म अर्थात् साधर्म्य और वैधर्म्यके विषयमें भी बहुत कुछ वर्णन किया गया है । इन पदार्थोंके तत्त्वज्ञानद्वारा जीवको निःश्रेयस लाभ होता है

जिससे आत्मा दुःखमयी प्रकृतिके संगसे मुक्त हो जाता है। अतः द्वितीय दर्शन-भूमियों में भी आत्यन्तिक दुःखनाश ही मुक्तिके लक्ष्यरूपसे वर्णित किया गया। इसी प्रकार चतुर्थ अर्थात् सांख्यदर्शनकी ज्ञानभूमिमें भी आत्यन्तिक दुःखनाश ही पुरुषार्थके हेतुरूपसे वर्णन किया गया है। यथा १-१ सांख्यसूत्रमें—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकारके दुःखोंका अत्यन्त नाशही अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात मुक्तिनिमित्त पुरुषार्थ है। संसारमें वहुत थोड़ा सुख है और वह भी दुःखयुक्त होनेसे दुःखरूप ही है। यथा सांख्यसूत्र ६।७-८ में—

कुत्रापि कोऽपि सुखीति। तदपि दुःखशवलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः॥

कहीं कोई विरल ही जीव सुखी होता है। वह भी सुख दुःखसे घिरा हुआ है। इसलिये विचारवान् पुरुष परिणाममें दुःखदेनेवाले उस सुखको भी दुःखरूप ही कहते हैं। इसी दुःखमयी प्रकृतिसे पृथक् होकर पुरुषका स्वरूपस्थित होना ही सांख्यदर्शनके अनुसार मुक्ति है। यथा सांख्यसूत्रमें—

ज्ञानान्मुक्तिः—सू. ३-२३

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः—सू. १—८३

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः। सू० ३—७५

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्। ३—८४

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता। सू० ६—५

प्रकारान्तरासम्भवादविवेक एव बन्धः। सू०६—१६

निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्। ६—२७

नोभयश्च तत्त्वाख्याने। १—१०७

ज्ञानसे मुक्ति होती है। प्राप्तज्ञान पुरुषकी पुनः संसारमें आवृत्ति नहीं होती है। तत्त्वाभ्यासके द्वारा नेति-नेति विचार करते-करते जब प्रकृतिका त्याग हो जाता है तभी पुरुषमें ज्ञानका उदय होता है। ज्ञानके द्वारा दुःखकी निःशेष निवृत्ति हो जानेपर तब साधक कृतकृत्य होते हैं, अन्यथा नहीं। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही कृतकृत्य होनेका लक्षण है। प्रकृतिपुरुषका अविवेक ही बन्धनका कारण है।

पुरुषके निःसङ्ग होनेपर भी अनादि अविवेकसे उसपर प्रकृतिका उपराग है वही बन्धनका कारण है। तत्त्वज्ञानद्वारा अविवेक नष्ट होनेपर जब पुरुषकी मुक्ति होती है, तब उसमें सुखदुःख दोनोंका ही अभाव हो जाता है। यही सांख्यदर्शनभूमिके अनुसार मुक्तिका लक्ष्य है। सांख्यदर्शनकी तरह तृतीय अर्थात् योगदर्शनभूमिमें भी दुःखनिवृत्ति ही मुक्तिके लक्ष्यरूपसे वर्णित की गई है। यथा योगसूत्र २।१५-१६में

"दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।" हेयं दुःखमनागतम्।

विषय सुखके साथ परिणाम, ताप आदि दुःखोंका सम्बन्ध रहनेसे विवेकिगण सांसारिक समस्त सुखोंको दुःखरूप ही समझते हैं। अनागत दुःखहेय है।

दृग्दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

प्रकृति और पुरुषका अनादि अविद्याके प्रभावसे परस्पर संयोग हेयका हेतु है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। २—२५

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायाः। २—२६

अनादि अज्ञानजनित इस संयोगका जब नाश होता है तभी पुरुषको मुक्ति प्राप्त होती है। प्रकृतिपुरुषका जो निश्चित भेदज्ञान है वही हानका उपाय है। यह निश्चित भेदज्ञान कैसे होता है इस विषयमें योगदर्शनमें कहा है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं

स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। ४—३४

योगद्वारा चित्तवृत्तियोंके निरोध होजानेपर द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूपपर ठहर जाते हैं, तभी प्रकृतिसे उनका सम्बन्ध छूट जाता है। पुरुषार्थशून्य होकर त्रिगुणमयी प्रकृतिका लय होजानेसे कैवल्य अर्थात् मुक्तिका उदय होता है। उस समय पुरुष ज्ञानमय निजस्वरूपमें प्रतिष्ठित होजाते हैं। प्रकृति दुःखमयी है अतः प्रकृतिके लय होनेसे पुरुषकी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होती है, यही पुरुषकी मुक्ति है। अतः योगदर्शनभूमिके अनुसार भी आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिही मुक्तिका लक्ष्य हुआ। मीमांसादर्शनोंकी अन्तिम तीन ज्ञानभूमियोंमें आत्मा केवल दुःखमयी प्रकृत्तिसेही अतीत नहीं हो जाता है, अधिकन्तु आनन्दमय ब्रह्मभावमें विराजमान हो सकता है। इसलिये तीनों अन्तिम

भूमियोंमेंही दुःखनिवृत्तिमात्र मुक्तिका लक्ष्य न बताकर आत्मानन्दप्राप्ति भी मुक्तिके लक्ष्यरूपसे वर्णित की गई है। इनमेंसे प्रथम मीमांसा अर्थात् कर्ममीमांसाके पूर्व-प्रस्थानमें महर्षि जैमिनिने कर्ममय यज्ञकी महिमा बतानेके लिये यज्ञफलरूपसे अक्षय स्वर्गकोही आनन्दमय मुक्तिरूपसे वर्णन किया है। यथा, श्रुतिः—

"यजतेर्जातमपूर्वम्।"

"अपाम सोममममृता अभूम।"

"अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।"

"सर्वान् लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते।"

"किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः।"

"किमु धूर्त्तिरमृतमर्त्तस्य।"

यज्ञ करनेसे जो अपूर्व उत्पन्न होता है उससे यज्ञकारी अमृतत्वलाभ करते हैं। यज्ञीय सोमपानद्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है। चातुर्मास्य याग करनेवालेको अक्षय पुण्यलाभ होता है। अश्वमेधयज्ञके फलसे यजमान समस्त लोकोंकी जय करते हैं, मृत्युसे अतीत होते हैं, ब्रह्महत्या जैसे पापसे भी उत्तीर्ण होते हैं। उस समय संसारमें उनका कोई भी शत्रु नहीं रहता है। वे अमृतरूप हो जाते हैं, जरा-मृत्यु उनका कुछ भी नहीं कर सकती है। यही सब कर्ममीमांसाके पूर्व प्रस्थानोक्त मुक्तिका लक्षण है, जो यज्ञद्वारा जीवको प्राप्त हो सकती है। मुक्तिकी दुःखहीन सुखरूपताके विषयमें कर्ममीमांसाका यह सिद्धान्त है कि—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥

जिस सुखके साथ दुःख मिला हुआ नहीं है, जिस सुखके परिणाममें दुःख नहीं प्राप्त होता है, जो सुख संकल्पमात्रसे प्राप्त होजाता है, वही सुख स्वर्गमें लाभ होता है। महर्षि जैमिनिके सिद्धान्तानुसार मुक्तपुरुषको यज्ञफल-रूपसे यही सुख प्राप्त होता है। यही उनकी मुक्ति है। अतः कर्ममीमांसा-भूमिमें दुःखनिवृत्तिके अतिरिक्त आत्यन्तिक सुखप्राप्ति भी मुक्तिका लक्ष्य हुआ। कर्ममीमांसादर्शनके उत्तर प्रस्थानमें आनन्दमय आत्माकी सुखरूपता और भी

स्पष्ट प्रमाणित हुई है। तदनुसार महर्षि भरद्वाजने इस प्रस्थानमें कार्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्मकी एकता प्रतिपादन करके आनन्दमय ब्रह्ममें विराजमान होना ही मुक्तिका लक्ष्य बताया है। यथा—महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसामें—

"कार्यकारणयोरेकतापादनं मोक्षः।"
"बन्धमोक्षौ द्वन्द्वैकतत्त्वाभ्याम्।"
"तन्नाशः क्रियाबीजहाने।"
"तदा स्वरूपविकाशः।"
"स सच्चिदानन्दमयः।"
"तस्मिन् प्रकृतिलयः।"
"संस्कारशुद्ध्या क्रियाशुद्धिः।"
"तया मोक्षोपलब्धिः।"
"ज्ञानसापेक्षमेव तत्।"

कार्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्मकी अभिन्नता देखना ही मुक्तिका लक्षण है। जबतक भेदभाव है तबतक जीवका बन्धन है, दोनोंकी एकता देखनेपर जीव मुक्त हो जाता है। जन्ममृत्युप्रदानकारी कर्मसंस्कारोंके बीज तक जब नष्ट होजाते हैं तभी बन्धनका नाश होकर मुक्तिका उदय होता है। उस समय सत् चित् आनन्दमय ब्रह्मस्वरूपका विकाश होजाता है और मुक्तपुरुष उसी आनन्दमय सत्तामें विराजमान होकर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि करते हैं। उनकी प्रकृति उसी आनन्दमय ब्रह्मसत्तामें लवलीन होजाती है। संस्कारकी शुद्धिसे क्रमशः क्रियाओंकी शुद्धि होती है और क्रियाशुद्धिद्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। जब वासनाके आमूल नाशद्वारा कर्मयोगीमें क्रियाकी पूर्णरूपसे शुद्धि होजाती है तभी ज्ञानका उदय होता है। तदनन्तर उसी ज्ञानकी सहायतासे कर्मयोगी कार्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्मकी एकताको जान लेता है। उनकेलिए तब जगत् ही ब्रह्मरूप हो जाता है और उसी ब्रह्ममें कर्मयोगी अनन्त आनन्दको प्राप्त करते हैं। यही कर्ममीमांसाके उत्तर प्रस्थानमें प्रतिपादित आत्यन्तिक आनन्दप्राप्ति-रूप मुक्ति है। मीमांसादर्शनकी द्वितीय भूमिरूपी दैवीमीमांसादर्शनमें भी केवल दुःख-निवृत्तिको मुक्तिका लक्ष्य न बताकर अनन्त ब्रह्मानन्दप्राप्तिको ही मुक्तिका लक्ष्य करके बताया गया है। इसमें ब्रह्मका लक्षण यह किया गया है—

"स्वरूपतटस्थवेद्यं सच्चिदानन्दमद्वितीयं ब्रह्म ।"
"ब्रह्मणोऽधिदैवाधिभूतरूपं तटस्थवेद्यम् ।"
"स्वरूपेण तदध्यात्मरूपम् ।

स्वरूप और तटस्थवेद्य सत्, चित्, आनन्दमय अद्वितीय ब्रह्म हैं। उनका अधिदैव तथा अधिभूतरूप अर्थात् ईश्वर तथा विराट्रूप तटस्थवेद्य है। उनका अध्यात्मरूप अर्थात् निर्गुण मायातीत स्वरूप त्रिपुटिशून्य स्वरूप-लक्षणके द्वारा वेद्य है। इस प्रकार स्वरूपलक्षणवेद्य ब्रह्मके जाननेकी शक्ति कब भक्तको प्राप्त होती है, इसके लिये दैवीमीमांसामें लिखा है—

"स्वरूपद्योतकत्वात् पूर्णानन्ददा परा।"
"परालाभो ब्रह्मसद्भाविकात्तन्मयासक्त्युन्मज्जननिमज्जनात् ।"

पराभक्तिकेद्वारा स्वरूपलक्षणवेद्य ब्रह्मकी उपलब्धि होती है, उस समय साधकको पूर्णानन्द प्राप्त होता है। वे तन्मय होकर भावसमुद्रमें डूबते उठते पराभक्तिके द्वारा ब्रह्मपदको प्राप्तकर लेते हैं। दैवीमीमांसाके सिद्धान्तानुसार इस प्रकार पराभक्तिका लाभ 'समर्पण' द्वारा होता है जिसका यह लक्षण है—

"मुक्तिः समर्पणात् ।"
"समर्पणमपि त्रिधा ।"
"ममैवासौ इति प्रथमः ।"
"तस्यैवाहमिति द्वितीयः ।"
"स एवाहमिति तृतीयः ।"

परमात्मामें अपना सब कुछ समर्पण करके उन्हींमें अपनी सत्ताको लवलीन कर देनेसे साधक मुक्तिपद प्राप्त करता है। समर्पण तीन प्रकारसे होता है। "भगवान् मेरे हैं" यह समर्पणका प्रथम भाव है। "मैं भगवान्‌का हूँ" यह समर्पणका द्वितीय भाव है। "मुझमें और उनमें भिन्नता नहीं है" यह भाव अन्तिम है। पराभक्तियुक्त साधक इस प्रकारसे समर्पण भावद्वारा परमात्मामें लवलीन हो परमानन्दको प्राप्त करते हैं। यथा, दैवीमीमांसामें:—

"रसरूप एवायं भवति भावनिमज्जनात् ।"

भावसमुद्रमें मग्न होकर भक्त आनन्दरूप हो जाते हैं। उस समय अनन्य-भक्तिके द्वारा भक्तको परमात्माका साक्षात्कार होता है।

यथा—

"तद्भावलब्धिरनन्यभक्त्या बुद्धिलयात् ।"

"परया सर्वलयः ।"

"निर्विकल्पः सविकल्पलयात् ।"

"वासनाक्षयतत्त्वज्ञाने तत्फले ।"

अनन्यभक्तिकेद्वारा बुद्धितकका लय हो जानेसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है। पराभक्तिके द्वारा इसप्रकार सब कुछ लय प्राप्त होता है। सवि-कल्पभावके लय होनेसे निर्विकल्प समाधिका उदय होता है। वासनाक्षय और तत्त्वज्ञानलाभ इसका फल है। तत्त्वज्ञानप्राप्त पराभक्तियुक्त स्वरूप-स्थित पुरुष 'ब्रह्मही जगत्' है—"वासुदेवः सर्वम्"—इस प्रकारसे परमात्मा की उपलब्धि करके उनके सत् चित्में व्याप्त आनन्दभावमें मग्न हो जाते हैं। यही दैवीमीमांसादर्शनभूमिके अनुसार नित्यानन्दप्राप्तिरूप मुक्तिपद है। यह बात पहले ही कही गई है कि जबतक मुक्तपुरुषकी सत्ता ब्रह्मसत्तासे पृथक् रहती है तभीतक मुक्तात्मा ब्रह्मसत्ताका आनन्दानुभव कर सकते हैं। परन्तु जिससमय त्रिपुटिका सम्पूर्ण विलय होनेपर ब्रह्मसत्ताके साथ जीवात्माका एकीभाव हो जाता है, उस समय आनन्दका पृथक्रूपसे अनुभव न होकर आनन्दरूपताकी प्राप्ति हो जाती है। कर्ममीमांसा और दैवीमीमांसा-की ज्ञानभूमियोंमें ब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि हो जानेपर भी जीवात्माकी स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान रहती है। इसलिये इन दोनों भूमियोंमें पृथक्रूपसे तथा तन्मय-भावमें रहकर मुक्तात्मा ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि करते हैं। परन्तु अन्तिम ज्ञानभूमि वेदान्तमें आकर त्रिपुटिका पूर्णतया लयसाधन हो जाता है। इस लिये उस समय निर्विकल्पपदाधिरूढ़ स्वरूपस्थित ज्ञानी पुरुष पृथक्रूपसे ब्रह्मानन्दसत्ताकी उपलब्धि न करके अभिन्नरूपसे आनन्दरूपताको प्राप्त होजाते हैं। इसीलिये वेदान्तदर्शनमें सूत्र हैं—

"आनन्दमयोऽभ्यासात् ।"

"अविभागेन दृष्टत्वात् ।"४-४-४

"चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वात् ।"

ब्रह्म आनन्दमय हैं। साधनाके अभ्यासद्वारा जीव उस आनन्दमयताको प्राप्त होसकता है। उस समय जीव और ब्रह्ममें अभिन्नता होजाती है। वह चिन्मात्र होकर ब्रह्मरूपमें स्थित होजाता है। इस दशामें स्वरूपपदारूढ़ योगीकी किस प्रकार त्रिविध स्थिति होती है, सो वेदान्तशास्त्रमें बताया गया है।

यथा, योगवाशिष्ठमें—

सत्यालोकाज्जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते ।
छिद्यते शीर्णसंसारकलना कल्पनात्मिका ॥
भ्रष्टबीजोपमा सत्ता जीवस्य इति नामिका ।
पश्यन्ती नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्यचर्वणाम् ॥
मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शारदाकाशकोशवत् ।
शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यचिचापलं गता ॥
समस्तसामान्यवती भवतीर्णभवार्णवा ।
अपुनर्भवसौषुप्तपदपाण्डित्यपीवरी ॥
परमासाद्य विश्रान्ता विश्रान्ता वितते पदे ।
एतत्ते मनसि क्षीणे प्रथमं कथितं पदम् ॥

परमात्माकी सत्यप्रभाके द्वारा जब जगज्जाल प्रच्छन्न और विलीन होजाता है तब कल्पनारूपी संसार-कलना आमूल नाशको प्राप्त होजाती है, उस समय जीवकी सत्ता भर्जित बीजकी तरह होजाती है। वह सांसारिक विषयोंकी उस समय देखनेपर भी उनमें आसक्तिशून्य होजाती है और मनोमोहरूप मेघजालसे निर्मुक्त होकर शरत्कालीन आकाशकी तरह अवस्थान करती है। इस प्रकारसे जो सत्ता पूर्वप्रकृतिके संगसे विषय-चञ्चल थी, वह शुद्ध चिद्भावमें स्थित होकर जीवितदशामें ही संसारसिन्धुसे मुक्त होजाती है। उस समय जीवन्मुक्त महापुरुष पुनर्जन्मबीजरहित ज्ञानमय परमानन्दपदमें सदा ही विश्रान्ति लाभ करते हैं। मनोनाशके बाद योगारूढ़ पुरुषकी यही प्रथमा स्थिति है। इसकी द्वितीया स्थितिके विषयमें योगवाशिष्ठमें कहा है—

द्वितीयं शृणु विप्रेन्द्र ! शक्तेरस्याः सुपावनम् ।
एषैव मनसोन्मुक्ता चिच्छक्तिः शान्तिशालिनी ॥

सर्वज्योतिस्तमोमुक्ता विततकाशसुन्दरी ।
घनसौषुप्तलेखावच्छिलान्तः सन्निवेशवत् ॥
सैन्धवान्तस्थरसवद्वातान्तः स्पन्दशक्तिवत् ।
कालेन यत्र तत्रैव परां परिणतिं यदा ॥
शून्यशक्तिरिवाकाशे परमाकाशगा तदा ।
चेत्यांशोन्मुखतां नूनं त्यजत्यम्बिव चापलम् ॥
वातलेखेव चलनं पुष्पलेखेव सौरभम् ।
कालताकाशते त्यक्त्वा सकले सकला कला ॥
न जडा नाऽजडा स्फारा धत्ते सत्तामनामिकाम् ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमहासत्तापदं गताम् ॥
तूर्यंतूर्यांशकलितामकलङ्कामनामयाम् ।
काञ्चिदेव विशालाक्षसाक्षिवत् समवस्थिताम् ॥
सर्वतः सर्वदा सर्वप्रकाशस्वादु तत्पराम् ।
एषा द्वितीया पदता कथिता तव सुव्रत ॥

योगारूढ़ मुक्त पुरुषकी द्वितीय स्थितिमें मनसे उन्मुक्त शक्तिशालिनी वह चित्सत्ता समस्त ज्योति तथा तमसे मुक्त विशाल आकाशकी तरह विराजमान रहती है। तदनन्तर कालक्रमसे गाढ़ सुषुप्तिदशाके अनुभवकी तरह, प्रस्तरके अन्तर्गत कठिनताकी तरह, सैंधवके अन्तर्गत रसकी तरह या वायुके अन्तर्गत स्पन्दशक्तिकी तरह जब समस्त स्थितिके साररूपसे अवस्थान होता है तब वह चित्सत्ता आकाशकी शून्यशक्तिकी तरह परमाकाशागत होकर बाह्यविषयके प्रति उन्मुखताको एकबार ही परित्याग करके स्थिर समुद्रकी तरह निश्चलरूपसे विराजमान होती है। इसके अनन्तर सूक्ष्म पवनके स्पन्दत्यागकी तरह कुसुमलेखाके सौभरत्यागकी तरह कालत्व और आकाशत्वको भी परित्याग करके उस जीवन्मुक्तयोगीकी सत्ता समस्त दृश्य वस्तुओंके सम्पर्कसे सकल प्रकारसे मुक्तिलाभ करती है। उस समय उनकी सत्ता जड़ अजड़ दोनों भावोंसे मुक्त होकर एक अपरिच्छिन्न अनिर्वचनीय भावको धारण करती है। देशकालके द्वारा उस महासत्ताका परिच्छेद नहीं होता है। निष्कलङ्क अनामय

और प्रकाशमानरूपसे निखिल वस्तुके प्रकाश और आनन्दसत्तासे भी उत्कृष्टतर प्रकाश और आनन्दरूपमें अनिर्वचनीय विशालाक्ष होकर वह साक्षीकी तरह अवस्थान करती है। यही योगारूढ़ मुक्तपुरुषकी द्वितीयस्थिति है। उनकी तृतीय अर्थात् अन्तिम स्थितिके विषयमें योगवाशिष्टमें कहा है—

तृतीयं शृणु वक्ष्यामि पदं पदविदांवर।
एषा दृक् चेत्यवलनादनामार्था पदं गता॥
ब्रह्मात्मेत्यादि शब्दार्थादतीतोदेति केवला।
स्थैर्येण कालतः स्वस्था निष्कलङ्का परात्मना॥
तुर्यातीतादिनामत्वादपि याति परं पदम्।
सा परा परमा काष्ठा प्रधानं शिवभावतः॥
चित्त्येका निरवच्छेदा तृतीया पावनी स्थितिः॥

तृतीय अवस्थामें वह चित्सत्ता ब्रह्मके अखण्डवृत्ति और क्षीरनीरकी तरह ब्रह्मके साथ एकीभाव प्राप्त होनेसे नामरूपसे अतीत होनेके कारण ब्रह्म, आत्मा आदिसंज्ञासे भी अतीत होकर केवल रूपसे अवस्थान करती है। उस समय जीवन्मुक्तकी सत्तामें किसी प्रकारका विकार न रहनेसे वे कालसे भी स्थिर, तमसे अतीत, स्वस्वरूपमें निष्कलङ्क होकर तुरीयातीत आदि नामसे अतीत हो परमभावमें अवस्थान करते हैं। उनकी चित्सत्ता अपने मंगलभावमें सर्वप्रधान, परमकाष्ठा प्राप्त, केवल चिद्रूपा, देशकाल और वस्तुतः अपरिच्छिन्ना एवं परमपवित्रा होनेसे तृतीय और अन्तिम स्थानीय है। यही स्वरूपसाक्षात्कारानन्तर जीवन्मुक्त योगारूढ़ सिद्ध महात्माकी अनिर्वचनीय त्रिविधा स्थिति है। इस प्रकार परम-स्थितिमें प्रारब्धक्षयपर्यन्त विराजमान रहकर पश्चात् जीवन्मुक्त महात्माको विदेह-मुक्तिलाभ होता है। यथा वेदान्तसूत्रमें—

"विदुष ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धिः।"३-२-३२
"तानि परे तथा ह्याह।"४-२-१५
"अविभागो वचनात्।"४-२-१६

ब्रह्मज्ञानप्राप्त पुरुषको ऐकान्तिक विदेहमुक्ति प्राप्त होती है। उनकी इन्द्रियाँ स्थूल सूक्ष्मशरीर आदि समस्त स्वस्वकारणमें तथा जीवात्मा परब्रह्ममें अनन्तकालके लिये विलीन होजाता है।

ब्रह्मसे प्रकृति प्रकट होकर जब द्वैतसत्ता उत्पन्न हुई थी, सच्चिदानन्दमय अद्वितीय स्वस्वरूपभावमें जब दृश्यरूपसे महामाया आविर्भूत हुई थी, सर्वथा द्वैतरहित कारणब्रह्ममें जब दृश्यप्रपञ्च प्रकट हुआ था, तब वहां प्रकृतिके प्रभावसे जो कर्मधारा उत्पन्न होकर चिज्जड़मय जीवत्वकी सृष्टि हुई थी वह सृष्टि इस मुक्तिपदमें अपने मूलके सहित विलीन हो जाती है। कर्मकी तीनधाराओंमेंसे जैव-कर्मसे उत्पन्न धर्मशक्ति जीवको क्रमशः ऊद्ध्र्वसे ऊद्ध्र्वलोकोंमें पहुँचाकर अन्तमें सप्तम ऊद्ध्र्वलोकमें पहुँचा देती है। वहांसे सूर्यमण्डल भेदन करते समय जीव-स्वस्वरूप ब्रह्मसमुद्रमें आकाशपतित वारिबिन्दुके समान लय होकर शाश्वत-मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है, शास्त्रोंने इसीको शुक्लगतिकी मुक्ति कही है। कर्मकी दूसरीधारा ऐशकर्मसे उत्पन्न होकर ब्रह्मके अंशरूपी जीवको इन्द्रादि श्रेष्ठदेवपद प्रदान करती है और क्रमशः उत्तरोत्तर देवपद प्रदान करती हुई सगुण ब्रह्ममें लयकर देती है, तब जीवत्वका नाश होजाता है और उस समय वही सगुण रूपधारी ब्रह्म, ब्रह्मा विष्णु महेश कहाकर अपनी पदमर्यादाका पालन करते हुए ब्रह्मीभूत होजाते हैं; यही ऐशकर्मका लोकातीत अन्तिम परिणाम है। इसका वर्णन शास्त्रोंमें कहीं कहीं पाया जाता है और सहजकर्मकी धारा जो मनुष्यजीवनमें विलीन होगई थी, वह किस प्रकारसे सप्तज्ञान भूमियोंकी सहायतासे तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंके हृदयमें पुनः उत्पन्न होकर जीवन्मुक्त पदको प्रकट करती है उसका रहस्य ऊपरके दार्शनिक सिद्धान्तोंसे प्रकट किया गया है। यही मुक्तिसिद्धान्त सब शास्त्रोंका सार है, यही मुक्तिसिद्धान्त कर्मकाण्डका अन्तिम फल है, यही मुक्तिसिद्धान्त उपासनाकाण्डका अन्तिम उच्चाभिलाष है, यही मुक्तिसिद्धान्त ज्ञानकाण्डका लक्ष्य है और यही वेदान्त है।

पञ्चम समुल्लासका ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

श्री धर्मकल्पद्रुमका तत्त्ववर्णन नामक पञ्चम समुल्लास समाप्त हुआ।

षष्ठ समुल्लास ।

पुरुषार्थ और वर्णाश्रमसमीक्षा ।

पूज्यपाद महर्षियोंके द्वारा प्रदर्शित विज्ञान अन्यदेशवासियोंके विज्ञानके समान अपूर्ण एक देशदर्शी और अध्यात्मलक्ष्यशून्य नहीं है। उन्होंने जिस ओर देखा है उसको पूर्णरीतिसे ही देखा है, उन्होंने जिसकी पर्य्यालोचना की है उसकी पूर्णरीतिसे ही की है। पुरुषार्थके विषयमें भी उनका अनुसन्धान पूर्ण है। पूज्यपाद महर्षियोंकी सम्मतिके अनुसार पुरुषार्थचतुष्टय माने गये हैं। इसी कारण श्रीभगवान् महाविष्णुके रूपके विषयमें वर्णन है कि वे चतुर्वर्गके चिन्हरूप, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म अपने चारों हाथोंमें धारण करके साधकको काम, अर्थ, धर्म्म और मोक्षरूपी चतुर्वर्ग प्रदान करते हैं, यथा – शास्त्रोंमें:—

शङ्खचक्रगदापद्मसुशोभितचतुर्भुजम् ।
भक्तेभ्यस्तु चतुर्वर्गं प्रेम्णा दातुमिवागतम् ।

यही कारण है कि आर्य्यशास्त्रोंमें चतुर्वर्गरूपो काम, अर्थ, धर्म्म और मोक्ष ये चार ही सब प्रकारके अधिकारियोंकेलिये जीवनके साध्य माने गये हैं। वर्णधर्म्मके मूलमें भी यही रहस्य निहित है, यथा—शास्त्रोंमें:—

स्वभावतो नियोज्येरन् प्राणिनां सम्प्रवृत्तयः ।
चतुर्धा नाऽत्र संदेहो विद्यते विश्वभूतिदाः ! ॥
प्रकृतिः शूद्रवर्णस्य दासी कामस्य सत्यलम् ।
तमोधाराश्रिता शश्वज्ञायते परिणामिनी ॥
प्रकृतिर्वैश्यवर्णस्य सत्यर्थानुचरी सदा ।
अस्मिन् प्रधानतो लोके जायते च नियोजिता ॥
क्षत्रियप्रकृतिर्धर्म्मलक्ष्येणैव प्रधानतः ।
सम्प्राप्नोति परीणामं पितरो नाऽत्र संशयः ॥

ब्राह्मणप्रकृतिर्मुख्यं मोक्षलक्ष्यं निरन्तरम् ।
निजायत्ती प्रकुर्व्वाणा नूनमग्रे सरेदिह ॥
चातुर्व्वर्ण्यकधर्म्मस्य गुह्याद्गुह्यतरं परम् ।
रहस्यं पितरो नूनमेतदेवाऽस्ति भूतिदाः ! ॥

हे पितृगण ! जीवकी प्रवृत्ति स्वभावतः चार प्रकारसे नियोजित होती है । शूद्रकी प्रकृति कामकी दास होकर परिणामिनी होती है । वैश्यप्रकृति प्रधानतः अर्थकी दास होकर नियोजित होती है । क्षत्रियप्रकृति प्रधानतः धर्म्म लक्ष्यसे ही परिणामको प्राप्त होती है और ब्राह्मणप्रकृति प्रधानतः मोक्षको अपने लक्ष्याधीन रखकर अग्रसर होती है, यही चातुर्वर्ण्यधर्म्मका गुह्य रहस्य है । शम्भुगीतामें श्रीसदाशिवने पितरोंसे सनातनधर्म्मके महत्त्व, उसके चार पाद और उनके पृथक् पृथक् लक्षण आदिका वर्णन किया है । वह क्रमशः नीचे बताया जाता है:—

समष्टिव्यष्टिरूपायाः सृष्टेः सन्धारिका मम ।
शक्तिर्नियामिकैवास्ते ध्रुवं धर्म्मः सनातनः ॥
तत्सनातनधर्मस्य पादाश्चत्वार आसते ।
साधारणविशेषौ हि तथाऽसाधारणापदौ ॥
सार्वभौमो यतो धर्म्मः सर्वलोकहितप्रदः ।
अभ्युदयं ह्यतो दत्ते सुखं निःश्रेयसं तथा ॥
निखिलं धर्म्मशक्त्यैव विश्वमेतच्चराचरम् ।
क्रमेणाभ्युदयं लब्ध्वा सरत्यग्रे हि माम्प्रति ॥
ज्ञानिनो मम भक्ताश्च धर्म्मशक्त्यैव सत्वरम् ।
तत्त्वज्ञानस्य साहाय्याल्लभन्ते मुक्तिमुत्तमाम् ॥
शाश्वतस्यास्य धर्म्मस्य यावत्प्रादुर्भविष्यति ।
सार्वभौमस्वरूपं हि पितरो भाग्यशालिनः ! ॥
प्राणिनां मूढता लोके तावत्येव विनङ्क्ष्यति ।
साधारणस्य धर्म्मस्य तत्त्वतो हृदयङ्गमम् ॥

सार्वभौमस्वरूपं हि कर्तुं मर्ह्यं न संशयः ।
तथैवार्यप्रजावृन्दैः सदाचारोऽपि सर्वदा ॥
पालनीयौ विशेषस्य धर्मस्यातिसुखप्रदः ।
यतो वर्णाश्रमैर्धर्मैर्विहीना सर्वथा ननु ॥
असौ सृष्टि मानवानां कालिकायाः प्रभावतः ।
प्रकृतेर्मे लयं याति कुत्रचित् समयान्तरे ॥
धत्ते रूपान्तरं वाऽथ नात्र कार्या विचारणा ।
वर्णाश्रमाणां धर्माणां बीजरक्षाप्रभावतः ॥
मर्त्यानां रक्षितो वर्त्मा स्यात् क्रमाभ्युदयप्रदः ।
सार्वभौमस्वरूपस्य ज्ञानं स्याच्च कदाचन ॥
वर्णधर्मं यतो विज्ञाः ! प्रवृत्तिरोधकं जगुः ।
निवृत्तेः पोषकश्चैव धर्ममाश्रयगोचरम् ॥
अतो वर्णाश्रमाख्यस्य धर्मस्यैव सुरक्षणात् ।
रक्षिता पितरः वश्च शक्तिः सम्पत्स्यते ध्रुवम् ॥

समष्टि और व्यष्टि रूपसे सृष्टिको धारण करनेवाली जो मेरी नियामिका शक्ति है, उसीको सनातनधर्म कहते हैं। उस सनातनधर्मके चार पाद हैं यथा— साधारणधर्म, विशेषधर्म, असाधारणधर्म एवं आपद्धर्म। सार्वभौम और सर्वलोकहितकर होनेसे धर्म अभ्युदय और निःश्रेयसको अनायास प्रदान करता है। स्थावर जङ्गमात्मक समस्तविश्व धर्मकी शक्तिसे ही क्रमशः अभ्युदय प्राप्त करके मेरी ओर अग्रसर होता है और मेरे ज्ञानी भक्तगण धर्मकी ही शक्तिद्वारा तत्त्वज्ञानकी सहायतासे उत्तम मुक्तिपदको प्राप्त करते हैं। हे भाग्यशाली पितृगण! सनातनधर्मका सार्वभौम स्वरूप जितना प्रकट होगा उतनी ही मनुष्योंकी मूढ़ता (क्षुद्रता) नष्ट होगी। तत्त्वतः साधारण धर्मका स्वरूप निस्सन्देह हृदयङ्गम करने योग्य है और वर्णाश्रमधर्म संबंधी विशेषधर्मका अत्यन्त सुखप्रद सदाचार आर्यप्रजाओंसे पालन कराने योग्य है। क्योंकि वर्णाश्रमधर्म रहित मनुष्यसृष्टि मेरी प्रकृति कालीके प्रभावसे किसी समयान्तरमें लयको प्राप्त हुआ करती है, अथवा रूपान्तरको

धारणकर लिया करती है। इसमें कुछ विचारनेकी बात नहीं है। वर्णाश्रम-धर्मकी बीजरक्षासे मनुष्योंके क्रमाभ्युदयकी शैली रक्षित होती है क्योंकि हे विज्ञ पितृगण! वर्णधर्मको प्रवृत्तिरोधक और आश्रमधर्मको निवृत्तिपोषक कहते हैं। हे पितृगण! वर्णाश्रमधर्मकी रक्षाके द्वारा ही तुम्हारी शक्तिकी रक्षा होगी यह निश्चय है। वर्णाश्रमकी विज्ञानसिद्ध महिमाके विषयमें शास्त्रोंमें इस प्रकारसे कहा गया है।

निम्नलिखित शास्त्रीय वचनके पाठ करनेसे यह सिद्ध होगा कि वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार जो पुरुषार्थ हैं, वे स्वाभाविक हैं। अतः वर्णाश्रमधर्म मनुष्य कल्पित नहीं है।

वर्णाश्रमानुकूलस्य सदाचारस्य रक्षया।
मनुष्याणां पथो रोधः स्यात् क्रमाभ्युदयस्य न ॥
नासौ निर्बीजतामेत्य मर्त्यजातिः प्रणश्यति।
यथाकालन्तु तस्यां हि धर्म्मस्य शाश्वतस्य वै ॥
सार्वभौमस्वरूपस्य ह्यात्मज्ञानं प्रकाशकम्।
असंशयं विकाशेत कदाचिन्नात्र विस्मयः ॥
आर्य्यजातेर्बीजरक्षाऽऽध्यात्मिकी च क्रमोन्नतिः।
पितॄणां वर्द्धनाऽनल्पा तत्कृपाप्राप्तिरेव च ॥
सहोच्चैर्देवलोकैश्च सम्बन्धस्थापनं भृशम्।
विबुधानां प्रसादश्च विश्वमङ्गलसाधकः ॥
तथा स्वभावसंसिद्धसंस्कारोदयसाधनम्।
बीजरक्षाऽऽत्मबोधस्य कैवल्याधिगमोऽपि च ॥
वर्णाश्रमाणां धर्म्माणामष्टावेतानि मुख्यतः।
प्रयोजनानि सम्प्राहुः कर्म्मतत्त्वाब्धिपारगाः ॥

वर्णाश्रम-धर्मानुकूल सदाचारकी सुरक्षाके द्वारा मनुष्यजातिके क्रमाभ्युदय-कारी पथका अवरोध नहीं होता, वह मनुष्यजाति निर्बीज होकर नष्ट नहीं होजाती और उसमें यथासमय सनातनधर्मके सार्वभौमरूप प्रकाशक आत्मज्ञानका कभी विकाश हो ही जाता है, इसमें आश्चर्य नहीं है। आर्य्यजातिकी बीजरक्षा, आध्या-

त्मिक क्रमोन्नति, पितरोंका सम्वर्धन और उनकी विशेषकृपाप्राप्ति, दैवी ऊर्द्ध्व-लोकोंके साथ अतिशय सम्बन्धस्थापन, विश्वमङ्गलकारिणी देवताओंकी प्रसन्नता, स्वाभाविक संस्कारोंका उदय करना आत्मज्ञानकी बीजरक्षा और कैवल्याधिगम, ये वर्णाश्रमधर्मके आठ प्रधान प्रयोजन कर्मतत्त्व पारगोंने कहे हैं।

वर्णाश्रमके द्वारा आर्यजातिकी बीजरक्षा कैसे होती है, आध्यात्मिक क्रमोन्नति होकर अन्तमें वर्णाश्रमधर्म किस प्रकारसे स्वस्वरूप पारावारमें जीवरूपी वारि-बिन्दुको मिला देता है, वर्णाश्रमधर्मकेद्वारा पितरोंका संवर्धन उनकी कृपाप्राप्ति किस प्रकारसे होना शास्त्रकारोंने माना है, दैवी ऊर्द्ध्वलोकोंके साथ वर्णाश्रम किसप्रकार अधिक सम्बन्ध स्थापन कर देता है, विश्वमङ्गलकारिणी देवताओंकी प्रसन्नता मनुष्यजातिको वर्णाश्रमद्वारा कैसे प्राप्त होती है, स्वाभाविक संस्कारोंका किस प्रकारसे वर्णाश्रमद्वारा पुनरुदय होता है, आत्मज्ञानकी बीजरक्षा वर्णाश्रम-धर्मके द्वारा कैसे संभव है और मुक्तिकी प्राप्तिका कारण वर्णाश्रम कैसे बनता है उसका रहस्य ठीक समझानेके लिये शम्भुगीता कथित एक औपनिषदिक दृश्य प्रथम दिखाया जाता है। वर्णाश्रमधर्मका विज्ञान ठीक तौरपर समझानेके लिये श्रीशम्भु-गीतामें श्रीशम्भु और पितरोंके सम्वादसे एक अपूर्व चित्र बताया गया है। उस चित्रके देखतेही थोड़ोभी बुद्धि रखनेवाला जिज्ञासु वर्णाश्रमधर्मके महत्त्वका परिचय प्राप्त कर सकता है। उस चित्रको सामने रखते ही वर्णाश्रमधर्मकी सार्वभौम उपकारिता समझमें आजाती है।

अत्रैकोपनिषद्दृश्यमन्तिके वः स्वधाभुजः ! ।
गुह्यं प्रकाशयेऽत्यन्तमद्भुतं तत्प्रपश्यत ॥
श्यामायाः प्रकृतेर्मेस्तो द्वे रूपे परमाद्भुते ।
यतः सैव जड़ा जीवभूता चैतन्यमय्यपि ॥
अज्ञानपूर्णरूपेण जडरूपं धरन्त्यसौ ।
सृष्टिं प्रकाशयेच्छश्वन्नात्र कश्चन संशयः ॥
असौ चैतन्यपूर्णा च भूत्वा स्रोतस्विनी मम ।
स्वस्वरूपात्मके नित्यं पारावारे विशत्यहो ॥

सरिन्निर्गत्य चिद्रूपा सा महाद्रेर्जडात्मकात् ।
उद्भिज्जे स्वेदजे चैवमण्डजे च जरायुजे ॥
सलीलं खातरूपेऽलं प्रवहन्ती स्वधाभुजः ! ।
मर्त्यलोकाधित्यकायां निर्बाधं व्रजति स्वयम् ॥
तस्या अधित्यकायाश्च निम्नस्थाश्चैकपार्श्वतः ।
उपत्यका महत्यश्च विद्यन्ते गह्वरादयः ॥
यत्र तस्याः पवित्रायास्तरङ्गिण्या जलं स्वतः ।
स्थाने स्थाने वहन्नित्यं निर्गच्छति स्वभावतः ॥
अव्याहतश्च नीरन्ध्रमविच्छिन्नं निरापदम् ।
स्रोतस्तन्नितरां कृत्वा नदीधारां धरातले ॥
विधातुं सरलां सौम्यामष्टवन्धाः स्वधाभुजः ! ।
धर्म्मा वर्णाश्रमा एव निर्मिता नात्र संशयः ॥
त्रिलोकपावनी दिव्या सा नदी सुगमं हितम् ।
पन्थानमवलम्ब्यैव परमानन्दलब्धये ॥
मयि नित्यं प्रकुर्वाणा प्रवेशं राजतेतराम् ।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ॥
निर्ज्जरा निखिलास्तस्यां नद्यामानन्दपूर्वकम् ।
सर्वदैवावगाहन्ते लभन्तेऽभ्युदयञ्च ते ॥
उभयोस्तटयोस्तस्याः समासीना महर्षयः ।
ब्रह्मध्याने सदा मग्ना यान्ति निःश्रेयसं पदम् ॥
यूयं दार्ढ्याय बन्धानां तेषाञ्चैव निरन्तरम् ।
रक्षितुं तान् प्रवर्त्तन्ते पार्श्वमेषामुपस्थिताः ॥
भवतामत्र कार्य्ये च विश्वमङ्गलकारके ।
सदाचारिद्विजाः सन्ति सत्यो नार्य्यः सहायिकाः ॥

हे पितृगण ! इस सम्बन्धमें मैं उपनिषद्का एक गुह्य और अत्यन्त अद्भुत

दृश्य आपलोगोंके सामने प्रकट करता हूँ उसको देखो। मेरी श्यामा प्रकृतिके परम अद्भुत दो रूप हैं क्योंकि वही जड़रूपा है और वही जीवभूता चेतनमयी है। वह अज्ञानपूर्णरूपसे सदा जड़रूपको धारण करती हुई सृष्टि प्रकट करती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं और अहो! वह चेतनमयी स्रोतस्विनी होकर मेरे स्वस्वरूप पारावारमें निरन्तर प्रवेश करती है। हे पितृगण! वह चिन्मयी नदी, जड़मय महापर्वतसे निकलकर प्रथम उद्भिज्ज, तदन्तर स्वेदज, अण्डज और जरायुज नामधारी खादमें सरलतासे भलीभाँति बहती हुई मनुष्यलोकरूपी अधित्यकामें निर्बाध स्वयं पहुँचती है। उस अधित्यकाके नीचे एक पार्श्वमें गह्वर आदि और महान् उपत्यका विद्यमान हैं, जिनमें उस पवित्र तरंगिणीका जल स्थान-स्थान पर स्वभावतः बह जाया करता है। उस स्रोतको अप्रतिहत, अविच्छिन्न, निरापद् और नीरन्ध्र रखकर नदीकी धारा धरातलपर सरल और सौम्य रखनेके लिये वर्ण और आश्रमधर्मरूपी आठ बांध बांधे गये हैं इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण वह अलौकिक त्रिलोकपावनी नदी सरल और हितकर पथको अवलम्बन करके परमानन्दप्राप्तिके हेतु नित्य मुझमें प्रवेश करती हुई शोभती है। सम्पूर्ण देवतागण उस नदीमें सदाही आनन्दपूर्वक अवगाहन करते हैं और वे अभ्युदयको प्राप्त होते हैं और उस नदीके दोनों तटोंपर समासीन महर्षिगण सदा ब्रह्मध्यानमें मग्न होते हुए निःश्रेयसपदको प्राप्त होते हैं और आपलोग निरन्तर उन बन्धनोंको सुदृढ़ रखनेके लिये उन बांधोंके समीप उपस्थित होकर रक्षा करनेमें प्रवृत्त हैं और आपके इस जगन्मङ्गलकर शुभकार्य्यमें सदाचारी ब्राह्मणगण और सती नारियाँ सहायक हैं*।

उपनिषद्सम्बन्धीय इस दृश्यमें अतिदूरमें जो पर्वतश्रेणी दिखाई देती है वह ब्रह्मशक्ति मूलप्रकृति है और दूसरी ओर जो समुद्रका महान् प्रशान्त स्वरूप दिखाई देता है वह स्वरूपरूपी ब्रह्मपद है। मूलप्रकृति दो रूप धारण करती है एक जड़रूप जो इस ब्रह्माण्ड और पिण्डमें स्थावररूपसे दिखाई पड़ता है और जीवभूत चेतनमयरूप जो जंगममें दिखाई देता है। इसी कारण जड़मय पर्वत श्रेणीसे जीवभूता प्रकृति बहकर निकलती है। उस दूरवर्ती पर्वतसे वह नदी अति सरलधारामें आगे बह निकलती है। उत्तराखण्डके तीर्थोंके

*इस औपनिषदिक दृश्यका एक आयलपेंटिंग चित्र श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्यालयमें उपदेशक—महाविद्यालयके छात्रोंको शिक्षा देनेके लिये तैयार है।

दर्शन करनेवाले यात्रियोंको भलीभाँति विदित है कि पवित्र गंगानदी जब गंगोत्रीसे निकलकर आगे चलती हैं तो अतिवेगसे नीचेको बहा करती हैं क्योंकि पर्वतके इस मार्गमें उनको बहनेके लिये गंभीर खाद मिलता है, उस खादके दोनों ओर पर्वतकी उच्चता रहती है इस कारण गंगाजीका जल इधर-उधर बहने नहीं पाता और अतिवेगसे बिना किसी बाधाके नीचेकी ओर बह आता है। ठीक उसी प्रकार यह जीवभूता चिन्मयी नदी पहले उद्भिज रूपी खादमें, उसके अनन्तर स्वेदज-रूपी खादमें, उसके अनन्तर अण्डजरूपी खादमें और उसके अनन्तर जरायुजरूपी खादमें, इस प्रकारसे चार प्रकारके भूतसंघोंकी चौरासी लक्ष योनियोंमें वह चिन्मयी जीवधारा बिना किसी रोक-टोकके अतितीव्र और सरलरूपसे बहकर मनुष्ययोनिमें आ पहुँचती है यहाँ तक वह धारा अतिसरल और स्वाभाविक है और स्रोत भी अतितीव्र वेगसे बह रहा है। यद्यपि जड़मय पर्वतसे लेकर इस अनुभवकी जीवभूमिका यह मार्ग बहुत दूर दिखाता है परन्तु खाद ठीक होनेसे इसमें वह चिन्मयी नदी बिना किसी रोकटोक और आशङ्काके अतिसरलरूपसे बह आती है। जहाँपर मनुष्ययोनिका स्थान है वह भूमि अधित्यकाकी है अर्थात् वह भूमि पर्वतके ऊपर होनेपर भी समतल है; क्योंकि मनुष्यके अन्तःकरणमें ज्ञानविज्ञानकी समताका अधिकार प्राप्त हो सकता है। जिस प्रकार ईश्वर ब्रह्माण्डके अधीश्वर हैं उसी प्रकार मनुष्य अपने पिण्डका अधीश्वर बन जाता है। अधित्यकाकी भूमि इसीकी परिचायिका है। परन्तु इस अधित्यकाके एक ओर ठीक किनारे उपत्यकाकी विशाल निम्न भूमि और अनेक बड़े-बड़े खड्ग गह्वर हैं, वह जो खड्ग गह्वर और उपत्यकाकी निम्न भूमि है उसमें उस चिन्मयी नदीका जल निरन्तर थोड़ा थोड़ा बह रहा है। यदि वह जलके निकासका स्थान बढ़ जाय तो उस नदीका सब जल खड्ग गह्वर और उपत्यकामें गिरकर नदीका अस्तित्व भी लोप हो जा सकता है। वर्णाश्रमरूपी बन्धके द्वारा नदीका वह जल चूने न पावे इसका प्रबन्ध किया गया है तब वह नदी स्वस्वरूप समुद्रमें सीधी पहुँच रही है। पितृगण उस बन्धकी मरम्मत करनेवाले हैं और इस मरम्मत कार्यमें सदाचारी ब्राह्मण और सती स्त्रियाँ पितरोंकी परम सहायक हैं। नदीके दूसरे तीरका विस्तृत वनमय अधित्यकाका दृश्य अतिशय मनोहर है और नदीमें देवतागण बड़े आनन्दसे स्नान कर रहे हैं। इस दृश्यको नेत्रोंके संमुख लाते ही वर्णाश्रमधर्मका गंभीर विज्ञान समझमें आ जाता है।

जब यह वर्णाश्रमरूपी बन्ध ही चिन्मयी जीवभूता नदीके जलको वर्णसंकर रूपी खड्ड और गह्वरमें गिरकर लोप होनेसे रोकता है, जब वर्णाश्रमरूपी बन्ध ही उस नदीके जलको असभ्यतारूपी उपत्यकामें गिरकर सूख जाने से बचाता हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि वर्णाश्रमधर्म आर्यजातिको चिरस्थायी रखनेमें समर्थ है और उस जातिकी बीजरक्षा करता है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यदि पशुकी एक जाति दूसरी जातिसे संकर हो जाय तो उन दोनोंकी श्रेणी लोप हो जाती है। घोड़े और गधेसे खच्चर पैदा होता है परन्तु खच्चरकी श्रेणी आगे नहीं चलती है। ठीक इसी उदाहरणपर समझना उचित है कि यदि आदिसभ्य आर्य्य-जाति अन्य किसी नवीन जातिसे रजोवीर्य्यका सम्बन्ध स्थापन कर ले तो पृथ्वीकी अन्यान्य ऐतिहासिक जातियाँ जैसे लोप हो गई हैं यह भी लोप हो जायेगी। उसी प्रकार यदि वर्णाश्रमधर्म नष्ट होकर चारों वर्णोंमें समानरूपसे विवाह सम्बन्ध होने लगे अथवा एक गोत्रमें ही विवाह होने लगे तो भी आर्यजातिका बीज नाश हो जायगा। आज दिन जिस प्रकार प्राचीन ग्रीक जाति अथवा रोमन जातिका एक बीज दिखलाई नहीं देता है उसी प्रकार हिन्दू जातिकी वही दशा हो जायेगी। सुतरां, आर्य-जातिके रजोवीर्य्यकी पवित्रता बचाये रखना, उसको अन्य जातिसे मिलने न देना आर्य्य-जातिमें असवर्ण विवाह प्रचलित होने न देना, उसमें सगोत्र विवाह बन्द रखना इत्यादि बातें उसकी बीजरक्षा होनेका मूल कारण है इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण इस औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि पितृगण बन्धकी मरम्मत करा रहे हैं और सदाचारी ब्राह्मण धर्म्मोपदेष्टा बनकर और सती स्त्रियाँ आश्रय बनकर मरम्मत कर रही हैं।

जन्मान्तरवाद और क्रमोन्नतिवाद जो कि पहले अध्यायोंमें दिखाये गये हैं और कर्म्मतत्त्वमें जो सहज कर्म्मकी स्वाभाविक गति प्रतिपन्न की गई है उससे यह सिद्ध होता है कि जीव चिज्जड़ग्रन्थिरूपसे उत्पन्न होकर सहज कर्म्मकी सहायतासे उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनियोंकी श्रेणियोंमें बिना रोक टोकके जिस प्रकार आगे बढ़ता हुआ मनुष्य-योनिमें पहुँच जाता है उसी प्रकार मनुष्ययोनिमें उसकी क्रमोर्ध्वगति यदि बना रक्खी जाय तो वह जीव अविद्यापूर्ण दशासे शीघ्र मुक्त होकर मुक्तिपदरूपी पारावारमें पहुँच जाता है। उद्भिज्जसे लेकर जरायुज योनिकी अन्तिम सीमा तक जीवकी गति अप्रतिहत और अतिसरल है। मनुष्ययोनिमें आकर जब जीव अपनी इन्द्रियोंपर

आधिपत्य करके स्वाधीन बन जाता है तो उसमें कभी न कभी या उस मनुष्य-जातिमें कभी न कभी निरंकुशता और उच्छृङ्खलता आ जानेका पूरा भय रहता है। कामप्रधान, अर्थप्रधान, धर्म्मप्रधान, और मोक्षप्रधान इन चार श्रेणियोंमें विभक्त होकर जो प्रतिभा अग्रसर होती है उस प्रतिभाके क्रमका प्रत्यक्ष उदाहरण समाजमें नेत्रोंके सामने रखकर जो मनुष्यजाति अग्रसर होती है उसके नियमित क्रमोन्नतिमें बाधा होनेकी आशंका कम है। मनुष्ययोनिमें जीव स्वाधीन होकर अनियमित वासनाओंका दास हो जाता है, परन्तु जब वह अपने समाजमें इन चारों प्रकारके साध्योंके चार अधिकार और इनके अधिकार प्राप्त चार श्रेणियोंका उदाहरण अपने सामने देखता है तो वह स्वतः ही समझ सकता है कि ये चारो अधिकार एक दूसरेसे आगेके हैं और इनमें मनुष्यजीवनका लक्ष्य क्रमशः उन्नत है। संस्कारही कर्मका बीज होनेके कारण वर्णाश्रमके अन्तर्गत जीव क्रमशः अपनेमें एक संस्कारसे दूसरा उन्नत संस्कार प्राप्त करता हुआ ज्ञानमय अधिकारकी ओर अग्रसर होता है। जन्मान्तरवादके विज्ञानपर पूर्ण विश्वास रहनेके कारण चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके अधिकारोंमें वर्णाश्रमधर्म्मी मनुष्यको आपसमें ईर्ष्या, द्वेष करनेका अवसर ही नहीं मिलता है। प्रत्येक वर्णकी रजोवीर्य्यकी शुद्धि, प्रत्येक वर्णका धर्म्मसंस्कार और प्रत्येक आश्रमके धर्म्मसाधनका अभ्यास मनुष्यको नियमित रूपसे आत्मज्ञानकी ओर आगे बढ़ा देता है। चार वर्णोंमें ऊपर लिखित चारों साध्योंकी वासनाओंमें निवृत्तिसंस्कारकी उन्नति करते हुए अन्तमें वह मनुष्य आत्मज्ञानी बनकर स्वस्वरूप पारावारमें पहुँच जाता है। वर्णाश्रमरहित मनुष्यजातिमें इस प्रकार क्रमोन्नतिका बन्धन और नियमबद्ध व्यवस्था नहीं रह सकती। अस्तु, जिस मनुष्यजातिमें वर्णाश्रमधर्मकी सुव्यवस्था है उस जातिके मनुष्योंकी आध्यात्मिक क्रमोन्नति होना स्वाभाविक है। इसी कारण औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि चिन्मयी नदी ठीक-ठीक बहकर सच्चिदानन्द समुद्रमें पहुँच रही है।

यह शास्त्रद्वारा सिद्ध है कि जीव मनुष्ययोनिमें पहुँचकर पहले प्रेतलोकमें जाने लगता है और वहाँसे पुनः असभ्य मनुष्य होकर जन्मता है। उसके अनन्तर वह क्रमशः नरकलोक और पितृलोकमें पहुँचने लगता है परन्तु अर्य्यमा आदि नित्य-पितृगणकी पूरी कृपादृष्टि उसी मनुष्यपर पड़ती है जो मनुष्य जातिगत रजोवीर्य्यकी

शुद्धिका अधिकारी बन जाता है। तब पितरोंको निश्चय हो जाता है कि ऐसी मनुष्यजातिकी रक्षा वे कर सकेंगे। यही कारण है कि औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि पितृगण स्वयं वर्णाश्रमरूपी बन्धकी रक्षामें प्रवृत्त हैं। इस विषयके शास्त्रोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। शम्भुगीतासे कुछ वर्णन उद्धृत किया जाता है—

मृत्युलोके ततो जन्म गृह्णते च यदा तदा।
यूयं यद्यपि तेभ्यो वै स्वस्वकर्म्मानुसारतः॥
उपयुक्तं प्रयच्छेत भोगायतनरूपकम्।
पित्रोः स्थूलं रजोवीर्य्यसाहाय्याद्वपुरद्भुतम्॥
परिश्रमेण महता पाञ्चभौतिकमण्डलात्।
तत्त्वानि किल सञ्चित्य तद्‌योग्यान् पितरोऽनिशम्॥
मातृगर्भेषु निर्माय स्थूलदेहान्न संशयः।
लभन्ते मातृगर्भेषु दुःखान्येव तथापि ते॥
गर्भवासे भवन्तो हि पितरो यद्यपि स्वयम्।
तेषां सहायका नूनं परमाः स्युस्तथाप्यहो!॥
नेशतेऽनुभवं कर्तुं तद्दशा तत्र का भवेत्।
कीदृशे दुःखजाले ते महाघोरे पतन्ति च॥
दाम्पत्यसंगरूपेषु पीठेषु सहजेष्वलम्।
आकृष्टाः पीठसन्नाशे पितृवीर्य्यकणाश्रयाः॥
प्रविष्टा मातृगर्भेषु जायन्ते जीवजातयः।
पितरः! श्रूयतां चित्रा गर्भवासकथाततिः॥
आतिवाहिकदेहस्य सन्त्यागादेव तत्क्षणम्।
दुर्बलाः क्लेशितास्ते च मूर्च्छामादौ व्रजन्त्यलम्॥
आवागमनचक्रस्य परिधावत्र भूतिदाः॥
भवन्तो जीववर्गार्थं स्थूलं देहं नयन्त्यलम्।
साहाय्यात् पञ्चतत्त्वानां नात्र कश्चन संशयः॥

सूक्ष्मदेहान्विताञ्जीवांस्तत्र देवा नयन्ति च ।
नृदेहं जीववृन्देभ्यो दद्ध्वे यूयं यदा तदा ॥
पित्रोर्नूनं शरीरेण वीर्य्यांशं पितरोऽधिकम् ।
नारीदेहं यदा दत्थ तदांशं रजसोऽधिकम् ॥
क्लीवदेहप्रदित्सायामुभयोः समतां किल ।
दापयध्वे न सन्देहः सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥
पितरो वोऽनुकम्पातो लोके पुत्रादिसम्भवः ।
विकाशमपि देहेषु सत्त्वादेः कुरुथ स्वतः ॥
तात्कालिकमनोवृत्तेः पित्रोः साहाय्यतो ध्रुवम् ।

श्रीभगवान् सदाशिव पितरोंसे कहते हैं कि हे पितृगण ! तदनन्तर जीववर्ग मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं, तब यद्यपि आपलोग उनके अपने अपने कर्मोंके अनुसार उनको उपयुक्त भोगायतनरूपी अद्भुत स्थूलशरीर उनके माता-पिताके रजोवीर्यकी सहायतासे देते हैं और आपलोग बड़े परिश्रमके साथ पञ्चभूतमण्डलसे तत्त्वोंको एकत्रित करके मातृगर्भमें उन जीवोंके योग्य स्थूलशरीरको सदा बना देते हैं तौ भी वे मातृगर्भमें अनेक दुःखोंको ही पाते हैं। हे पितृगण ! यद्यपि गर्भावासमें आपही लोग स्वयं उन जीवोंके निश्चय परमसहायक हो तौ भी आप यह अनुभव नहीं कर सकते कि वहाँ उनकी क्या दशा होती है, किस प्रकारके महाघोर दुःखजालमें वे पतित होते हैं। दाम्पत्यसङ्गरूपी सहजपीठोंमें भलीभाँति आकृष्ट होकर पीठके अन्त होनेपर पिताओंके वीर्यकणको आश्रय करके जीवसमूह माताओंके गर्भमें प्रविष्ट होते हैं। हे पितृगण ! विचित्र गर्भवासकी कथाको सुनिये। वहाँ (गर्भमें) पहुँचते ही अतिवाहिक देहके त्याग होनेसे वे दुर्बल और क्लेशित होकर प्रथम भलीभाँति मूर्छित हो जाते हैं। हे पितृगण ! आवागमनचक्रके इस परिधिमें आपलोग जीवोंके लिये पञ्चतत्त्वमण्डलकी सहायतासे स्थूल देहको पहुँचा देते हैं इसमें कुछ सन्देह नहीं। और देवतागण सूक्ष्म देहविशिष्ट जीवोंको वहाँ पहुँचा देते हैं। हे पितृगण ! आपलोग जब जीवोंको पुरुषशरीर प्रदान करते हैं, तब वीर्यका अंश अधिक और जब स्त्रीशरीर प्रदान करते हैं तब रजका अंश अधिक और जब नपुंसकशरीर प्रदान करते हैं तब उभयकी समानता पितामाताके शरीरसे

निःसन्देह दिलाते हैं, इसको मैं आपलोगोंसे सत्य कहता हूँ। हे पितृगण! आपलोगोंकी ही अनुकम्पासे संसारमें पुत्र आदिका जन्म होता है और आपही लोग शरीरके सत्त्व आदि गुणोंका विकाश भी मातापिताके उस समयकी मनोवृत्तिकी सहायतासे अवश्य किया करते हैं। सिद्धान्तरूपसे और भी कहा है—यथा—

भवद्विशिष्टसाहाय्याल्लब्धानां किन्तु भूतिदाः॥
पिण्डानां मानवीयानां वैलक्षण्यं किमप्यहो।
एते शक्तिविशेषाणां वर्त्तन्ते पितरो ध्रुवम्॥
आकर्षणोपयोगित्वाच्चतुवर्गफलप्रदाः।
निःश्रेयसफलोत्पन्नकारिणो विटपस्य हि॥
मानवपिण्ड एवायं बीजमास्ते न संशयः।
पिण्डानां मानवीयानां मुख्यत्वे पितरो ध्रुवम्॥
भवन्तो हेतवः सन्ति प्रधाना नात्र संशयः।
पूरितावयवा जीवा मर्त्यपिण्डं गतास्ततः॥
भूतिदाः! भवतां नूनं साहाय्यं प्राप्तुमीशते।
क्रमशो वश्च साहाय्यं समासाद्योत्तरोत्तरम्॥
गच्छन्त्यसंशयं पुण्यामार्य्यकोटिं समुन्नताम्॥

हे पितृगण! आपलोगोंकी विशेष सहायतासे प्राप्त जो मानवपिण्ड हैं, अहो! उनकी विचित्रता कुछ और ही है। वे विशेष शक्तियोंके आकर्षणके उपयोगी होनेसे चतुर्वर्ग फलप्रद हैं। हे पितृगण! मानवपिंड ही मुक्तिफल उत्पन्नकारी वृक्षका बीज स्वरूप है। मानवपिंडके ऐसे प्राधान्यके विषयमें हे पितृगण! आपलोग प्रधान कारण हैं इसमें सन्देह नहीं। हे पितृगण! जीवगण पूर्णावयव होकर मनुष्य-पिण्डको प्राप्त करते हुए आपलोगोंकी सहायताको प्राप्त करनेमें अवश्य समर्थ होते हैं और क्रमशः उत्तरोत्तर पवित्र उन्नत आर्य्यकोटिको निश्चय आपलोगोंकी सहायतासे प्राप्त कर लेते हैं।

जिस मनुष्य-समाजमें जन्मान्तरवादका विज्ञान स्थायी रूपसे प्रचलित है, वही जाति दैवजगत्के साथ अधिक सम्बन्ध स्थापन करनेमें समर्थ है इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि जिस जातिमें यह विश्वास ही नहीं है कि दैवजगत्में जाना आना पड़ता है, उस जातिके मनुष्य दैवजगत्के साथ अपने चित्तका अधिक संबन्ध स्थापन

नहीं कर सकते जिस मनुष्यजातिमें ऋषि देवता और पितरोंका अस्तित्व प्रचलित नहीं है, जो मनुष्यजाति इन तीनों श्रेणीके देवताओंके संवर्धनकी आवश्यकता ही नहीं जानती है उस मनुष्यजातिके साथ दैवजगत्का अधिक सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। यद्यपि किसी नगरके राजपुरुषकी दृष्टि राजधर्म पालनके विचारसे उस नगरकी प्रजाके ऊपर समभावसे रहती है, परन्तु उस नगरकी प्रजामेंसे जो लोग उक्त राजपुरुषसे घनिष्ठता रखते हैं, ऐसे व्यक्ति उस राजपुरुषद्वारा अनेक असाधारण कार्यभी सिद्धकर लिया करते हैं। ठीक उसीप्रकार उर्धव देवलोकसे प्रेम रखनेवाली जाति ही उससे अधिक सम्बन्ध स्थापन कर सकती है। वर्णाश्रमधर्ममें जितने आचार बान्धे गये हैं उनका सर्वथा संबन्ध सूक्ष्म जगत्के साथ रखा गया है, चारों वर्ण और चारों आश्रमके धर्म इस प्रकारसे निर्णय किये गये हैं कि जिससे यज्ञ और महायज्ञद्वारा आर्य्यजाति उर्धव देवलोकों और देवताओंसे उत्तरोत्तर अतिशय संबन्ध स्थापन कर सके। इसी कारण औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि चिन्मयी नदीका जल अधोलोकके गह्वर आदि आसुरी भावोंको प्राप्त न करके सरल होकर दैवपथमें अग्रसर हो रहा है।

पूर्व अध्यायोंमें यह दिखाया गया है और आगेके चतुर्दशभुवनसमीक्षामें भी यह भलीभांति दिखाया जायगा कि ब्रह्माण्डके ऊपरके सातलोकोंमें देवता बसते हैं और नीचेके सातलोकोंमें असुर बसते हैं। वे दोनों दल उस ब्रह्माण्डमें और उस ब्रह्माण्डके सब मनुष्यपिंडोंमें अपना अधिकार बढ़ाने और दल बढ़ानेका प्रयत्न सदा करते रहते हैं। असुर और देवताओंके लक्षण इस प्रकार शास्त्रोंमें कहे गये हैं, जो मनुष्योंमें भी पाये जाते हैं और निम्नलिखित लक्षणोंके अनुसार समझा जा सकता है किस प्रकारसे मनुष्योंके शरीरमें देवताओं और असुरोंको अधिकार अलग-अलग बढ़ सकते हैं। नीचेके लक्षणोंसे यह भलीभांति प्रतीत होगा कि राक्षस और असुर भावोंको छोड़कर किन लक्षणोंको प्राप्त करके मनुष्य देवताओंकी विशेष सहायता प्राप्त कर लेता है। और इसी प्रकार दैवी सम्पत्ति लाभ करके मुक्तिपदमें अग्रसर होता है।

विशिष्टचेतना जीवाः सुराः! त्रिगुणभेदतः।
चतुर्ष्वेवाधिकारेषु विभक्ताः सन्ति सर्वदा॥
राक्षसा असुरा देवा कृतविद्याश्च ते मताः।
केवलं तम आश्रित्य विपरीतं प्रकुर्वते॥

कर्म्म तान् राक्षसानाहुर्गुणभेदविदो जनाः ।
रजोद्वारेण ये जीवा इन्द्रियासक्तचेतसः ॥
तमःप्रधानं विषय-बहुलं कर्म्म कुर्वते ।
असुरास्ते समाख्याता देवाञ्च्छृणुत देवताः ! ॥
रजःसाहाय्यमाश्रित्य कर्म सत्त्वप्रधानकम् ।
विषयाच्छन्नमतयः कुर्वते ते विचक्षणाः ॥
शुद्धसत्त्वे स्थिता ये स्युः कृतविद्या मतास्तु ते ।
अहं तु कृतविद्येषु ह्यादर्शोऽस्मि सुरर्षभाः ! ॥

श्रीभगवान् महाविष्णु देवताओंसे कहते हैं कि हे देवगण ! त्रिगुणके भेदसे विशिष्ट चेतनजीव सर्वदा चारही अधिकारोंमें विभक्त हैं। उन्हींको राक्षस, असुर, देवता और कृतविद्य कहते हैं। केवल तमोगुणके आश्रित होकर जो विपरीत कर्म करते हैं उनको गुणभेदके जाननेवाले विद्वान् लोग राक्षस कहते हैं। जो जीव इन्द्रियासक्त चित्त होकर रजोगुणके द्वारा तमोन्मुख विषय बहुल कर्म करते हैं, वे असुर हैं। देवाधिकारके जीवोंका लक्षण सुनो, जो विषयवासना रखते हुए रजकी सहायता लेकर सत्त्वोन्मुख कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, वे विचक्षण व्यक्ति देवता कहलाते हैं और जो शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित हैं वे कृतविद्य कहलाते हैं। हे देवगण ! मैं ही कृतविद्योंका आदर्श हूँ।

वर्णाश्रमधर्मद्वारा इन्द्रियभावयुक्त आसुरी वृत्ति घटती है और आत्मासे युक्त दैवीवृत्ति बढ़ती है। वर्णधर्म तो स्वतः ही कामसे अर्थकी ओर, अर्थसे धर्मकी ओर और धर्मसे मोक्षकी ओर जीवको ले जाता है। उसीप्रकार आश्रमधर्म पहले प्रवृत्तियोंको रोककर निवृत्तिकी पूर्णतामें पहुँचा देता है। इस कारण वर्णाश्रम-धर्म मनुष्यमें क्रमशः दैवभावोंको बढ़ाता है, इसमें सन्देह नहीं। इस कारण दैवभावके सदा बढ़ानेवाली और असुरभावसे हटनेवाली आर्यजातिपर स्वतःही विश्वमंगलकारिणी देवताओंकी प्रसन्नता हो जाती है। इसीकारण औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि देवतागण अति आनन्दमग्न होकर उस नदीमें स्नान कर रहे हैं।

कर्मतत्त्व नामक अध्यायमें यह दिखाया गयाहै कि अस्वाभाविक संस्कार बन्धनके कारण होते हैं और स्वाभाविक संस्कार मुक्तिके कारण होते हैं और उसमें

यह भी दिखाया गया है कि वर्णाश्रमधर्मके अनुसार वैदिक संस्कारसमूह रखे गये हैं, वे सब स्वाभाविक संस्कारके उन्नत करनेवाले हैं। पूज्यपाद महर्षिगणने वर्ण और आश्रमधर्मके आचारसमूह इस प्रकारसे स्थिर किये हैं कि उन सबमें उत्तरोत्तर अस्वाभाविक संस्कार शिथिल होकर जीवके स्वाभाविक संस्कार परिपुष्ट होते रहते हैं। सुतरां वर्णाश्रमके द्वारा मनुष्यमें मुक्ति देनेवाला स्वाभाविक संस्कार नियमित बढ़ता रहता है, इसमें सन्देह नहीं। शूद्रसे वैश्यमें तमरज, वैश्यसे क्षत्रियमें रजसत्त्व और क्रमशः ब्राह्मणमें सत्त्वप्रधान संस्कार उत्पन्न होते हैं। संन्यासमें जाकर वे स्वाभाविक संस्कारमें परिणत होते हैं। अस्तु औपनिषदिक दृश्यमें जो प्रवाहकी सरलता और अबाध गति है, वही स्वाभाविक संस्कारका परिचायक है।

इस घोर परिवर्तनपूर्ण मृत्युलोकमें, इस शक्तिशाली कर्मभूमिमें मनुष्य सत्कर्मके बलसे देवता भी बन सकता है औ असत्कर्मके बलसे पशु भी बन सकता है। इस कारण इस भयकी संभावना है कि मनुष्यजातियाँ क्रमशः सभ्यसे असभ्य पशुवत् हो जा सकती हैं परन्तु जिस मनुष्यजातिमें प्रवृत्तिसे निवृत्तिका आदर अधिक मानकर ब्राह्मणवर्णको भूदेव करके माना गया है; ब्राह्मणगण निवृत्ति परायण होते हैं और राजागण उन्हींकी आज्ञा लेकर राज्यशासन करना अपना धर्म समझते हैं उस मनुष्यजातिमें आत्मज्ञानके बीजकी रक्षा होनी स्वतः सिद्ध है। जिस मनुष्यजातिमें चक्रवर्ती महाराजाधिराजको तो केवल नारायणका अंश समझा जाता है परन्तु कौपीनधारी भिक्षुक संन्यासीको केवल आत्मज्ञानकी प्रधानतासे ही मूर्तिमान् नारायण समझा जाता है, उस जातिमें आत्मज्ञानकी बीजरक्षा होना सहज ही है। जिस मनुष्यजातिके शारीरिक, वाचनिक और मानसिक सब कर्मोंमें अध्यात्मलक्ष्य ही सर्वोपरि माना गया है और उसके वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म और सब सदाचारोंमें आत्मज्ञानकी क्रमोन्नतिको ही सामने आदर्शरूप रखा गया है उस जातिमें आत्मज्ञानकी बीज रक्षा होना स्वतः सिद्ध है इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। यही कारण है कि इस औपनिषदिक दृश्यमें दिखाया गया है कि ज्ञानराज्यके अधिष्ठाता ऋषिगण इस चिन्मयी नदीके दोनों तटोंपर सुखसे बैठकर आत्मध्यानमें निमग्न होकर परमानन्द अनुभव कर रहे हैं।

यह तो स्वतः सिद्ध है कि वर्णाश्रमधर्ममें मुक्तिपदको ही प्रधानलक्ष्यकरके माना गया है। वर्णगुरु ब्राह्मणके सब धर्मही मोक्षके लक्ष्यसे युक्त हैं, यह पहिले

ही कहा गया है। उसीप्रकार आश्रमगुरु संन्यासी तो जीवन्मुक्तपदवीकी मूर्ति ही हैं। सुतरां वर्णाश्रमधर्ममें कैवल्याधिगमका लक्ष्य स्वतः सिद्ध है। इसीकारण इस औपनिषदिक दृश्यमें चिन्मयी नदी अन्तमें स्वस्वरूप पारावाररूपी ब्रह्मपदमें जाकर उसमें मिलती हुई अद्वितीयरूपको धारण करती है। वास्तवमें इस विज्ञानपूर्ण दृश्यके विज्ञानको हृदयङ्गम करनेसे वर्णाश्रमधर्मका पूर्ण महत्त्व सुगमतासे समझमें आ जाता है।

चारोंवर्ण और चारों आश्रमके धर्म स्वाभाविक हैं, क्योंकि वर्णधर्म त्रिगुणके तारतम्यसे निश्चित हुए हैं और आश्रमधर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिके तारतम्यसे स्थापित हैं। इसीकारण उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज इनमें भी चातुर्वर्ण्यके अनुसार श्रेणीविभाग है और देवतालोगोंमें भी चातुर्वर्ण्यका होना शास्त्रोंमें पाया जाता है। प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मके विचारसे चारों आश्रमोंका होना तो स्वतः सिद्ध ही है। जो सभ्यजाति प्रवृत्तिसे निवृत्तिको उत्तम समझती होगी उसको यह मानना ही पड़ेगा कि प्रवृत्ति सीखनेकी अवस्थासे प्रवृत्तिकी चरितार्थताकी अवस्था दूसरी हुआ करती है। उसी प्रकार निवृत्ति सीखनेकी अवस्थासे निवृत्तिकी चरितार्थताकी अवस्था स्वतन्त्र होना स्वतः सिद्ध है। इस हिसाबसे सभ्य मनुष्य-समाजमें आयुके विचारानुसार इन चारों अवस्थाओंका होना मानना ही पड़ेगा। सुतरां, चतुराश्रमधर्म भी स्वाभाविक ही है।

यही चारों प्रकारके वर्ण मनुष्यजातिमें सदा सर्वदा पाये जाते हैं। पृथिवीमें जो आर्यजाति जन्मसे चातुवर्ण्यको मानती है उसमें तो ये चारों धर्म सब समय पाये ही जायँगे परन्तु जो मनुष्यजातियाँ जन्मगत चार वर्णका महत्त्व नहीं मानती हैं उनमें भी सब समयमें इन चारों लक्षणोंके मनुष्य अवश्य ही पाये जायंगे। मनुष्यसमाज चाहे कितना ही साम्यवादका प्रचार क्यों न करे सब मनुष्यसमाजमें असभ्य अथवा सभ्य सब प्रकारकी मनुष्यजातिमें इन चारों लक्षणके मनुष्यके अधिकार अवश्य दिखाई देते रहेंगे। क्योंकि चातुर्वर्ण्य स्वाभाविक है और मनुष्यका ऊपर लिखित साध्य चार प्रकारका होनेसे मनुष्यश्रेणी भी उक्त चार साध्यके अवलम्बनसे चार प्रकारकी होगी इसमें कोई भी सन्देह नहीं। जो दैवी-जगत्का रहस्य समझते हैं, वे इसको जानते हैं कि दैवजगत्में भी चार वर्णके असुर, चार वर्णके देवता और चारवर्णके पितृ आदि भी होते हैं। चातुर्वर्ण्यका

२४

लक्ष्य यथाक्रम चतुर्वर्ग होनेसे वह स्वाभाविक और सर्वव्यापक है इसमें सन्देह नहीं।

चतुर्वर्गरूपी काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष ये जीवके साध्य हैं अर्थात् साधकके स्वतन्त्र स्वतन्त्र लक्ष्य चार ही हैं। सृष्टिमें जितना कुछ साध्य होगा, सब प्रकारके साधकोंका जितना कुछ पुरुषार्थका लक्ष्य होगा वे सब इन्हीं चारों श्रेणीमेंसे किसी न किसीके अन्तर्गत होंगे। इन्द्रिय सुखजनित काम सबसे छोटा है क्योंकि कामके लक्ष्यसे मनुष्य केवल इन्द्रियोंमें ही फंसा रहता है। जितने प्रकारके इन्द्रिय सुख हैं, वे सब कामके अन्तर्गत समझे जायेंगे। पशुगण केवल इन्द्रिय सुखको ही जानते हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय सुखलोलुप केवल कामका दास चाहे कितना ही उन्नत हो वह पशुवत् ही है। अर्थका सम्बन्ध उससे श्रेष्ठ है क्योंकि अर्थके अधिकारमें काम गौण हो जाता है। धर्मका अधिकार दोनोंसे श्रेष्ठ है क्योंकि धार्मिकके सम्मुख काम और अर्थ गौण हो जाता है। काम और अर्थका अधिकारी केवल इस लोकपर ही अपनी दृष्टि रखता है परन्तु धर्मकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति इस लोकसे अपनी दृष्टि हटाकर परलोककी ओर ले जाता है और मोक्षपर लक्ष्य रखनेवाला महापुरुष सबसे अधिक समझा जाता है क्योंकि मुमुक्षु व्यक्तिके लिये न इस लोकके सुख प्रिय हैं और न परलोकके सुख ही प्रिय हो सकते हैं। यही चारों साध्यका रहस्य है। चाहे मनुष्य हो चाहे देवता सबके जीवनका जो कुछ लक्ष्य होगा वह सब इन चार भागोंमें विभक्त होगा।

ये चारों साध्य चार प्रकारके साधनके अधीन हैं। वे चार प्रकारके साधन धन, बल, विद्या और बुद्धि माने गये हैं। इसी कारण सर्वशक्तिमयी श्रीदुर्गा देवीके वर्णनमें ऐसा कहा गया है :—

सर्वशक्तिमयी दुर्गा स ममास्तीति बोधतः।
ब्रह्मणो निखिला शक्तिः स्वतस्तत्र प्रकाशते॥
कार्तिकेयो बलेशोऽतो गणेशो बुद्ध्यधीश्वरः।
लक्ष्मीर्धनेश्वरी विद्याधीश्वरी च सरस्वती॥
तस्याः सन्ति सुतास्तस्यां राजन्ते सर्वशक्तयः।
बलबुद्धिधनज्ञानरूपापत्यप्रभावतः॥

"वे मेरे हैं" इस ज्ञानसे दुर्गा सर्वशक्तिमयी हैं उनमें ब्रह्मकी सकल शक्तियाँ स्वतः प्रकाशित होती हैं। इसी कारण बलाधीश कार्त्तिकेय, बुद्ध्यधीश्वर गणेश, धनेश्वरी लक्ष्मी और विद्याधीश्वरी सरस्वती इनकी सन्तान हैं। बल, बुद्धि, धन और ज्ञानरूपी अपत्योंके प्रभावसे उनमें सब शक्तियाँ विराजमान हैं। यही बल धन विद्या और बुद्धि रूपी चार साधन जब एक स्थल पर मिलते हैं वहीं पूर्ण शक्तिका आविर्भाव होजाता है इसमें सन्देह नहीं! इन्हीं चारों शक्तियोंको लेकर पूर्व्वकथित चार साध्यको प्राप्त करनेका जो यत्न है वही पुरुषार्थ कहाता है। इन चारों साधनोंकी न्यूनता और अधिकताके अनुसार चारों साध्योंके प्राप्त करनेके विषयमें सफलताका तारतम्य हुआ करता है। वर्णाश्रमधर्म्मका विषय यदि छोड़ भी दिया जाय तौभी यह मानना ही पड़ेगा कि ऊपर लिखित काम, अर्थ, धर्म्म और मोक्षरूपी चार साध्योंके अतिरिक्त जीवका और कोई भी लक्ष्य नहीं हो सकता और यह भी मानना पड़ेगा कि बल, धन, विद्या और बुद्धि इन चारोंमें ही सब प्रकारके साधनोंका समावेश होजाता है।

पुरुषार्थका लक्ष्य स्थिर करनेके लिये शास्त्रकारोंने साधारणतः पुरुषार्थको चार श्रेणीमें विभक्त किया है, यथा—सन्न्यासगीतामें कहा गया है कि:—

स्वार्थश्च परमार्थश्च परोपकार इत्यपि।
चतुर्विधाऽस्ति परमोपकार इति वासना॥
ऐहिकाऽभ्युदयस्तत्र स्वार्थो विद्वद्भिरुच्यते।
स्वीयाऽऽमुष्मिककल्याणं परमार्थः प्रकीर्त्तितः॥
अपरैहिककल्याणं परोपकार उच्यते।
अपराऽऽमुष्मिकशिवं सकलान्तस्य लक्षणम्॥
स्वार्थः परोपकारश्च जीवानां लक्ष्यतामितः।
परमार्थश्च परमोपकारश्चोच्चयोगिनाम्॥

पुरुषार्थ चार प्रकारका होता है, यथाः—स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार। जिससे अपना ऐहिक अभ्युदय हो उसे विद्वान्गण स्वार्थ कहते हैं, अपने पारलौकिक कल्याणका नाम परमार्थ है और दूसरोंके ऐहिक कल्याणको परोपकार और दूसरोंके पारत्रिक कल्याणको परमोपकार कहते

हैं, स्वार्थ और परोपकार साधारण जीवोंका लक्ष्य तथा परमार्थ और परमोपकार उच्चश्रेणीके योगियों का लक्ष्य होता है ।

सूक्ष्म विचार करनेसे यह माननाही पड़ेगा कि वर्णाश्रममर्य्यादाके बाँधनेमें तो चारों साध्य और चारों साधनोंका पूरा पूरा लक्ष्य यथाक्रम रक्खा गया है और वर्णाश्रममाननेवाली आर्य्यजातिमें ऊपरकथित स्वार्थ, परमार्थ परोपकार और परमोपकाररूपी चार लक्ष्य यथाधिकार पाये ही जाते हैं। मनुष्य जितना जितना उन्नत होता जाता है उतनी उतनी इन लक्ष्योंमें उसकी उन्नति होती जाती है। इनमेंसे प्रथम दो लक्ष्य यज्ञ सम्बन्धीय हैं और द्वितीय दो लक्ष्य महायज्ञ सम्बन्धीय हैं। परन्तु यदि वर्णाश्रमका विचार न रखनेवाली भी कोई मनुष्यजाति होगी तो उसमें भी पुरुषार्थ निर्णयकेलिये यही चार साध्य, चार साधन और चार लक्ष्य समानरूपसे फलप्रद होंगे ।

षष्ठसमुल्लासका प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

दर्शनसमीक्षा ।

दर्शन दर्शनरूप हैं। बहिर्जगत्का कुछ भी जिस प्रकार दर्शनेन्द्रिय नेत्रके बिना नहीं देखा जासकता उसीप्रकार दर्शनशास्त्रके बिना अन्तर्जगत्का रहस्य कुछ भी नहीं देखा जा सकता ।

मनुष्यसमाजमें जिस प्रकार पदार्थ विद्या और शिल्पोन्नतिसे उसके बहिर्जगत्की उन्नति जानी जाती है उसीप्रकार दर्शनशास्त्रकी उन्नतिसे उसके अन्तर्जगत्की उन्नति समझी जाती है। जिस मनुष्य-समाजने जब जितना शिल्पोन्नति-साधन किया है वह मनुष्यसमाज उस समय उतनेही परिमाणसे बहिर्जगत् सम्बन्धीय उन्नतिके पथमें अग्रसर हुआ है। शिल्पकी उन्नतिके साथही साथ मनुष्य-समाजमें पदार्थविज्ञान (सायन्स) की उन्नति हुआ करती है। पदार्थविज्ञान कभी भी सर्व्वोच्च स्थान अधिकार नहीं कर सकता है तथापि उसकी उन्नतिके परिमाणके अनुसारही मनुष्यसमाजमें बहिर्जगत्की उन्नतिका परिमाण अनुमित हुआ करता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतीन्द्रिय अन्तर्राज्यके अर्थ दर्शनशास्त्रही एकमात्र अवलम्बन है। स्थूलराज्यसे अतीत अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण सूक्ष्मराज्यरूप अनन्त पारावारके लिये दर्शनशास्त्र ही ध्रुवतारा स्वरूप हैं। सूक्ष्मराज्यमें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाला साधक केवल दर्शनशास्त्रोंके साहाय्यसे ही अन्तर्राज्य (सूक्ष्मराज्य) में प्रवेश करनेमें समर्थ होता है। जिस प्रकार स्थूल-नेत्रविहीन व्यक्ति स्थूलजगत्का कुछ भी नहीं देख सकता; इसी प्रकार दर्शन-शास्त्रको न जाननेवाला व्यक्ति भी सूक्ष्मजगत्के विषयोंको कुछ भी नहीं समझ सकता, अतएव इन सब बातोंसे यह जानना चाहिये कि जो शास्त्र सूक्ष्म जगत्का वास्तविक तत्त्व समझा देवे उसीको दर्शनशास्त्र कहते हैं।

पृथिवीके और देशोंके दर्शनशास्त्र लौकिक बुद्धिसे उत्पन्न हैं और हिन्दू जातिके दर्शनशास्त्र अलौकिक योगप्रसूत हैं। और देशके दर्शनशास्त्र मनुष्य-कृत हैं परन्तु वैदिकदर्शनशास्त्र स्वाभाविक ज्ञानराज्यके परिणामरूप हैं। इसी कारण वैदिक दर्शन केवल सात ही हैं। सनातनधर्म्मका यह स्थिर विज्ञान है कि कारणविज्ञान तीन भागमें विभक्त होता है और जितने कार्य्य-

रूपको धारण किए हुए पदार्थ हैं वे सब सात भागमें विभक्त होते हैं। इन भेदोंका वर्णन शास्त्रोंमें श्रीमहादेवीने देवताओंसे कहा है, यथा :—

इदानीं सुगमोपायं पुरो वो वर्णयाम्यहम् ।
निःशेषं मद्धितं वाक्यं शान्तचित्तैर्निशम्यताम् ॥
विराड्रूपानुभूतिर्मे कर्त्तुं चेन्नैव शक्यते ।
मद्गुणादिप्रभेदेषु दृश्येऽहं च विभूतिषु ॥
व्याप्तास्म्यहञ्च दृश्येषु मूर्तित्रितयरूपतः ।
अहमेव त्रिदेवाश्च विधिविष्णुशिवात्मकाः ॥

अब मैं आपलोगोंको सुगम उपायका उपदेश देती हूँ। शान्तचित्त होकर मेरी सब हितकी बातोंको सुनो। आप यदि मेरे विराट् रूपके अनुभव करनेमें असमर्थही हों तो मेरे गुणादिभेदमें और मेरी विभूतियोंमें मेरा दर्शन करो। मैं ही त्रिमूर्ति रूपसे दृश्यमें व्याप्त हूँ, मैं ही ब्रह्माविष्णु-महेशरूपी त्रिदेव हूँ।

देवर्षिपितृरूपाश्च तिस्रोऽधिष्ठातृदेवताः ।
अहमस्मि च भो देवाः ! नित्या नैमित्तिका ध्रुवम् ॥
धर्म्मस्य त्रिविधैरङ्गैरहमेव दिवौकसः ! ।
निःश्रेयसं मनुष्येभ्योऽभ्युदयञ्च ददे पदम् ॥
अहमेवास्मि हे देवाः ! भावत्रयस्वरूपभाक् ।
येन भावत्रयेणाहं ज्ञानचक्षुर्ददत्यलम् ॥
अधिकारं त्रिनेत्रस्य दत्त्वा जीवेभ्य एव च ।
प्रापयामि शिवस्याशु पदवीं तानसंशयम् ॥
शक्तिर्ममैव दानानि व्याप्नोति त्रिविधानि च ।
तपस्विनोऽधिगच्छन्ति तपोभिस्त्रिविधैः सुराः ! ॥
कायवाणीमनोजन्यैर्दैवीं शक्तिं ममैव तु ।
अहमेव त्रिधा यज्ञास्त्रिगुणैरहमेव च ॥
सम्पादयामि ब्रह्माण्ड-सृष्टिस्थितिलयक्रियाः ।
अहं देहञ्च पिण्डाख्यं पायांशक्तित्रयेण वै ॥

गुणत्रयात्मकश्लेष्म-वातपित्तात्मकेन ह।
अहं वेदत्रयी देवाः ऋग्यजुःसामलक्षणा॥

हे देवगण! नित्यनैमित्तिकरूपसे मैं ही ऋषिदेवतापितृरूपी त्रिअधिष्ठात्री देवता हूँ। हे देवतागण! धर्म्मके त्रिविध अङ्गोंके द्वारा मैं ही मनुष्योंको अभ्युदय और निःश्रेयसपद प्रदान करती हूँ। हे देवगण! भावत्रय मैं ही हूँ जिनके द्वारा मैं ज्ञानचक्षु प्रदान करके त्रिनेत्रका अधिकार देकर जीवको शिवकी पदवी निःसन्देह प्रदान करती हूँ। त्रिविध दानमें मेरी ही शक्ति व्याप्त है। हे देवगण! कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध तपके द्वारा तपस्विगण मेरी ही दैवीशक्तिको प्राप्त करते हैं। त्रिविध यज्ञ मैं ही हूँ। मैं ही त्रिगुणरूपसे ब्रह्माण्डका सृष्टिस्थितिलय विधान करती हूँ। मैं ही त्रिगुणात्मक वात, पित्त, कफरूपी त्रिविधशक्तिसे पिण्डकी सुरक्षा करती हूँ। हे देवतागण! ऋग्, यजुः और सामरूप वेदत्रय मैं ही हूँ।

प्रोक्ता या त्रिविधा भाषा निगमागमशास्त्रयोः।
लौकिकी परकीया च समाधिनामिका तथा।
तद्द्वारेणाहमेवाशु सम्प्रकाश्य जगद्गुरोः।
रूपमस्यां जगत्यां तु धर्म्मज्ञानं प्रकाशये॥
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणाः।
तिस्रो रात्र्योऽहमेवास्मि जीवमोहविधायिकाः॥
सन्ध्यास्तिस्रोऽहमेवास्मि तमःसत्त्वप्रभेदतः।
एताः सकामनिष्काम-भेदाभ्यां द्विविधाः स्मृताः।
अहं दिवात्रयश्चास्मि ह्यात्मज्ञानप्रकाशकम्।
आध्यात्मिकेऽहमेवालं नूनमुक्तदिवात्रये।
हृदये ज्ञानिभक्तानां चित्कलापूर्णरूपतः।
प्रकाशेऽनुक्षणं देवाः! नात्र कश्चन संशयः।
लौहत्रयस्वरूपेण स्वभक्तेभ्यो निरन्तरम्।
ददामि देहनैरुज्यमहमेव न संशयः।

वेद और शास्त्रोंकी लौकिकी, परकीया और समाधि नामक त्रविध-

भाषा जो कही गई है उसके द्वारा मैं ही जगद्गुरुका रूप शीघ्र प्रकट करके इस जगत्में धर्मज्ञानको प्रकाश करती हूँ। कालरात्रि, मोहरात्रि और महारात्रि-रूपी दारुण त्रिरात्रि मैं ही हूँ जो जीवविमोहकारिणी हैं। त्रिसंध्या मैं ही हूँ, सत्त्व और तमके भेदसे, निष्काम और सकामके भेदसे, वे संध्या द्विविध होती हैं। हे देवतागण! आत्मज्ञानप्रकाशक दिवात्रय भी मैं ही हूँ। उक्त तीन आध्यात्मिक दिनोंमें मैं ही अपनी चित्कलाके पूर्णस्वरूपमें भलीभाँति ज्ञानी भक्तोंके हृदयमें अनुक्षण अवश्य प्रकाशित रहती हूँ, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। लौहत्रयके रूपमें मैं ही निःसन्देह अपने भक्तोंको शरीरका नैरोग्य निरन्तर प्रदान करती हूँ।

व्याधित्रयं महाघोरमहमेवास्मि निर्जराः! ।
चिकित्सा त्रिविधा चाहमेव तस्यापनोदिका ॥
ऊर्द्ध्वाधोमध्यलोकाख्य-लोकश्रेणीत्रयं सुराः! ।
व्याप्नुवन्त्यहमेवैताञ्जीववर्गान् पुनः पुनः ॥
आवागमनचक्रेषु सम्परिभ्रामयामि च ।
अहं त्रिगुणभेदेन जीवकर्म्मानुसारतः ॥
मूढानां मानवानाञ्च युष्माकञ्चैव योनिषु ।
त्रिविधानधिकारान् हि तेभ्यः सम्प्रददे ध्रुवम् ॥
अहमेवोच्चजीवेषु पूर्णशक्तियुतेषु हि ।
आसुरं राक्षसञ्चैव दैवं भावञ्च बिभ्रती ॥
तेभ्यो हि पूर्णजीवेभ्यो ददामि त्रिविधं फलम् ।
जैवैशसहजाख्यैर्वै विश्वं व्याप्तास्मि कर्म्मभिः ।
कारणस्थूलसूक्ष्माख्यैः शरीरैस्त्रिविधैरहम् ।
जीवानां ननु जीवत्वविधानं विदधे सुराः! ॥

हे देवगण! तीन प्रकारकी महाघोर व्याधि मैं हूँ और व्याधि दूर करनेवाली तीन प्रकारकी चिकित्सा मैं ही हूँ। हे देवगण! ऊर्द्ध्व मध्य और अधोलोकरूपी त्रिविध लोकश्रेणीमें मैं ही व्याप्त रहकर इन जीवोंको बारंबार आवागमनचक्रोंमें परिभ्रमित करती हूँ। त्रिगुण भेदसे मैं ही मूढयोनि, मनुष्य-

योनियों और देवयोनियोंमें जीवोंके कर्म्मोंके अनुसार उनको विविध अधिकार अवश्य ही प्रदान करती हूँ। पूर्णशक्तियुक्त उन्नत जीवोंमें मैं ही दैव, आसुर और राक्षसभावको धारण करती हुई उन पूर्ण जीवोंको त्रिविधफल प्रदान करती हूँ। जैव ऐश और सहज कर्म्मरूपसे मैं ही जगत्‌में व्याप्त हूँ। स्थूल, सूक्ष्म कारणनामक त्रिविध शरीररूपसे हे देवगण! मैं ही जीवोंका जीवत्व-विधान करती हूँ।

सर्व्वास्त्रिगुणसम्बन्धादुत्पन्नाश्चित्तवृत्तयः।
अहमेवास्मि भो देवाः! पदार्थेष्वखिलेषु च॥
त्रिगुणानां विकाशा ये तेषु यद्यच्च दर्शनम्।
त्रिभावैर्जायते तेषां तानि सर्व्वाण्यहं सुराः!॥
ममैव दयया देवाः! मद्भक्तास्ते निरन्तरम्।
ब्रह्मेश्वरविराड्रूप-भावेषु त्रिविधेषु वै॥
सर्वथा दर्शनं कृत्वा कृतकृत्या भवन्ति मे।
जीवशान्तिप्रदश्चास्मि प्रसादत्रयमुत्तमम्॥
कृष्णशुक्ले तथा देवाः! सहजेति गतित्रयम्।
अहमेवाऽस्मि शुभदं सत्यमेतन्न संशयः॥
त्रिविधाश्च सदाचारा अहमेव न संशयः।
एतत्सर्व्वं ममैवास्ति त्रिभावात्मकवैभवम्।
परं यथार्थतस्त्वेकाऽद्वितीयाहं न संशयः।
अन्ये भेदाश्च भो देवाः! श्रूयन्तां सप्तधा मम॥

हे देवगण! अन्तःकरणकी सब त्रिगुणसम्बन्धीय वृत्तियाँ मैं ही हूँ और सब पदार्थोंमें त्रिगुणका जो जो विकाश और उनमें त्रिभावसे त्रिगुणका जो जो दर्शन होता है वह सब मैं ही हूँ और हे देवगण! मेरी ही कृपासे मेरे भक्त, ब्रह्म ईश और विराट्रूपी त्रिविध भावोंमें मेरा दर्शन करके सर्वथा कृत-कृत्य होते हैं और जीवोंको शान्तिदेनेवाले तीनों प्रकारके उत्तम प्रसाद मैं हूँ। हे देवतागण! कृष्ण, शुक्ल और सहज, मङ्गलकर ये तीन गतियाँ मैं ही हूँ, यह सत्य है इसमें सन्देह नहीं। त्रिविध सदाचार मैं ही हूँ सन्देह नहीं। ये सब मेरे

ही त्रिभावात्मक वैभव हैं। परन्तु वास्तवमें मैं निःसन्देह एक और अद्वितीय हूँ। हे देवतागण ! मेरे सात प्रकारके भेद और सुनिये ।

स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चेषु व्याप्तास्मि सप्तरूपतः ।
अज्ञानज्ञानयोरस्मि भूमयः सप्त सप्त च ॥
ऊर्द्ध्वलोकाश्च ये सप्त ह्यधोलोकाश्च सप्त ये ।
अहमेवास्मि ते सर्व्वे सप्त प्राणास्तथैव च ॥
सप्त व्याहृतयः सप्त समिधः सप्त दीप्तयः ।
अहमेवास्मि भो देवाः ! सप्त होमा न संशयः ॥
वारा वै सप्त भूत्वाऽथ कालं हि विभजाम्यहम् ।
सप्तभूम्यनुसारेण ज्ञानस्य त्रिदिवौकसः ! ॥
सप्त ज्ञानाधिकाराश्चोपासनायास्तथैव ते ।
सप्त कर्म्माधिकाराश्च सर्व्वे तेऽस्म्यहमेव भोः ॥
सप्तचक्रविभेदेषु प्राणावर्त्तात्मकेष्वहम् ।
पीठानां स्थापनं कार्य्यमाविर्भूय करोमि च ॥
कृष्णरक्तादिका वर्णा भूत्वा च सप्तसङ्ख्यकाः ।
अहमेव जगत्सर्व्वं नितरां सम्प्रकाशये ॥

मैं सप्तरूपसे स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चमें परिव्याप्त हूँ। सप्त ज्ञानभूमि मैं हूँ और सप्त अज्ञानभूमि भी मैं हूँ। जो सप्त ऊर्द्ध्वलोक और सप्त अधोलोक हैं वे सब मैं ही हूँ और उसी प्रकार हे देवगण ! सप्त प्राण, सप्त दीप्ति, सप्त समिधा, सप्त होम और सप्तव्याहृति, निश्चय मैं ही हूँ और सप्त दिन होकर मैं ही कालको विभक्त करती हूँ। हे देवगण ! ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसार सप्त ज्ञानाधिकार, उपासनाके सप्त अधिकार और कर्म्मके सप्त अधिकार ये सब मैं ही हूँ। प्राणावर्त्तरूपी सप्त प्रकारके चक्रोंमें मैं आविर्भूत होकर पीठ स्थापन करती हूँ। कृष्ण रक्त आदि सप्त रंग होकर मैं ही सम्पूर्ण जगत्को निरन्तर प्रकाशित करती हूँ।

सप्तच्छायास्वरूपेण पुनश्चाहमिदं जगत् ।
गभीरध्वान्तपुञ्जेन सर्व्वमाच्छादयामि च ॥

लौकिकं भावराज्यञ्च सप्तगौणरसैरहम् ।
व्यनज्मि, साधकान् भूयः सुदिव्येऽलौकिके रसे ॥
सप्तमुख्यरसैरेवोन्मज्जये च निमज्जये ।
जीवानां स्थूलदेहेषु व्याप्तास्मि सप्तधातुभिः ॥
जीवाधारक्षितावस्यां व्याप्तास्मि च तथैव तैः ।
मद्वाचकस्य भो देवाः ! प्रणवस्य निरन्तरम् ॥
सप्ताङ्गानि स्वराः सप्त सम्भूयोत्पादयन्ति च ।
सृष्टिं शब्दमयीं सर्व्वां वैदिकीं लौकिकीं तथा ॥
तीर्थानां सप्त भेदा वै पीठानाञ्च दिवौकसः ! ।
अनार्य्यमानवानाञ्च सप्त भेदा यथोदिताः ॥
सप्ताधिकारा ये देवाः ! आर्य्यजातेः प्रकीर्त्तिताः ।
सप्त स्थूलप्रपञ्चस्य शक्तयश्चाहमेव ताः ॥

पुनः मैं सप्त छायारूपसे इस सम्पूर्ण जगत्को निबिड़ तमसमूहसे आच्छन्न कर देती हूँ । सप्त गौणरसरूपसे मैं लौकिक भावराज्यको प्रकट करती हूँ और पुनः सप्त मुख्य रसोंके द्वारा ही मैं अलौकिक सुदिव्य रसोंमें साधकोंको उन्मज्जन निमज्जन कराती हूँ । सप्तधातुद्वारा मैं जीवोंके स्थूल-देहोंमें व्याप्त हूँ और उसी प्रकार सप्तधातुद्वारा मैं जीवाधार इस पृथिवीमें परिव्याप्त हूँ । हे देवगण ! मेरे वाचक प्रणवके सप्त अङ्ग सप्त स्वर होकर सकल वैदिक और लौकिक शब्दमयी सृष्टिको निरन्तर उत्पन्न करते हैं । हे देवतागण ! तीर्थोंके सप्त भेद, पीठोंके सप्त भेद, अनार्य्य मनुष्योंके सप्तभेद, आर्य्यजातिके सप्त अधिकार और स्थूलप्रपञ्च की सप्तशक्तियाँ, ये सब मैं ही हूँ ।

सप्तसागररूपेण सदा पर्य्यावृतास्ति हि ।
निवासभूमिर्जीवानां मयैव सुरसत्तमाः ! ॥
उपासकगणान् सप्त-मातृकारूपमाश्रिता ।
अहन्नूपासनामार्गे विधायाग्रेसरान् हि तान् ॥
उपासनानदीष्णातान् स्वसमीपं नयाम्नि च ।
भूमीर्दार्शनिकीः सप्त निर्माय ताभिरेव च ॥

आरोप्य ज्ञानसोपानं साधकांस्तत्त्ववेदिनः ।
न यस्मात् पुनरावृत्तिस्तत्कैवल्यपदं नये ॥
सङ्क्षेपतोऽधुना देवाः ! वर्णिता मद्विभूतयः ।
त्रिविधाः सप्तधा चैव मया युष्माकमन्तिके ॥
सर्व्वस्थानेष्वहं नूनं राज्ययोः स्थूलसूक्ष्मयोः ।
सप्तभेदैस्त्रिभेदैश्च प्रकटत्वं गतास्म्यहो ॥
भेदत्रयानुसाराच्च सप्तभेदानुसारतः ।
देशे काले च सर्वत्र द्रष्टुमीष्टे हि यश्च माम् ॥
ज्ञानी भक्तः स एवाशु माम्प्राप्नोति न संशयः ।

हे देवतागण ! सर्वदा सप्तसागररूपसे मैंने ही जीवोंकी निवासभूमिको आवृत कर रक्खा है। सप्त मातृकारूपको आश्रय करके मैं ही उपासकगणको उपासनामार्गमें अग्रसर करके उपासनामें प्रवीण उन उन उपासकोंको अपने निकटस्थ कर देती हूँ और सप्त दार्शनिक भूमिको बनाकर उन्हींसे मैं तत्त्वज्ञानी साधकोंको ज्ञानसोपानमें आरूढ़ करा कर जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती उस कैवल्यपदमें पहुँचा देती हूँ। हे देवतागण ! आपके समीप मैंने संक्षेपसे अपनी त्रिविध और सप्तविध विभूतियोंका अभी वर्णन किया है। अहो ! मैं ही स्थूल और सूक्ष्मराज्यके सब स्थानोंमें त्रिभेद और सप्तभेदसे प्रकट हूँ। जो मुझको सब देश और सब कालमें त्रिभेद और सप्तभेदके अनुसार देखनेमें समर्थ होता है वही ज्ञानी भक्त निःसन्देह शीघ्र मुझको प्राप्त कर लेता है।

ऊपरकथित विज्ञानका सारांश यह है कि सत्, चित् और आनन्दरूपी त्रिभावात्मक कारणब्रह्मके स्वस्वरूपमें पहुँचनेके लिये कार्य्यब्रह्मकी सप्तज्ञानभूमिकी सोपानशैली साक्षात् कारण है।

सप्तज्ञानभूमि और सप्तअज्ञानभूमिके विषयमें तथा सप्तज्ञानभूमिके नाम और लक्षणादिके विषयमें श्रीधीशगीतामें ऐसा वर्णन है:—

श्रीगणपतिदेवने महर्षियोंसे कहा है कि—

मुमुक्षून् स्वस्वरूपं मे नूनं नेतुं निरापदम् ।
श्रुतिभिर्वर्णिताः पूर्वं सप्तैव ज्ञानभूमयः ॥

विश्वबन्धनकर्त्रीषु सप्तस्वज्ञानभूमिषु ।
अज्ञानान्धाः सदा जीवा आसज्जन्ते विमोहिताः ।
श्रौतानां कर्मकाण्डानां साहाय्यात्साधकाः खलु ।
पूर्वं शरीरसंशुद्धिं मनः शुद्धिं ततः परम् ॥
कृत्वा पश्चान्ममोपास्त्या चित्तवृत्तीः प्रशम्य च ।
अधिकारं लभन्तेऽन्ते तत्त्वज्ञानस्य दुर्लभम् ॥
ततश्च क्रमशो विप्राः ! सोपानारोहणं यथा ।
ज्ञानभूमीश्च सप्तैवमतिक्रम्य शनैः शनैः ॥
ज्ञानपूर्णान्तरात्मानो मामन्ते प्राप्नुवन्ति ते ।
ज्ञानक्रमविकाशैर्हि पूर्णाः स्वाभाविकैरतः ॥
सप्तैता ज्ञानभूम्यो मे परासिद्धेः कृपावशात् ।
स्वरूपज्ञानसँल्लब्धेर्वहन्ते हेतुतामलम् ॥

हे विप्रो ! मुमुक्षुओंको मेरे स्वस्वरूपमें अनायास अवश्य पहुँचानेके लिये श्रुतियोंने पूर्वकालमें सात ज्ञानभूमियोंका वर्णन किया है। विश्वमें वन्धन प्राप्त करानेवाली सात अज्ञानभूमियोंमें अज्ञानान्ध जीव विमोहित होकर सदा फसे रहते हैं। वैदिक कर्मकाण्डोंकी सहायतासे साधक पहले शरीरकी शुद्धि, पश्चात् मनकी शुद्धि करके अनन्तर मेरी उपासनासे चित्तवृत्तियोंको प्रशान्त करके अन्तमें दुर्लभ तत्त्वज्ञानका अधिकार प्राप्त करते हैं एवं तदनन्तर जिस प्रकार मकानकी छत-पर सोपानारोहणके द्वारा चढ़ा जाता है, उसीप्रकार इन सात ज्ञानभूमियोंको क्रमशः शनैः शनैः अतिक्रमण करके और ज्ञान परिपूर्णाशय होकर, आत्मज्ञानी अन्तमें मुझको प्राप्त होते हैं। इसी कारण स्वभावसिद्ध ज्ञानके क्रम विकाससे पूर्ण ये सातो ज्ञानभूमियां मेरी परासिद्धिकी अत्यन्त कृपासे स्वरूपज्ञान प्राप्तिकी कारण रूपा हैं। उन सात ज्ञानभूमियोंके और सात अज्ञानभूमियोंके नाम और स्वरूप नीचे बताये जाते हैं।

सप्तानां ज्ञानभूमीनां प्रथमा ज्ञानदा भवेत् ।
सन्न्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत् ॥

लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी स्यात्पञ्चमी सत्पदा स्मृता।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा॥
यावज्जीवैरतिक्रान्ता न सप्ताऽज्ञानभूमयः।
तावन्न प्रथमा भूमिर्ज्ञानस्य ज्ञानदाऽऽप्यते॥
उद्भिज्जानां चिदाकाशे प्रथमा ज्ञानभूमिका।
स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीया प्रकीर्तिता।
तृतीयाऽण्डजजातेश्चाज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता॥
जरायुजपशूनाञ्च चिदाकाशे चतुर्थ्यसौ।
पञ्चकोषप्रपूर्णत्वाधिकारिष्वेव वै नृषु॥
सन्ति शेषा अधिकृतास्तिस्रस्त्वज्ञानभूमयः।
तिस्रस्ता एव कथ्यन्त उत्तमाधममध्यमाः॥

उन सात ज्ञानभूमियोंमें पहली ज्ञानदा, दूसरी संन्यासदा, तीसरी योगदा, चौथी लीलोन्मुक्ति, पांचवीं सत्पदा, छठी आनन्दपदा और सातवीं परात्परा नामकी ज्ञानभूमि है। जब तक प्रथम ज्ञानभूमि 'ज्ञानदा' नहीं प्राप्त होती है तब तक जीवोंको सातों अज्ञानभूमियोंका अतिक्रमण करना ही पड़ता है। उद्भिज्जोंके चिदाकाशमें प्रथम अज्ञान भूमिका स्थान है, स्वेदजोंके चिदाकाशमें द्वितीय अज्ञान भूमिका स्थान है, अण्डओंके चिदाकाशमें तृतीय अज्ञान भूमिका स्थान है और जरायुज पशुओंके चिदाकाशमें चतुर्थ अज्ञान भूमिका स्थान है एवं पांच कोशोंकी पूर्णताके अधिकारी मनुष्य योनिमें, शेष तीनों अज्ञान भूमिओंका अधिकार माना गया है। वे ही तीनों उत्तम मध्यम और अधम अज्ञानभूमियां कहाती हैं, उनको स्पष्ट रूपसे नीचे कहा जाता है—

एता अज्ञानभूमीर्हि तिसृरेव समूलतः।
मूर्त्तिमन्तः स्वयं वेदा निराकर्त्तुं समुद्यताः॥
अधमाऽज्ञानभूमौ हि यावन्मर्त्यः प्रसज्जते।
कृतेऽपराधे दण्डः स्यात्तिर्यग्योनौ तदुद्भवः॥
मध्यमा ज्ञानभूमेश्च मानवैरधिकारिभिः।

पितृलोकास्तथा विप्राः! नरकाश्च पुनः पुनः ॥
प्राप्यन्ते मृत्युलोकश्च सुखदुःखादिपूरितः।
ददात्यूद्र्ध्वञ्च स्वर्लोकमुत्तमाऽज्ञानभूमिका ॥
अधमाज्ञानभूमिश्च प्राप्ता मर्त्या भवन्त्यहो।
देहात्मवादिनोऽनार्या नास्तिकाः शौचवर्जिताः ॥
मध्यमाऽज्ञानभूमेस्तु मानवा अधिकारिणः।
आस्तिकत्वेन भो विप्राः साधुतत्त्वविचिन्तकाः ॥
देहात्मनो हि पार्थक्यं विश्वसन्तोऽपि सर्वथा।
इन्द्रियाणां सुखे मग्ना नितरामैहलौकिके ॥
विस्मरन्ति महामूढ़ाः सुखं ते पारलौकिकम्।
उत्तमाऽज्ञानभूमेर्हि पुण्यवन्तोऽधिकारिणः ॥
आत्माऽतिरिक्तं शक्तेर्मत्वाऽस्तित्वं द्विजर्षभाः।
स्वर्गीयस्य सुखस्यैव जायन्ते तेऽधिकारिणः ॥
अधमाऽज्ञानभूमिर्वै तमोमुख्या विजृम्भते।
रजस्तमःप्रधाना वै मध्यमाऽसौ प्रकीर्तिता ॥
उत्तमाऽज्ञानभूमिश्च रजःसत्त्वप्रधानिका।
स्थले शुद्धस्य सत्त्वस्य विकाशस्य यथाक्रमम् ॥
पुण्यभाजां मनुष्याणां चित्ताकाशे ततःपरम् ॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनामधिकाराः समन्ततः ॥
समुद्यन्ति ध्रुवं देवदुर्लभानां द्विजोत्तमाः।
ज्ञानभूम्यश्च सप्तैता साधकान्तर्हृदि क्रमात् ॥
शुद्धं सत्वगुणं सम्यग् वर्द्धयन्त्यो निरन्तरम्।
नैःश्रेयसं पदं नित्यं गुणातीतं नयन्त्यलम्।

इन्हीं तीनों शेष अज्ञानभूमियोंके समूल निराकरणकेलिये वेद स्वयं मूर्तिधारण करके प्रवृत्त हैं। अधम अज्ञान भूमिके अवलम्बनमें जब तक मनुष्य फंसा

रहता है, अपराध करनेपर उसकी तिर्यक् योनिमें उत्पत्ति दण्डरूपसे हुआ करती है। हे ब्राह्मणो ! मध्यम अज्ञानभूमिके अधिकारी मनुष्योंको पितृलोक, नरकलोक और सुख दुःखोंसे पूर्ण मृत्युलोककी प्राप्ति बार बार होती है और उत्तम अज्ञान-भूमि उद्र्ध्व स्वर्लोकको प्रदान करती है। अहो ! अधम अज्ञानभूमिप्राप्त मनुष्य नास्तिक देहात्मवादी अशुचि और अनार्य होते हैं। हे ब्राह्मणों ! मध्यम अज्ञानभूमिके अधिकारी मनुष्य आस्तिक होनेसे उत्तम तत्त्वोंकी चिन्ता करते हुए देहसे आत्माकी पृथक्तापर सर्वथा विश्वास करते हुए भी ऐहिक इन्द्रिय सुखमें निरन्तर मग्न होकर वे महामूढ़ मेरे पारलौकिक सुखको भूले रहते हैं। हे द्विज श्रेष्ठो ! उत्तम अज्ञानभूमिके पुण्यवान् अधिकारी आत्मासे अतिरिक्त मेरी शक्तिका अस्तित्व मानकर स्वर्गीय सुखके अधिकारी हुआ करते हैं। अधम अज्ञानभूमि तमः प्रधान, मध्यम अज्ञान भूमि तमोरजः प्रधान और उत्तम अज्ञानभूमिरजः सत्त्व प्रधान कही गई है। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! इसके अनन्तर शुद्ध सत्त्वगुण यथाक्रम विकाशके स्थल स्वरूप पुण्यवान् मनुष्योंके चित्ताकाशमें देवदुर्भल सातों ज्ञानभूमियोंके अधिकारका भलीभांति निश्चय ही उदय होता है और क्रमशः सातों ज्ञानभूमियां साधकके अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वगुणकी वृद्धि निरन्तर भलीभांति करती हुई अन्तमें गुणातीत नित्य कैवल्यपदमें सुख पूर्वक पहुँचा देती हैं। इन सात ज्ञानभूमियोंका अनुभव क्रमशः नीचे बताया जाता है--इन सातों ज्ञानभूमियोंका साक्षात्सम्बन्ध, सातों वैदिक दर्शनोंके साथ यथाक्रम रखा गया है। प्रत्येक वैदिक दर्शनके श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा यथाक्रम जो अनुभव हो जाता है, यथाक्रम जो सिद्धान्तका उदय तत्त्वज्ञानी दार्शनिक पण्डितके हृदयमें होता जाता है और इन ज्ञानभूमियोंमें यथाक्रम आरोहण करते करते जिज्ञासु ज्ञानी व्यक्तिको आत्मतत्त्वका जैसा अनुभव होना संभव है उसका रहस्य श्रीधीशगीतामें ऐसा कहा गया है—

यत्किञ्चिदासीज् ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः ॥
आद्याया भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्त्तितः ॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः ।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धाऽनुभवो हि तृतीयकः ॥

मायाविलसितं चैतद्दृश्यते सर्व्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्त्तितः।
ब्रह्मैवेदं जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माऽहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः।
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते मुनिसत्तमाः!।

मुझे जो कुछ जानना था सो सब कुछ जान लिया है, यह प्रथम ज्ञान-भूमिका अनुभव है, मुझे जो कुछ त्यागना था, सो सब त्याग दिया है, यह दूसरी ज्ञानभूमिका अनुभव है, मुझे जो शक्ति प्राप्त करनी थी, सो कर ली है, यह तीसरी ज्ञानभूमिका अनुभव है, मुझे सब कुछ मायाकी लीला दिखाई देती है, मैं उससे मोहित नहीं होता यह चतुर्थ ज्ञानभूमिका अनुभव है, ब्रह्म ही जगत् है यह षष्ठ ज्ञानभूमिका अनुभव है और मैं ही अद्वितीय निर्विकार विभु सच्चिदा-नन्दमय ब्रह्म हूँ, यह सप्तम ज्ञानभूमिका अनुभव है। इसी भूमिको प्राप्त करके साधक ब्रह्मरूप हो जाता है, हे मुनिश्रेष्ठों! इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

ज्ञान दो प्रकारका कहा गया है, एक तटस्थ ज्ञान और दूसरा स्वरूप ज्ञान। जो ज्ञान ब्रह्मके स्वस्वरूपमें रहता है उसको स्वरूपज्ञान कहते हैं, वह ज्ञान केवल जीवन्मुक्त महात्माके अन्तःकरणमें निर्विकल्प समाधिमें अनुभव करने योग्य है और ज्ञाता-ज्ञानज्ञेयरूपी त्रिपुटीसे युक्त होकर जो ज्ञान स्वरूपज्ञानमें पहुँचानेका कारण बनता है उसीको तटस्थ ज्ञान कहते हैं। स्वस्वरूपसे उपलब्ध अद्वितीय अखण्ड नित्यस्थित मुक्तिपदमें पहुँचानेके लिये तटस्थ ज्ञानके मूलखनिरूप सप्तवैदिक दर्शन माने गये हैं।

उन्हीं सप्त ज्ञानभूमियोंके प्राप्त करनेके उपयोगी सप्तवैदिक दर्शनोंका यथाक्रम सप्तज्ञानभूमियोंके सम्बन्धमें जैसा धीशगीतामें ऋषियोंसे श्री भगवान् गणपतिने आज्ञा की है सो नीचे कहा जाता है।

श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च।
पुरुषार्थास्त्रिधा प्रोक्ता एत एव महर्षयः!॥

मुमुक्षूणां त्रिभिः सम्यक्मम सामीप्यलब्धये ।
पुरुषार्थैरुपेतानामेतैः साधनशैलयः ॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनां सप्त सोपानसन्निभाः ।
प्रासादपृष्ठमारोढुं यथा सोपानपङ्क्तयः ॥
तथा तटस्थज्ञानस्य सप्तैता ज्ञानभूमयः ।
सप्तसोपानतुल्याः स्युः स्वरूपज्ञानलब्धये ॥
आद्यायां ज्ञानदानाम्न्यां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः ।
अन्तर्दृष्टिं लभेरंस्ते तत्त्वजिज्ञासवो द्विजाः ! ।
तदा जिज्ञासवो नूनं परमाणुस्वरूपतः ।
स्थूलान्येव ममाङ्गानि ज्ञात्वा नित्यानि सर्वथा ॥
षोडशधा विभक्तानि दृष्ट्वा तान्येव मे पुनः ।
बादसाहाय्यतो वापि पर्य्यालोचनलोचनैः ।
सृष्टिं निरीक्ष्य तस्याश्च कर्त्तारं केवलं हि माम् ।
शक्नुवन्ति बुधा विप्राः ! अनुमातुं कुलालवत् ॥
अस्यां हि ज्ञानभूमौ मे क्षेत्रे तत्त्वज्ञमानसे ।
आत्मबोधीयबीजस्य प्ररोहो जायते ध्रुवम् ॥
एनां वदन्त्यतो भूमिं ज्ञानदां ज्ञानिनो जनाः ।
ददात्येषा यतो भूमिर्ज्ञानरत्नं मुमुक्षवे ।
आरूढानां ज्ञानभूमावेतस्यां नियमेन च ।
ममोपास्तौ प्रवृत्तानां येन केन प्रकारतः ॥
मुमुक्षूणां ध्रुवं चित्ते ज्ञानवायुप्रकम्पितम् ।
मूलमज्ञानवृक्षस्य सर्वथा शिथिलायते ॥
सन्न्यासदाभिधायां मे ज्ञानभूम्याम्प्रतिष्ठिताः ।
मुमुक्षवः शरीरं मे स्थूलमल्पसमीपतः ।
सम्पश्यन्तो ममाङ्गेषु स्थूलेष्वेव महर्षयः ! ।

कुर्वन्तः सूक्ष्मशक्तीनामनुभूतिं निरन्तरम् ॥
धर्म्माऽधर्म्मौ च निर्णीय ह्यधर्म्मं त्यक्तुमीशते ।
ज्ञानभूमिर्द्वितीयाऽत एषा सन्न्यासदोच्यते ॥
योगदायां तृतीयायां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः ।
चित्तवृत्तिनिरोधस्य कुर्वन्त्योऽभ्यासमुत्तमम् ॥
मच्छक्तिं संयमेनैतां माम्पुनर्ब्राह्मणोत्तमाः ! ।
अभ्यासेनैकतत्त्वस्य पृथक्त्वेन निरीक्षितुम् ॥
यस्मिन् काले प्रवर्त्तन्ते सूक्ष्मदृष्टिस्वरूपकम् ।
साधकेषु तदोदेति प्रत्यक्षं नन्वलौकिकम् ॥
ज्ञानभूमिमिमां विज्ञा योगदाश्च वदन्त्यतः ।
चित्तवृत्तिनिरोधं यद्योगमेषा ददात्यलम् ॥
लीलोन्मुक्तिं चतुर्थीं मे ज्ञानभूमिं प्रपद्य च ।
अघट्यघटनायां हि पटीयस्या मुमुक्षवः ॥
त्रैगुण्यलीलामय्या मे तत्त्वम्वै प्रकृतेर्विदुः ।
तदा लीलामयी स्वस्यां लीलायां प्रकृतिः पुनः ॥
नासज्जयितुमीष्टे तान् साधकान् विज्ञसत्तमाः ! ।
लीलोन्मुक्तिं बुधाः प्रोचुर्ज्ञानभूमिमिमामतः ॥
पञ्चमीं ज्ञानभूमिं मे यदा सम्प्राप्य सत्पदाम् ।
अभेदज्ञानमाप्तुं वै चित्ते स्वस्मिन् मुमुक्षवः ॥
आरभन्ते तदा तेषामनुभूतेर्हि शक्तयः ।
विशेषेण विवर्द्धन्ते नात्र कार्य्या विचारणा ॥
अस्त्येकत्वादभेदो यो मन्मत्प्रकृतिगोचरः ।
यो वाऽभेदोऽस्ति मे विप्राः ! कार्य्यकारणरूपयोः ॥
तं वैज्ञानिकनेत्रेण विस्पष्टं ज्ञातुमीशते ।
ज्ञात्वा सम्यग्रहस्यञ्च विश्वोत्पादककर्म्मणः ॥

जगद्देवास्म्यहं नूनमिति दृष्ट्वा विचारतः।
कार्य्यब्रह्मण एतस्य विबुध्यन्तेऽस्य सत्यताम् ॥
एनां वदन्ति विद्वांसो भूमिं वै सत्पदामतः।
सद्भावस्य यतोऽमुष्या ज्ञानं लोकैरवाप्यते ॥
नन्वानन्दपदां षष्ठीं ज्ञानभूमिं प्रपद्य वै।
एकाधारे तु मय्येव मम भक्ता मुमुक्षवः ॥
कर्म्मराज्यं जड़ं विप्राः! दैवराज्यञ्च चेतनम्।
शक्नुवन्ति यदा द्रष्टुं तदा मे रससागरे।
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तो मामेव जगदाकृतिम्।
समीक्षमाणा अद्वैतमानन्दमुपभुञ्जते ॥
बुधाः सम्प्रोचुरानन्दपदां भूमिमिमामतः।
आनन्दः साधकैर्यस्मादस्यां भूमाववाप्यते ॥
अन्तिमां ज्ञानभूमिं मे सप्तमीञ्च परात्पराम्।
सम्प्राप्य ज्ञानिनो भक्ताः कार्य्यकारणयोर्द्विजाः! ॥
भेददृष्टिलयं कृत्वा स्वरूपे यान्ति मे लयम्।
भेदज्ञानलयेनैव तेषां शुद्धान्तरात्मनि ॥
सर्वेषु प्राणिवृन्देषु किलैकत्वप्रदर्शकम्।
अद्वैतभावजनकाऽविभक्तज्ञानमुत्तमम् ॥
उदेति नात्र सन्देहोऽज्ञानध्वान्तापनोदकम्।
तदा मे ज्ञानिभक्तेषु मयि भेदश्च नश्यति ॥
लीयन्ते मत्स्वरूपे ते स्वरूपज्ञानसंश्रयात्।
अतो वदन्ति विद्वांस इमां भूमिं परात्पराम् ॥
एतासां ज्ञानभूमीनां केचित्तत्त्वबुभुत्सवः।
स्थूलदृष्ट्या विरोधं यच्छङ्कते तन्न साम्प्रतम् ॥

हे महर्षिगण! श्रवण मनन, और निदिध्यासन ये ही त्रिविध पुरुषार्थ कहे

गये हैं। इन त्रिविध पुरुषार्थोंसे युक्त सातों ज्ञानभूमियोंकी साधन शैलियां मुमुक्षुओंके मेरे पास पहुँचनेके लिये सात सोपान रूप हैं। जिस प्रकार किसी मकानकी छत पर चढ़नेके लिये पौढ़ियाँ होती हैं उसी प्रकार स्वरूपज्ञानमें पहुँचनेके लिये तटस्थ ज्ञानकी ये सात ज्ञानभूमियाँ पौढ़ियाँ हैं। हे तत्त्वजिज्ञासु ब्राह्मणों! ज्ञानदानाम्नी प्रथम ज्ञानभूमिमें मुमुक्षुगण अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने लगते हैं। उस समय जिज्ञासु मेरे स्थूल अवयवको ही परमाणुस्वरूपसे निश्चयपूर्वक नित्य मानकर मेरे स्थूल अवयवके विभागोंको षोडश संख्यामें देखकर वादकी सहायतासे विचारकर अथवा पर्यायलोचनारूपी नेत्रोंके द्वारा सृष्टिको देख करके हे विज्ञ ब्राह्मणो! कुलालके समान मुझको केवल सृष्टिके कर्तारूपसे अनुमान करनेमें समर्थ होते हैं, इस मेरी प्रथम ज्ञानभूमिमें तत्त्वज्ञानीके हृदयरूपी क्षेत्रमें आत्मज्ञानरूपी बीजका अङ्कुर अवश्य उत्पन्न हो जाता है इस कारण ज्ञानिगण इस ज्ञानभूमिको 'ज्ञानदा' कहते हैं क्योंकि यह ज्ञानभूमि मुमुक्षुको ज्ञानरत्न देती है। इस ज्ञानभूमिमें पहुँचजानेसे और किसी न किसी प्रकारसे मेरी उपासनामें नियमपूर्वक लगे रहनेसे अवश्य मुमुक्षुओंके चित्तमें ज्ञानवायुसे हिलाई हुई अज्ञानवृक्षकी जड़ सर्वथा शिथिल हो जाती है। हे महर्षि वृन्द! संन्यासदानाम्नी मेरी द्वितीय ज्ञानभूमिमें प्रतिष्ठित मुमुक्षुगण मेरे स्थूलशरीरको कुछ और भी निकटसे देखते हुए मेरे स्थूल अवयवोंमें ही मेरी सूक्ष्मशक्तियोंका निरन्तर अनुभव करते हुए धर्माऽधर्मका निर्णय करके अधर्म त्याग करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, इसी कारण इस भूमिका नाम 'संन्यासदा' कहा जाता है। हे ब्राह्मणश्रेष्ठो! योगदानाम्नी तीसरी ज्ञानभूमिमें मुमुक्षुगण चित्त वृत्ति निरोधका उत्तम अभ्यास करते हुए संयमके द्वारा मेरी शक्तिको और एकतत्त्वके अभ्यासके द्वारा मुझको अलग अलग रूपसे जब देखनेमें प्रवृत्त होते हैं तब साधकोंमें सूक्ष्मदृष्टिरूपी अलौकिक प्रत्यक्षका उदय होने लगता है इसी कारण विज्ञगण इस ज्ञानभूमिको 'योगदा' कहते हैं क्योंकि यह भूमि चित्तवृत्तिनिरोध रूपी योगको भलीभांति प्रदान करती है। हे श्रेष्ठ विज्ञो! लीलोन्मुक्तिनाम्नी मेरी चौथी ज्ञानभूमिमें पहुँचकर मुमुक्षुगण मेरी लीलामयी अघटनघटना पटीयसी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके तत्त्वको भलीभांति पहचान जाते हैं, उस समय लीलामयी मेरी प्रकृति अपनी लीलामें उनको पुनः नहीं फसाती है, इस कारण पण्डितगण इस ज्ञानभूमिको 'लीलोन्मुक्ति' कहते हैं। जब मुमुक्षुगण सत्पदानाम्नी मेरी पांचवी ज्ञानभूमिको प्राप्त करके अपने अन्तःकरणमें अभेद ज्ञानको प्राप्त करने लग जाते हैं उस समय उनकी अनुभव शक्ति विशेष बढ़ने

लगती है इसमें कुछ विचारनेकी बात नहीं है। हे विप्रो ! मुझमें और मेरी प्रकृतिमें एकत्व होनेसे जो अभेद है और मेरे कारणस्वरूप तथा कार्यस्वरूपमें जो अभेद है उसको वैज्ञानिक दृष्टिद्वारा स्पष्ट समझनेमें समर्थ होते हैं और जगदुत्पत्ति कारक कर्मका रहस्य भलीभांति समझकर जगत् ही मैं ही हूँ; अर्थात् जगत् ही ब्रह्म है, इस प्रकारसे मुझको निःसन्देह देखकर दृश्यमान कार्यब्रह्मकी सत्यता जान लेते हैं, इस कारण विद्वान् लोग इस ज्ञानभूमिको 'सत्पदा' कहते हैं क्योंकि इस ज्ञानभूमिके द्वारा सद्भावका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। हे विप्रो। आनन्द-पदानाम्नी षष्ठ ज्ञानभूमिमें पहुँचकर मेरे भक्त मुमुक्षुगण मुझमें ही जड़मय कर्म-राज्य और चेतनमय दैवराज्यको एकाधारमें देखनेमें जब समर्थ होते हैं तब मेरे रससागरमें उन्मज्जन निमज्जन करते हुए मुझको ही (ब्रह्मको ही) जगद्रूपमें देखकर मेरे अद्वैत आनन्दका उपभोग करते हैं; इस कारण इस ज्ञानभूमिको विद्वान् लोग 'आनन्दपदा' कहते हैं क्योंकि साधकगण इस भूमिमें आनन्दको प्राप्त करते हैं। हे ब्राह्मणो ! परात्परानाम्नी सप्तमी और अन्तिम मेरी ज्ञानभूमिमें पहुँचकर मेरे ज्ञानी भक्तगण कार्यकारणकी भेददृष्टिको लय करके मेरे स्वरूपमें लय हो जाते हैं और उस समय भेदज्ञानके लयके साथ ही साथ उनके विशुद्ध अन्तः-करणमें सर्वभूतोंमें ऐक्य उत्पन्न करनेवाले अद्वैतभावके उत्पादक एवं अज्ञानान्ध-कारके नाशक अविभक्तज्ञानका उदय होता है इसमें सन्देह नहीं; उस समय मेरे ज्ञानी भक्तोंमें और मुझमें भेदभाव नष्ट हो जाता है और वे स्वरूपज्ञानके अवलम्बनसे मेरे ही स्वरूपमें लीन हो जाते हैं, इसलिये बुधगण इस ज्ञानभूमिको 'परात्परा' कहते हैं। कोई कोई तत्त्व जिज्ञासुगण स्थूलदृष्टिसे इन ज्ञानभूमियोंमें विरोध भावकी शङ्का करते हैं सो ठीक नहीं है। श्रीशम्भुगीतामें पितरोंसे श्रीभगवान् सदाशिवने आज्ञा की है कि :—

पुरुषार्थाधिकाराणां भेदैर्हि ज्ञानभूमिषु ।
विरोध इव भासेत भूमिभेदैश्च केवलम् ॥
मत्तः पराङ्मुखा एव तत्त्वज्ञानाध्वकण्टके ।
पतन्त्येवंविधे गर्त्ते विरोधभ्रमपङ्किले ॥
यथा पर्वतवास्तव्या मानवाः शिक्षयन्त्यहो ।
स्वानुरूपां गतिं विज्ञाः ! समभूमिनिवासिनः ।

एकस्या ज्ञानभूमेश्च तथा दर्शनशासनम् ।
स्वीयां गतिं प्रशंसन्तो दूषयन्तश्च तद्गतिम् ॥
विज्ञानरीतिमन्यस्याः क्वचिद्विप्रतिपादयेत् ।
नास्ति तत्खण्डनं कल्याः ! मतस्यान्यस्य निश्चितम् ॥
अपि तु स्वमतस्यास्ति पोषकं सर्वथा यतः ।
तत्खण्डनमतो भक्ता ज्ञानिनो मण्डनं विदुः ॥
यदा सुकवयो नैशमाकाशं वर्णयन्त्यहो ।
दिवाकाशस्तदा नूनं स्वत एवावधीर्य्यते ॥
दिवाकाशप्रशंसायां कृतायां कविभिः खलु ।
व्योम्नो नैशस्य जायेत स्वत एव पराभवः ॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनां तथा दर्शनसप्तके ।
निन्दकानि च वाक्यानि स्तवकानि क्वचित् क्वचित् ॥
लभ्यन्ते यैर्विमुह्यन्ति मानसान्यल्पमेधसाम् ।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ॥
केवलं पितरो ज्ञानभूमिपार्थक्यतो ध्रुवम् ।
स्वरूपे चिन्मये तैर्नु निरीक्ष्येऽहं पृथक् पृथक् ॥
पार्थक्याज्ज्ञानभूमीनां तत्पार्थक्यं न तत्त्वतः ।
यथा सोपानतो मर्त्य एकस्मादपरं क्रमात् ॥
प्रासादस्य समारोहन् पृष्ठमारोहति ध्रुवम् ।
शास्त्रासक्तास्तथा भक्ता लभन्ते सन्निधिं मम ॥
शास्त्रान्तरमतानाञ्च भेदोऽप्येवं विबुध्यताम् ।
क्रियतां नात्र सन्देहो विस्मयो न विधीयताम् ॥
भावैराध्यात्मिकैः पूर्णः शास्त्रपुञ्जो यतोऽजनि ।
ऋतम्भराख्यबुद्धेश्चाधिकारिभेदलक्ष्यतः ॥
अतो यथार्थतो नास्ति मिथोऽमुष्य विरोधिता ।

मत्वाऽध्यनादिकां ब्रह्माश्रयीभूताश्च भूतिदाः ! ॥
मायां वैदान्तिकाः सान्तां मन्यन्ते जगतो ह्यतः ।
असत्यत्वं प्रमातुं वै क्षमन्तेऽस्य न संशयः ॥
भक्तिशास्त्रे पुनर्दैवीमीमांसानामके हिते ।
मायां तां ब्रह्मणः शक्तिं मत्वा भक्तैः प्रकल्प्यते ॥
अभिन्नत्वं तयोः कल्याः ! उभयोर्ब्रह्ममाययोः ।
शक्तिशक्तिमतोर्यस्मात् भेदाभावः प्रसिध्यति ॥
लोके शक्तेर्यथा नास्ति भेदः शक्तिमता सह ।
ब्रह्मशक्तेस्तथा नास्ति भेदो वै ब्रह्मणा सह ॥
यथा शक्तिमतः शक्तिस्तत्रैवाऽव्यक्ततां गता ।
कदाचिद्व्यक्तिमापन्ना तत्पृथक्त्वेन भासते ॥
तथैवोपासनाशास्त्रविधानेन स्वधाभुजः !
सृष्टेर्दशायां द्वैतत्वं मुक्तावद्वैतता मता ॥
एतद्विज्ञानतो नूनमद्वैतद्वैतयोर्द्वयोः ।
कश्चिद्विरोधो नैवास्त्युपासना सिद्ध्यति त्वलम् ॥
तत्त्वजिज्ञासवः कल्याः ! एवमेव समन्वयः ।
साङ्ख्यादिदर्शनैः सार्द्धं वेदान्तस्य भवेद्ध्रुवम् ॥
अतोऽयुक्ताऽस्ति शास्त्रेषु विरोधस्यैव कल्पना ।
तस्माद्भवद्भिः शास्त्रेषु विरोधो नैव दृश्यताम् ॥

केवल भूमिभेद, अधिकारभेद और पुरुषार्थभेद होनेके कारण ही इन ज्ञानभूमियोंमें विरोधाभास प्रतीत होता है। मुझसे विमुखलोग ही तत्त्वज्ञानके पथके कण्टकरूप विरोधभ्रमरूपी पङ्कसे युक्त ऐसे गर्त्त (गड्ढे) में पतित हुआ करते हैं। अहो ! पर्वतवासी मनुष्य जिसप्रकार अपनी गमनशैलीकी प्रशंसा और समतलवासी मनुष्योंकी गतिकी निन्दा करते हुए उनको अपने अनुरूप चलनेकी शैलीको अवश्य सिखाया करते हैं; उसीप्रकार एकज्ञानभूमिका दर्शनशास्त्र दूसरी ज्ञानभूमिके दर्शनशास्त्रकी विज्ञानशैलीका कहीं खण्डन करता है—

हे पितृगण ! वह दूसरे मतका खण्ड नहीं है यह निश्चय है, प्रत्युत सर्वथा स्वमतका पोषक है; इसलिये ज्ञानी भक्तगण उस खण्डनको मण्डन समझते हैं। हे श्रेष्ठपितरो ! अहो सुकवि जब रात्रिके आकाशका वर्णन करता है तब स्वतः ही दिनके आकाशकी निन्दा अवश्य हो जाती है और कवियोंके द्वारा दिवाकाशकी प्रशंसा होनेपर रात्रिके आकाशकी निन्दा स्वतः ही हो जाती है; उसी प्रकार इन सप्तज्ञानभूमियोंके सात दर्शनोंमें कहीं कहीं निन्दा और स्तुतिके वाक्य प्राप्त होते हैं, जिनसे अल्पबुद्धियोंका मन क्षुब्ध होता है, आपलोग इसमें विस्मय न करें। हे पितृगण ! केवल ज्ञानभूमियोंकी पृथक्तासे ही मैं चिन्मयस्वरूपमें उनको पृथक् पृथक् दिखाई पड़ता हूँ। वह पृथक्ता ज्ञानभूमियोंके कारण है तत्त्वतः नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य एक सोपानकेद्वारा दूसरे सोपानपर क्रमशः आरोहण करता हुआ छतपर चढ़ ही जाता है, उसी प्रकार शास्त्रनिरत मेरे भक्तगण मुझ तक पहुँच ही जाते हैं। शास्त्रान्तरोंके मतका भेद भी ऐसा ही जानो, इसमें सन्देह न करो और विस्मय भी न करो। अध्यात्मभावोंसे पूर्ण शास्त्रसमूहके ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न होनेके कारण और अधिकारिभेदके लक्ष्यसे कहे जानेके कारण परस्पर इनका यथार्थ विरोध नहीं है अर्थात् सब एक ही है। हे पितृगण ! वेदान्तशास्त्रने मायाको ब्रह्मकी आश्रयभूता और अनादि मानकर भी सान्त माना है इसी कारण यह शास्त्र जगत्को निःसन्देह मिथ्यारूप प्रमाणित कर सका है। एवं हे पितृगण ! दैवी-मीमांसा नामक उपासनाकाण्ड सम्बन्धी हितकर भक्तिशास्त्रमें मायाको ब्रह्मशक्ति मानकर ब्रह्म और मायामें अभेद बताया है; क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्में अभेद प्रसिद्ध है। जैसे मेरे साथ मेरी शक्तिका कोई भेद नहीं है उसी प्रकार निश्चय ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमें भेद नहीं है अर्थात् दोनों अभिन्न हैं। जैसे मेरी शक्ति मुझमें कभी अव्यक्त रहती है और कभी मुझसे व्यक्त (प्रकट) होकर अलग प्रतीत होती है उसी प्रकार उपासनाशास्त्रके अनुसार सृष्टिदशामें द्वैतवाद और मुक्तिदशामें अद्वैतवाद दोनों ही सिद्ध होते हैं। इस विज्ञानके अनुसार द्वैत और अद्वैतवादका कहीं किसी प्रकार कोई विरोध नहीं है। हे तत्त्वजिज्ञासु पितृगण ! इसी प्रकार सांख्य आदि दर्शनशास्त्रोंके साथ वेदान्तका समन्वय भलीभांति होता है। इसलिये शास्त्रोंमें विरोधकी कल्पना उचित नहीं है। अतः आपलोग शास्त्रोंमें विरोध दृष्टि न रखें।

ऊपर वर्णित सप्तज्ञानभूमियोंके साथ यथाक्रम न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, योगदर्शन, सांख्यदर्शन, कर्ममीमांसादर्शन दैवीमीमांसादर्शन और ब्रह्ममीमांसादर्शन अर्थात् वेदान्तदर्शनका सम्बन्ध है। इन सप्त वैदिकदर्शनोंका संक्षेप विवरण उपाङ्ग

अर्थात् दर्शनके अध्यायमें आ चुका है। दर्शनशास्त्रज्ञ बुद्धिमान् व्यक्ति, पूज्यपाद महर्षियोंकी असाधारण गवेषणापर ध्यान देनेसे और ऊपर लिखित ज्ञान भूमियोंके साथ सप्तवैदिक दर्शनोंकी विचार प्रणाली, और लक्ष्यके मिलानेसे इस सिद्धान्तका रहस्य अति सुगमतासे हृदयङ्गम कर सकेंगे।

यह निश्चित ही है कि जो दर्शन लौकिक विचारसे आविष्कृत किये जाते हैं वे उस प्रकारके निश्चित सिद्धान्तको नहीं प्राप्त हो सकते कि जैसे वैदिक दर्शन प्राप्त हुआ करते हैं। पूज्यपाद महर्षियोंका यह सिद्धान्त है कि यथार्थ आध्यात्मिक क्रमको अवलम्बन करके जो विचारशैली अग्रसर होगी वह इन सातों वैदिक दर्शनोंमेंसे किसी न किसीके अन्तर्गत अवश्य ही होगी इसी कारण सनातनधर्मावलम्बियोंमें जितने दार्शनिक सिद्धान्त प्रकट हुए हैं या होंगे, वे सब इन सप्तदर्शन सिद्धान्तोंसे स्वतन्त्र नहीं हो सकते। वेद मर्यादासे युक्त जो दार्शनिकशैली प्रकट होगी वह न इन सात ज्ञानभूमियोंसे अतीत हो सकती है और न सात वैदिक-दर्शनके अधिकारके बाहर पहुँच सकती है।

सनातनधर्मोक्त दार्शनिक शैली और अन्य देशकी दार्शनिकशैलीमें आकाश पाताल कासा अन्तर है। सनातनधर्मका दर्शनविज्ञान, तप, उपासना और समाधिबुद्धिसे युक्त होकर प्रकट होता है और अन्य देशके दर्शनसिद्धान्त केवल मनुष्यकी चिन्ताशीलतासे ही सम्बन्ध रखते हैं। असाधारण तप, असाधारण इष्ट-बल अथवा योगबलसे उत्पन्न ऋतम्भरा बुद्धिके बिना कोई व्यक्ति यदि दार्शनिक नवीन चिन्ता करेगा तो उसपर सनातनधर्मावलम्बी कदापि ध्यान नहीं देंगे परन्तु अन्य देशकी दार्शनिक चिन्ताके लिये इस प्रकारकी अर्गलाकी आवश्यकता नहीं है।

ऊपर कथित तीन अज्ञान भूमियां जिनका नाम अधम, मध्यम, और उत्तम अज्ञानभूमि रखा गया है, ये तीनों तथा सात ज्ञानभूमि, इस प्रकारसे दश-भूमियोंसे अतीत संसारभरका कोई भी दर्शनसिद्धान्त नहीं हो सकता। किसी व्यक्तिमें यदि थोड़ी भी दार्शनिक बुद्धि हो तो जब वह इन तीन अज्ञानभूमि और सात ज्ञानभूमियोंके साथ पृथिवीभरके किसी दर्शनशास्त्रको मिलायेगा तब यही पायेगा कि इन दस भूमियोंके अन्तर्गत ही वे शास्त्रीय चिन्तायें विचरण कर रही हैं। देहात्मवादके चार्वाक आदि जितने प्राचीन दर्शन हैं अथवा नास्तिकवादके जितने आधुनिक दर्शन हैं वे सब अधम अज्ञान-भूमिके अन्तर्गत होंगे। देहातिरिक्त आत्मवादके जितने दर्शन प्राचीन या आधुनिक होंगे अर्थात् जो दर्शन चाहे प्राचीन हों अथवा आजकलके यूरोप अमेरिका

आदि देशोंके हों देहसे अतिरिक्त आत्माको मानते हों परन्तु परलोकवाद जन्मान्तरवाद ईश्वरतत्त्व कर्म्मतत्त्व आदिको न समझ सके हों वे सब दर्शनशास्त्र मध्य अज्ञानभूमिके समझे जायँगे और जो दर्शनशास्त्र चाहे प्राचीन हों अथवा वर्त्तमान समयके हों देहसे अतिरिक्त आत्माको भी मानते हों और आत्मासे अतिरिक्त एक अनिर्वचनीय शक्तिको भी मानते हों परन्तु जीवका यथार्थ स्वरूप, ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप बन्धनका यथार्थ स्वरूप और मुक्तिका यथार्थ स्वरूप तथा शक्तिरूपिणी माया और शक्तिमान् परमात्माका यथार्थ ज्ञान उनमें नहीं पाया जाता हो ऐसे सब दर्शनसिद्धान्त उत्तम अज्ञानभूमिके समझे जायँगे। जो दर्शनसिद्धान्त कर्म्मकी असाधारण महिमाको भी समझ गये हों जो दर्शनसिद्धान्त जीवके स्वरूपको कुछ समझ कर जन्मान्तरवादको भी कुछ समझने लगे हों परन्तु मायातत्त्व और ब्रह्मतत्त्वसे अनभिज्ञ हों वे भी इसी अज्ञानभूमिके अन्तर्गत समझे जायंगे। इस विचारसे पृथिवी भरके कोई भी नास्तिक या आस्तिक दर्शन ऊपरलिखित इन भूमियोंके अधिकारसे बाहर नहीं जा सकते हैं और क्रमशः जो सिद्धान्त ज्ञानभूमियोंके उपयोगी होते जायंगे वे सप्तज्ञानभूमियोंके अधिकारके माने जा सकेंगे। इस सिद्धान्तको भलीभांति समझानेकेलिए श्रीधीशगीतामें जो महाकाशगोलकका अपूर्व वर्णन है सो नीचे दिया जाता है।

हे विज्ञानविदो विप्राः! नन्वज्ञानस्य सप्तभिः।
प्रपूर्ण सप्तभिः सम्यक् तथा ज्ञानस्य भूमिभिः॥

नूनमास्ते महाकाश-गोलकं परमाद्भुतम्।
तस्य निम्नस्तराः सप्त सप्तच्छायाप्रपूरिताः॥

उच्चैः सप्तस्तराः सप्तज्योतिर्भिश्चैव पूरिताः।
अधः छायास्तराः सन्ति चत्वारो हि समष्टितः॥

चतुर्धाभूतसङ्घानां चिदाकाशेन पूरिताः।
स्तरा अज्ञानभूमीनां तत उद्र्ध्वं गतास्त्रयः॥

ज्ञानभूमिस्तराः सप्त क्रमाद्दशविधानमी।
धृत्वाऽधिकारान् सम्पूर्णान् पिण्डान् देवांश्च मानवान्॥

व्याप्नुवन्ति न सन्देहस्तस्माद्विज्ञानवित्तमाः ! ।
एतद्दशविधेष्वेवाधिकारेषु द्विजोत्तमाः ! ॥
निम्नान्निम्नस्तरा एवमुच्चैरुच्चतमास्तथा ।
दार्शनिकाऽधिकारा हि सन्ति सम्मिलिता ध्रुवम् ॥
अघटनघटनार्यां सा प्रकृतिर्मे पटीयसी ।
मत्तो व्यक्ता महाकाशगोलकेऽत्र प्रकाशते ॥
ऊर्द्ध्वगाः सप्तभूमीर्वै सा विद्यारूपतोऽश्नुते ।
अविद्यारूपतो विप्राः ! सप्तभूमीश्च निम्नगाः ॥
सप्तच्छायाभिरेताभिर्ज्योतिर्भिः सप्तभिस्तथा ।
परिपूर्णं महाकाशगोलकं मे जडात्मिका ॥
बिभर्ति प्रकृतिर्नित्यं नूनमाधाररूपतः ।
अहं तस्योपरिष्ठाच्च सन्तिष्ठे शुद्धचिन्मयः ॥
ज्ञानिनः स्याद्धि यस्यादोऽध्यात्मगोलकदर्शनम् ।
मद्दर्शनं ध्रुवं कर्त्तुं शक्नुयात्सर्वथैव सः ॥
वैदिकैर्दर्शनैरुक्तं ज्ञानमेवास्ति लोचनम् ।
एतदर्थं न सन्देहः सत्यं सत्यं ब्रवीमि वः ॥

हे विज्ञानविद्ब्राह्मणो ! सप्त अज्ञानभूमि और सप्त ज्ञानभूमिसे सम्यक् परिपूर्ण परम अद्भुत महाकाश गोलक है। उस गोलकके नीचेके सात स्तर सप्त छायासे पूर्ण हैं और ऊपरके सात स्तर सप्तज्योतिसे पूर्ण हैं। अधोभागके चार छायास्तर चतुर्विध भूतसङ्घके समष्टिचिदाकाशसे पूर्ण हैं। उसके ऊपरके तीन अज्ञानभूमि और यथाक्रम सात ज्ञानभूमिके स्तर दशविध अधिकारको धारण करके समस्त मानव और दैवपिण्डमें निस्सन्देह व्याप्त हैं, इस कारण हे विज्ञानवित्तमो ! इन दश अधिकारोंमें ही निम्नसे निम्न और उच्चसे उच्च दार्शनिक अधिकार सम्मिलित हैं, यह निश्चय जानो। हे ब्राह्मणो ! मेरी अघटनघटनापटीयसी प्रकृति मुझसे व्यक्ता होकर इस महाकाशगोल-

कक्ष*में प्रकाशित है। वह विद्यारूपसे ऊपरको सप्त भूमिकाओंमें और अविद्यारूपसे नीचेकी सप्तभूमिकाओंमें परिव्याप्त है। उस सप्तछाया और सप्त ज्योतिसे पूर्ण महाकाशगोलकको आधाररूपसे मेरी जड़ा प्रकृति धारण कर रही है और मैं शुद्धचिन्मय होकर उसके ऊपर स्थित हूँ। इस अध्यात्मगोलकका दर्शन जिस ज्ञानवान्को होता है वह निश्चय ही मेरा दर्शन प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। वैदिक दर्शनोक्त ज्ञान ही इसकेलिये नेत्र स्वरूप हैं इसमें सन्देह नहीं मैं तुम लोगोंसे सत्य-सत्य कहता हूँ।

इस महाकाश गोलकमें कही हुई सप्त अज्ञानभूमि और सप्त ज्ञानभूमिके समझनेसे ही दर्शन समीक्षा हो सकती है।

षष्ठसमुल्लासका द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।
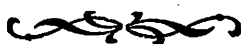
* इस दार्शनिक महाकाशगोलकका एक अपूर्व आयलपेंटिंग चित्र श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधानकार्यालय काशीमें उपदेशक-महाविद्यालयके छात्रोंके शिक्षार्थ मौजूद है। उसकी तीन रंगकी तसवीर भी तैयार करके प्रकाशित करनेका विचार है।

धर्म्मसम्प्रदायसमीक्षा ।

श्रीभगवान्‌के समान धर्म भी सर्वलोकहितकर और सर्वव्यापक है। श्रीभगवान्‌के सदृश धर्म्मकल्पद्रुम भी सर्व्वशक्तिसे पूर्ण और सब अधिकारोंसे पूर्ण है। धर्म्मकल्पद्रुमका वर्णन आर्य्यशास्त्रोंमें इस प्रकारसे पाया जाता है। जगज्जननी ब्रह्ममयी महादेवी देवताओंसे कहती हैं कि:—

अहमेवास्मि भो देवाः! धर्म्मकल्पद्रुमस्य च ।
बीजं मूलं तथाऽऽधारो नात्र कश्चन संशयः ॥
स्कन्धस्तस्य द्रुमस्यास्ते धर्म्मो वै विश्वधारकः ।
मुख्यं शाखात्रयश्चास्य यज्ञो दानं तपस्तथा ॥
ब्रह्मार्थाऽभयदानानि देवाः! त्रैगुण्ययोगतः ।
दानस्य प्रतिशाखाः स्युर्नवधा नात्र संशयः ॥
तपोऽपि त्रिविधं ज्ञेयं कायवाणीमनोभवम् ।
त्रैगुण्ययोगेनास्यापि प्रतिशाखा नवासते ॥
प्रतिशाखा अनेकाः स्युर्यज्ञशाखासमुद्भवाः ।
काम्याध्यात्माधिदैवाधिभूतनैमित्तनित्यकाः ॥
कर्म्मयज्ञप्रशाखाया भेदास्त्रैगुण्ययोगतः ।
त एवाष्टादशास्या हि प्रतिशाखा मनोहराः ॥
पितृदेवर्षिवृन्दानामवतारगणस्य च ।
पञ्चानां सगुणब्रह्म-रूपाणां निर्गुणस्य च ॥
ब्रह्मणश्चासुरौघाणामुपास्तेः पञ्च भक्तितः ।
मन्त्रो हठो लयो राज एते योगेन च ध्रुवम् ॥

अस्या भेदाश्च चत्वारो भेदा एवं नवासते।
एते भेदा नवैवाहो देवाः! त्रैगुण्ययोगतः॥
उपास्तेः प्रतिशाखाः स्युः सङ्ख्यया सप्तविंशतिः।
श्रवणं मननश्चैव निदिध्यासनमेव च॥
त्रयोऽमी ज्ञानयज्ञस्य भेदास्त्रैगुण्ययोगतः।
नवधा सम्विभक्ता हि प्रतिशाखा नवासते॥
द्विसप्तत्या प्रशाखाभिः शाखाभिश्चैवमेव भोः!।
निजानां ज्ञानिभक्तानां धर्म्मकल्पद्रुमात्मना॥
विराजे स्वान्तदेशेऽहं निर्ज्जराः! नात्र संशयः।
धर्म्मकल्पद्रुमस्यास्य पत्रपुष्पात्मकान्यहो॥
उपाङ्गानि न सङ्ख्यातुमर्हाणि कैरपि क्वचित्।
विचित्राणि मनोज्ञानि सन्ति तानि ध्रुवं सुराः!।
पक्षिणौ द्वौ सदा तत्र जगतां मोहकारिणौ।
मनोज्ञे वृक्षराजे स्तो वसन्तौ शाश्वतीः समाः॥
स्वादतेऽभ्युदयस्यैको ह्यपक्वे द्वे फले तयोः।
अपरश्चतुरः पक्षी सुपक्वं त्वमृतं फलम्॥
सुस्वाद्वास्वाद्य गीर्वाणाः! नूनं निःश्रेयसं पदम्।
ब्रह्मानन्दसमुल्लास-सार्थकत्वं प्रकाशयेत्।

हे अमरगण! मैं ही धर्म्मकल्पद्रुमका बीज भी हूँ, मूल भी हूँ और आधार भी हूँ इसमें कुछ सन्देह नहीं है। उस वृक्षका स्कन्ध विश्वधारक धर्म ही है। उसकी प्रधान तीन शाखाएँ हैं, यथा यज्ञ, तप और दान। अर्थदान ब्रह्मदान और अभयदानके त्रिगुणात्मक होनेसे दानकी नौ प्रतिशाखाएँ हैं, हे देवगण! इसमें सन्देह नहीं है। शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तपके त्रिगुणात्मक होनेसे तपोधर्म्मकी नौ प्रतिशाखाएँ हैं। यज्ञशाखासे उत्पन्न प्रतिशाखाएँ अनेक हैं। नित्य नैमित्तिक काम्य और अध्यात्म अधिदैव अधि-भूत, ये कर्म्मयज्ञरूपी प्रशाखाओंके भेद हैं; इनके त्रिगुणात्मक होनेसे कर्म्म-

यज्ञकी मनोहर अठारह प्रतिशाखाएँ हैं। उपासनायज्ञके आसुरी उपासना, ऋषि देवता और पितरोंकी उपासना, अवतारोंकी उपासना, पंच सगुणब्रह्मरूपोंकी उपासना और निर्गुणब्रह्मोपासना, ये पांच भक्तिसम्बन्धी भेद हैं और योगके अनुसार उपासनाके मन्त्र, हठ, लय राज ये चार भेद हैं, इस प्रकारसे इन्हीं नौ भेदोंके त्रिगुणात्मक होनेसे हे देवगण! उपासनाकी सताईस प्रतिशाखाएँ हैं। ज्ञानयज्ञके श्रवण मनन निदिध्यासन ये तीन भेद त्रिगुणसम्बन्धसे नवधा विभक्त होकर नौ प्रतिशाखाएँ होती हैं। हे देवतागण! इस प्रकारसे मैं ही बहत्तर प्रतिशाखा और शाखाओंमें धर्म्मकल्पद्रुमरूपसे अपने ज्ञानी भक्तके हृद्देशमें निःसन्देह विराजमान हूँ। उस धर्म्मकल्पद्रुमके पत्र पुष्परूपी उपाङ्गोंकी तो संख्या ही किसीसे कभी नहीं हो सकती, वे अतिमनोहर और विचित्र हैं। उस रम्य वृक्षराजपर जगन्मुग्धकारी दो पक्षी सदा अनन्तकालसे निवास करते हैं। उनमें से एक पक्षी अभ्युदयके दो कच्चे फलोंका स्वाद ग्रहण करता है और दूसरा चतुर पक्षी निःश्रेयसपदरूपी सुपक्व और सुस्वादु अमृत फलका आस्वादन करके हे देवगण! ब्रह्मानन्द–समुल्लासकी चरितार्थताको निश्चय ही प्रकाशित करता है❀।

धर्म्मकल्पद्रुमके स्वरूपके समझनेके लिये इतना अवश्य आवश्यक होगा कि इसका जो विश्वधारक स्कन्ध है और जो स्कन्ध सगुण ब्रह्मरूपा महादेवीके बलसे खड़ा है वह सर्व्वव्यापक धर्म्म ही विश्व ब्रह्माण्डका धारण करनेवाला है। वही धर्म्म ब्रह्माण्डोंसे लेकर परमाणुओं तकमें आकर्षण और विकर्षण शक्तिका समन्वय स्थापन करता है। और उस धर्म्मकल्पद्रुमकी ७२ बहत्तर शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ पृथ्वीके सब श्रेणीके मनुष्योंमें यथायोग्य और यथाधिकार रूपसे विस्तृत होकर उनकी ऐहलौकिक उन्नति पारलौकिक उन्नति और मुक्तिविधान कर रही हैं। सुपक्क फल मुक्ति है और दोनों कच्चे फल दोनों प्रकारकी उन्नति है क्योंकि धर्म्मके लक्षणमें यही कहा गया है कि —

❀ इस औपनिषदिक धर्म्मकल्पद्रुमका एक आयलपैंटिंग चित्र श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान-कार्यालयमें उपदेशक-महाविद्यालयके छात्रवृन्दकी शिक्षाके कार्य्यमें सहायता देनेके लिये प्रस्तुत है। उनका ट्राइकलर चित्र सर्व्वसाधारण जिज्ञासुओंकेलिये प्रकाशित करनेका विचार है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्म्मः।

जिससे दोनों प्रकारका अभ्युदय और मुक्ति हो उसे धर्म्म कहते हैं। और दोनों पक्षी प्रवृत्ति अधिकार और निवृत्ति अधिकारको सिद्ध करते हैं, क्योंकि सब धर्म्म ही या तो प्रवृत्तिपर होते हैं या निवृत्तिपर होते हैं। यही सनातनधर्म्मका अद्वितीय विराट् स्वरूप है। यही सनातनधर्म्मका सर्वव्यापक भाव और सर्वजीवहितकारी महत्त्व है। इसी विराट्स्वरूपमेंसे अनेक सम्प्रदाय अनेक पन्थ अनेक धर्म्ममत समय समय पर प्रकट हुए हैं, प्रकट हो रहे हैं और भविष्यत्में प्रकट होते रहेंगे।

पृथिवीमें जितने वैदिक या अवैदिक धर्म्मसम्प्रदाय प्रकट हुए हैं अथवा भविष्यत्में होंगे वे सब धर्म्मकल्पद्रुमके इन बहत्तर शाखा अथवा अगणित पत्र पुष्पोंके आश्रयसे ही हुए हैं और होंगे। सूक्ष्म विचारद्वारा पर्य्यालोचन करनेसे यह देखा जायगा कि इसी धर्म्मकल्पद्रुमके किसी शाखा प्रशाखा अथवा कई एक शाखा प्रतिशाखाको अवलम्बन करके प्रत्येक धर्म्म सम्प्रदाय अपना अस्तित्व प्रकट करते हैं। सम्प्रदाय एक रूढि शब्द है। प्रायः शास्त्रोंमें ऐसा देखनेमें आता है कि वेदोक्त विज्ञानको जो माने और वर्णाश्रमधर्म्म-मर्य्यादाका जिसमें पालन हो और परम्पराय सम्बन्धसे जिसके प्रवर्त्तकमें ऋषि अथवा देवताका सम्बन्ध पाया जाय उसको सम्प्रदाय कहते हैं और जिनमें इन सब बातोंका सम्बन्ध न पाया जाय उनको उपसंप्रदाय धर्म्ममत धर्म्मपन्थ और उपधर्म्मादिसे अभिहित कर सकते हैं। ऐसी शैली भी शास्त्रोंमें बहुधा पाई जाती है।

धर्म्मकल्पद्रुमके विराट् स्वरूपके वर्णन करनेके अतिरिक्त सर्व्वव्यापक पूर्णावयव और सर्व्वजीहितकारी धर्म्मको पूज्यपाद महर्षियोंने साधारण धर्म्म, विशेष धर्म्म, असाधारण धर्म्म और आपद्धर्मरूपसे चार भागमें विभक्त किया है। वस्तुतः धर्म्मको साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्मरूपसे दो भागमें ही विभक्त कर सकते हैं; क्योंकि धर्म्मकल्पद्रुमके सब अङ्गोपाङ्ग साधारण धर्म्मके ही समझे जायंगे और प्रकारान्तरसे आपद्धर्म्म और असाधारण धर्म्म ये दोनों विशेषधर्म्मके ही अङ्ग समझे जा सकते हैं जिनके वर्णन शास्त्रोंमें इस प्रकारसे पाये जाते हैं।

साधारणस्य धर्म्मस्य विशेषस्य तथैव च।
कियन्तीर्वर्णयाम्यद्य वृत्तीर्युष्माकमन्तिके॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोध औदार्य्यं समदर्शिता॥
परोपकार-निष्कामभाव-प्रभृतयो ननु।
साधारणस्य धर्म्मस्य विद्यन्ते वृत्तयो ध्रुवम्॥
ब्रह्मचर्य्यञ्च दाम्पत्यं निवासो निर्ज्जने वने।
त्यागश्चाऽध्यापनञ्चैव याजनञ्च प्रतिग्रहः॥
धर्म्मयुद्धं प्रजारक्षा वाणिज्यं सेवनादयः।
विशेषस्यापि धर्म्मस्य सन्तीमाः खलु वृत्तयः॥
साधारणस्य धर्म्मस्यावयवाः कीर्त्तिता यथा।
विशेषस्यापि धर्म्मस्य तथाङ्गानि पृथक् पृथक्॥
उपाङ्गान्यपि धर्म्मस्य सन्त्यनेकानि निश्चितम्।
देशकालादिवैचित्र्यादुपाङ्गं ह्येकमेव तत्॥
अङ्गानां नन्वनेकेषामुपाङ्गं स्यादसंशयम्।
अत्यन्तं वर्त्तते विज्ञाः! धर्मस्य गहना गतिः॥

हे विज्ञ ब्राह्मणो! आपलोगोंके समीप आज साधारण और विशेष-धर्म्मकी कुछ वृत्तियोंका वर्णन करता हूँ। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, उदारता, समदर्शिता, परोपकार और निष्कामभाव आदि साधारणधर्मकी वृत्तियां हैं। ब्रह्मचर्य्य, दाम्पत्य, निर्जन-वास, त्याग, पाठन, याजन, प्रतिग्रह, प्रजापालन, धर्म्मयुद्ध, वाणिज्य और सेवा आदि विशेषधर्म्मकी वृत्तियां हैं। जिस प्रकार साधारण धर्म्मके अङ्ग हैं उसी प्रकार विशेषधर्म्मके भी पृथक् पृथक् अंग हैं। धर्म्मके उपाङ्ग अनेक हैं और देश काल तथा पात्रकी विचित्रतासे एक ही उपाङ्ग कई अङ्गोंका उपाङ्ग हो सकता है। हे विज्ञो! धर्म्मकी गति अतिगहन है।

पूर्व्वकथित धर्म्मकल्पद्रुमके वर्णनमें जिन जिन धर्माङ्गोंका वर्णन आया है उन सबकी पुष्टिकेलिये साधारणरूपसे जो वृत्तियाँ कार्य्यकारी होती हैं उन्हींका वर्णन ऊपर प्रथम श्रेणीमें आया है और द्वितीय श्रेणीकी वृत्तियां विशेष धर्म्मके उदाहरणरूपसे वर्णाश्रमधर्मके सम्बन्धसे कही गई हैं, क्योंकि वर्णाश्रमधर्म्म भी विशेष धर्म्म है।

साधारणधर्म्म ही पूर्ण शक्तिशाली है; क्योंकि वह पूर्णावयव है। विशेष-धर्म्म भी पूर्ण शक्तियुक्त होनेसे साधारण धर्म्मकी कोटिमें पहुँचता है। उसी प्रकार असाधारण धर्म्मादि भी पूर्णशक्तियुक्त होनेसे साधारण धर्म्मकी कोटिमें पहुँचकर मुक्तिप्रद हो जाता है। धर्म्मकी अति अपूर्व महिमा और उसका कुछ दुर्गम रहस्य शास्त्रोंसे दिखाया जाता है। इन निम्नलिखित वचनोंमें साधारण धर्म्मका ज्ञानप्राप्त व्यक्ति किस प्रकार समदर्शी हो सकता है सो भी दिखाया है।

यदा कश्चिद्विशेषस्तु धर्म्मः शक्तिमवाप्नुयात् ।
अधिकां भावसंशुद्ध्या कोट्यां साधारणस्य सः ॥
असाधारणधर्म्मस्याधिकारं लभते भवन् ।
एतावन्नतु दुर्ज्ञेयं रहस्यं धर्म्मगोचरम् ॥
आस्ते पितृव्रजाः ! कैश्चिद्यज्ज्ञातुं नैव शक्यते ।
ऋते पूर्णावतारं हि भक्तान् वा ज्ञानिनो विना ॥
धर्म्माधर्म्मौ सुनिर्णेतुं नैव कश्चिद्यथार्थतः ।
ईष्टे वाऽपि गतिं वेत्तुं धर्मस्यास्य कथञ्चन ॥
याथार्थ्यान्निर्णयं कर्तुं धर्म्माधर्म्मव्यवस्थितेः ।
अतो वेदाः प्रमाणानि तन्मता आगमास्तथा ॥
सर्व्वे विशेषधर्म्माः स्युः प्रायशोऽभ्युदयप्रदाः ।
तथा साधारणो धर्म्मो निःश्रेयसकरोऽखिलः ॥
किन्तु साधारणो धर्मो दुर्ज्ञेयोऽज्ञानिभिः सदा ।
आस्ते विशेषधर्म्मस्तु सर्वथा भीतिवर्ज्जितः ॥
धर्म्मात्मा वै यदा धर्मं विशेषं पालयन्मुहुः ।
अस्य नूनं पराकाष्ठां धर्म्मस्य लभते खलु ॥
साधारणस्य धर्मस्य निखिलव्यापकं तदा ।
स्वरूपं ज्ञातुमीष्टेऽसौ सर्वजीवहितप्रदम् ॥
तदन्तिके तदा सर्व्वे धर्म्ममार्गा भजन्त्यहो ।

वात्सल्यं हि यथा पुत्राः पौत्राश्च सन्निधौ पितुः ॥
ममैव ज्ञानिनो भक्ता धर्म्मं साधारणं किल।
अधिकर्तुं क्षमन्ते वै पूर्णतो नात्र संशयः ॥
मद्भक्ता ज्ञानिनो विज्ञाः! धर्म्मज्ञानाब्धिपारगाः।
सार्द्धं केनापि धर्म्मेण विरोधं नैव कुर्वते ॥
साधारणे विशेषे च धर्म्मेऽसाधारणे तथा।
सम्प्रदायेषु सर्व्वेषु भक्ता ज्ञानिन एव मे ॥
ममैवेच्छास्वरूपिण्या धर्म्मशक्तेः स्वधाभुजः!।
सर्वव्यापकमद्वैतं रूपं नन्वीक्षितुं क्षमाः ॥

श्रीभगवान् शम्भुने कहा है कि—हे पितृगण! जब कोई विशेषधर्म्म भावशुद्धिके द्वारा अधिक शक्ति लाभ करे तब वह साधारण धर्म्मकी कोटिमें पहुँचकर असाधारणधर्म्मके अधिकारको प्राप्त करता है। धर्म्मका रहस्य इतना दुर्ज्ञेय है कि मेरे ज्ञानी भक्त और पूर्णावतारोंके अतिरिक्त कोई भी यथार्थरूपसे धर्म्माधर्म्मका निर्णय नहीं कर सकता अथवा न किसी प्रकार इस धर्म्मकी गतिको ही जाननेके लिये समर्थ हो सकता है, इसी कारण धर्म्माधर्म्मकी व्यवस्थाका यथार्थ निर्णय करनेके लिये वेद और वेदसम्मत शास्त्र ही प्रमाण हैं। प्रायः सब ही विशेष-धर्म्म अभ्युदयप्रद और साधारण धर्म्म निःश्रेयसप्रद हैं; परन्तु अज्ञानीके निकट साधारण-धर्म्म सदा दुर्ज्ञेय हैं और विशेषधर्म्म सर्वथा भयरहित है। विशेषधर्म्मका पालन करते करते जब धर्म्मात्मा विशेषधर्म्मकी पराकाष्ठाको प्राप्त कर लेता है तभी वह साधारण धर्म्मके सर्व्वव्यापक और सर्व्वजीवहितकारी स्वरूपको समझनेमें समर्थ होता है। तब उसके निकट संसारके सब धर्म्म मार्ग ऐसे वात्सल्यको प्राप्त होते हैं जैसे विज्ञ पिताके सम्मुख उसके पुत्र पौत्रादि वात्सल्यको प्राप्त हुआ करते हैं। मेरे ज्ञानी भक्तगण ही साधारण धर्म्मके पूर्ण अधिकारी हो सकते हैं इसमें सन्देह नहीं। हे विज्ञो! धर्म्मज्ञानरूपी समुद्रके पारगामी मेरे ज्ञानी भक्तगण किसी धर्म्मके साथ विरोध नहीं करते हैं। मेरे ज्ञानी भक्तगण साधारण धर्म्म, विशेष धर्म्म, असाधारण धर्म्म तथा सब धर्म्मसम्प्रदायोंमें मेरी इच्छारूपिणी धर्म्मशक्तिके सर्वव्यापक एक अद्वैतरूपको देखनेमें समर्थ होते हैं।

इसी प्रकार सब धर्म्मसम्प्रदायोंपर समदर्शी होनेके लिये, सब धर्म्म सम्प्रदायोंमें धर्म्मके एक अद्वितीय सर्व्वव्यापक विराट् स्वरूपको लक्ष्यमें रखनेके लिये जो सात्त्विक ज्ञानका स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतामें बताया गया है सो यह है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

जो ज्ञान सब भूतोंमें ऐक्यस्थापनकी समदर्शिता और एक अद्वितीय भाव प्रदर्शक दृष्टि उत्पन्न करे और जो सब विभक्त भूतोंमें एक अविभक्तरूपको दर्शानेवाला हो उसी ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। इसी ज्ञानको धारण करके पूज्यपाद महर्षिगण धर्मके सार्व्वभौमरूपको समझे थे और साम्प्रदायिक विरोधसे वे सर्व्वथा शून्य रहते थे। वे जानते थे कि ज्ञान आत्माका धर्म्म है, ज्ञान नित्य है और ज्ञान सर्व्वभूतोंमें व्यापक है, केवल देशकालके भेद और पात्रके अधिकारके अनुसार उस ज्ञानके विकासका तारतम्य हुआ करता है। यही कारण है कि पूज्यपाद महर्षिगणके विचारानुसार लौकिक अक्षरमयी पुस्तकोंकी अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा योग्य अन्य चार प्रकारकी पुस्तकें मानी गई हैं। पृथिवीके नानाधर्म्मसम्प्रदायोंमें जिस प्रकार उनका धर्म्म केवल उनके एक ही पुस्तक विशेषमें प्रकाशित समझा जाता है और उनकी वह पुस्तक भी अक्षरमयी ही समझी जाती है, सनातनधर्म्ममें वैसी संकोच दृष्टि नहीं है। सनातनधर्म्मके विज्ञानके प्रकाशके लिये किस प्रकारसे पांचश्रेणीकी पुस्तकें मानी गई हैं सो निम्नलिखित शास्त्रीय वचनसे समझने योग्य है।

पितरो ज्ञानराज्यस्य विस्तीर्णस्य रहस्यकम्।
अपूर्वं भवतो वच्मि श्रूयतां सुसमाहितैः॥
ममैवाध्यात्मिकज्ञानमूलिकाः शास्त्रराशयः।
स्थूलान्नमयकोषेण सम्बन्ध-स्थापनक्षणे॥
स्थूलाक्षरमयै रूपैर्वर्त्तेरन् पुस्तकात्मकैः।
अत्र नानाविधैर्नूनं विश्वस्मिन् सम्प्रकाशिताः॥
स्थूलपुस्तकपुञ्जोऽयं यद्यप्यास्ते विनश्वरः।
स्थूलाक्षरमयानाञ्च पुस्तकानां यथायथम्॥

भवेतामीदृशौ देशकाल-पात्रप्रभेदतः ।
आविर्भावतिरोभावौ यथाकालं न संशयः ॥
सूक्ष्मराज्ये तथाप्येषां नित्यसंस्थितिहेतवे ।
चतुर्विधानि वर्त्तन्ते पुस्तकान्यपराण्यपि ॥
ब्रह्माण्डपिण्डौ नादश्च बिन्दुरक्षरमेव च ।
पञ्चप्रकारकाण्याहुः पुस्तकानि पुराविदः ॥
श्रुतिर्नादे स्मृतिर्बिन्दौ ब्रह्माण्डे तन्त्रमेव च ।
पिण्डे च वैद्यकं शास्त्रमक्षरेऽन्यदुदाहृतम् ॥
नित्यत्वाज्ज्ञानरत्नस्य नित्याः शास्त्रसमुच्चयाः ।
नूनं पञ्चविधेष्वेषु क्वापि तिष्ठन्ति पुस्तके ॥
पञ्चप्रकारकं सर्वं पुस्तकं प्रलयक्षणे ।
वेदेषु प्रविलीयैव भजते मां न संशयः ॥
पञ्चभावप्रपन्नानां पुस्तकानां स्वधाभुजः ! ।
रक्षका ऋषयो नूनं विद्यन्ते च प्रकाशकाः ॥

भगवान् शम्भुने कहा है कि हे पितृगण ! ज्ञानराज्य विस्तारका अपूर्व रहस्य मैं आप लोगोंसे कहता हूँ आपलोग सुसमाहित होकर सुनें। मेरे ही अध्यात्मज्ञानमूलक शास्त्रसमूह स्थूल अन्नमयकोषसे सम्बन्ध रखनेके समय, स्थूल अक्षरमय नानाविध पुस्तकोंके रूपमें इस विश्वमें प्रकाशित होकर अवश्य विद्यमान रहते हैं। यद्यपि यह स्थूल पुस्तकसमूह नाशवान् हैं और इस प्रकारकी स्थूल अक्षरमयी पुस्तकसमूहका देश काल और पात्रके प्रभेदसे प्रयोजनके अनुसार समय समय पर आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है परन्तु सूक्ष्मराज्यमें शास्त्रोंकी नित्य स्थिति रहनेके लिये और भी चार प्रकारकी पुस्तकें हैं। इसी कारण पुस्तकोंके पाँच भेद हैं, यथा—ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, बिन्दु और अक्षरमयी। इन पाँच प्रकारकी पुस्तकोंको पुरातत्त्ववेत्ताओंने कहा है। इन पाँच प्रकारकी पुस्तकोंका एक एक उदाहरण बताया जाता है, यथा—नादमयी पुस्तकका उदाहरण श्रुति है, बिन्दुमयी पुस्तकका उदाहरण स्मृति है, ब्रह्माण्डमयी पुस्तकका उदाहरण तन्त्र है, पिण्डमयी पुस्तकका उदाहरण वैद्यक शास्त्र

है और इनसे अतिरिक्त पृथ्वीके अन्यान्य ग्रन्थ अक्षरमयी पुस्तकके उदाहरण हैं। यद्यपि उदाहरण अनेक हैं तोभी जिज्ञासुओंको समझानेके लिये यहाँ एक-एक उदाहरण बतलाया गया है। ज्ञान नित्य होनेके कारण नित्य शास्त्रसमूह इन पुस्तकोंमेंसे किसी पुस्तकमें अवश्य विद्यमान रहते हैं और प्रलयावस्थामें भी यह पुस्तक समूह वेदमें लय होकर मुझको प्राप्त होते हैं। हे पितृगण! ऋषिगण ही इन पञ्चभावापन्न पुस्तकोंके प्रकाशक और रक्षक हैं।

इस विषयमें वेदोंमें भी पुष्टि करनेवाले मन्त्र मिलते हैं यथा :—

पञ्चनद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सोदेशेऽभवत्सरित्॥

यजुर्वेदसंहिता।

जिस प्रकार समुद्र ही सब प्रकारकी जलराशियोंका उत्पत्तिस्थान है, जिस प्रकार समुद्रसे ही बाष्परूपसे वारिबिन्दु आकाशमें सूर्य्यरश्मिके प्रभावसे खिंचकर पुनः एक ओर तुषार और नदी रूपमें और दूसरी ओर मेघ और वर्षारूपमें परिणत होकर जगत्को परितृप्त करते हैं और जिस प्रकार पृथिवी भरकी सब नद नदियाँ समुद्रमें ही आकर एक रूपको धारण कर लेती हैं; ठीक उसी प्रकार सर्व्वजीवहितकारी सर्व्वव्यापक भगवच्छक्तिरूपी सनातन धर्म्म पृथिवी भरके भूत भविष्यत् और वर्त्तमान कालमें होनेवाले सब धर्म्म-सम्प्रदाय, धर्म्मपन्थ और धर्म्ममतोंका उत्पत्तिस्थान, पोषक और आधार है। ऊपर कथित सनातनधर्म्मरूपी धर्म्मकल्पद्रुमके विराट् स्वरूपके दर्शन करनेसे, उसके साधारण और विशेष अङ्गोंका रहस्य हृदयङ्गम करनेसे, उसके महान् सर्व्वव्यापक सर्व्वजीवहितकारी उदारस्वरूपके समझनेसे, सात्विक ज्ञानकी उपकारिता जान जानेसे और सनातनधर्म्मके प्रकाश करनेके उपयोगी पुस्तकोंकी नित्यता और विस्तारका तात्पर्य्य अनुशीलन करनेसे, सनातन-धर्म्म ही सब धर्म्मसम्प्रदाय, धर्म्मपन्थ और धर्म्ममतोंका पितृस्थानीय हो सकता है यह मानना ही पड़ेगा।

विश्वधारक, विश्वपालक और सर्वजीवहितकारी सनातनधर्म्मके विज्ञानके अनुसार सब प्रकारके धर्म्ममार्गोंको तीन भागमें विभक्त कर सकते हैं, यथा:—प्रथम धर्म्मसम्प्रदाय, द्वितीय धर्म्मपन्थ और तृतीय धर्म्ममत। इन तीनोंकी भेदकल्पनाके विषयमें इस प्रकारसे निर्णय कर सकते हैं। जो धर्म्म

साधनमार्ग अपौरुषेय वेदके महत्त्वको स्वीकार करे, वर्णाश्रमधर्म्मको माने और धर्म्मानुकूल शारीरिक व्यापाररूपी आचारको मानकर अपने साधनके नियमोंको बनावे और साथ ही साथ अपने आम्नायके सिलसिलेको या तो किसी ऋषि अथवा किसी देवतामें मूलाचार्य्यरूपसे पहुँचा देवे उस धर्म्ममार्गको धर्म्म सम्प्रदाय नाम दे सकते हैं। जो धर्म्ममार्ग इन सब विषयोंको पूरा न माननेपर भी इनकी निन्दा न करता हो और इनको अंशतः मानता हो उस धर्म्मसाधनमार्गको धर्म्मपन्थ कहते हैं। और जो धर्म्ममार्ग इन ऊपर लिखित विषयोंको न मानता हो और केवल पूर्व्वकथित धर्म्मकल्पद्रुमकी कुछ शाखाओंके अवलम्बनसे बना हो उस धर्म्ममार्गको धर्म्ममत कहना उचित होगा। धर्म्ममत और धर्म्मपन्थके एक एकमेंसे कई विभाग बन सकते हैं परन्तु, धर्म्मसम्प्रदाय जितने होंगे वे अलग अलग ही कहावेंगे। भेद इतनाही है कि धर्म्मसम्प्रदायकी मर्यादा नियमबद्ध होनेसे उसमें परिवर्त्तन होनेकी सम्भावना नहीं रहती परन्तु धर्म्मपन्थों वा धर्म्ममतोंके सिद्धान्त दार्शनिक भित्तिके द्वारा नियमबद्ध न होनेके कारण उनके प्रत्येकमेंसे कई विभाग बन सकते हैं।

धर्म्मसम्प्रदाय वेदके तीन काण्डोंके सम्बन्धसे दो प्रकारके होते हैं। एक कर्म्म प्रधान और एक उपासनाप्रधान। उनके उदाहरण ये हैं। कर्म्मकाण्डके अनुसार धर्म्मसम्प्रदायके उदाहरणमें सबसे प्रधानवैदिक शाखाओंके विभिन्न सम्प्रदायोंको समझ सकते हैं। ऋग्वेदके सम्बन्धकी कर्मकाण्डसाधनप्रणालीके साथ और यजुः और सामवेदकी कर्म्मकाण्डीय साधनप्रणालीके साथ अनेक भेद पाये जायंगे। इसी प्रकार प्रत्येक भेदके शाखाभेदसे नित्य नैमित्तिक काम्य कर्म्मके क्रियाकलापमें भेद पाया जायगा। उसी प्रकार वैदिक उपासनाकाण्डके अनुसार और उसी उपासनाकी पुष्टिके अभिप्रायसे ज्ञानकाण्डके सिद्धान्तनिर्णयके विषयमें अनेक सम्प्रदायभेद प्राचीन कालसे वर्त्तमानकाल पर्य्यन्त देखनेमें आते हैं। जिनकी उपासनापद्धति भी विभिन्न हो और साथ ही साथ उनके ज्ञानकाण्डसम्बन्धीय दार्शनिक सिद्धान्त भी विभिन्न हों, ऐसे सम्प्रदायोंके उदाहरण सगुण पञ्चोपासनाके वैष्णव शैव शाक्त गाणपत्य और सौर्य्य सबमें ही पाये जाते हैं। इन सम्प्रदायोंकी उपासना पद्धति भी स्वतन्त्र है। साथ ही साथ इनके दार्शनिक सिद्धान्त भी स्वतन्त्र हैं। ये सब सम्प्रदाय अपने धर्म्ममार्गके अनेक आचार्य्य स्वीकार करनेपर भी विशेष विशेष देवता अथवा

ऋषिको ही मूलाचार्य्य करके स्वीकार करते हैं। धर्म्मसम्प्रदाय नाम तभी मिल सकता है जब उसमें वेदकी मर्य्यादा, वर्णाश्रमधर्म्मका महत्त्व, आचार्य्यका क्रम और आचारकी प्रधानता पाई जाती हो। ऐसे सम्प्रदाय प्राचीनकालसे होते आये हैं और आज दिन तक भी वैदिक कर्म्मकाण्ड और वैदिक उपासना-काण्डके अनेक सम्प्रदायोंका प्रचार देखनेमें भी आता है। वस्तुतः भारतवर्षके सब देशोंमें सनातनधर्म्मके सार्व्वभौमस्वरूपका तो आज दिन प्रकाश देखनेमें नहीं आता किन्तु सब जगह इस प्रकारके सम्प्रदायोंके द्वारा सनातनधर्म्मके महत्त्वकी रक्षा होना देख पड़ता है इतना कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि पुराण और तंत्रके आधारपर विभिन्न सम्प्रदाय ही आजदिन सनातनधर्म्मकी महिमा प्रचार करते हुए जहां तहां दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि इन सम्प्रदायोंकी शक्तिकी अधिकतासे सर्व्वजीवहितकारी परमोदार सनातनधर्म्मका विराट्स्वरूप कुछ छिपसा रहा है परन्तु इतना मानना ही पड़ेगा कि इन सम्प्रदायोंकी कृपासे ही सनातनधर्म्मका मार्ग चिरस्थायी बना हुआ है।

वैदिक कर्म्मकाण्डके सम्प्रदाय हैं और हो सकते हैं, उसी प्रकार वैदिक उपासनाकाण्डके सम्प्रदाय हैं और हो सकते हैं; परन्तु वैदिक ज्ञानकाण्डके सम्प्रदाय नहीं हो सकते क्योंकि ज्ञानकाण्डकी ज्ञानभूमियाँ नियमित हैं जिनका विस्तारित वर्णन दर्शनसमीक्षा नामक अध्यायमें आ चुका है। वैदिकदर्शनोक्त सप्तज्ञानभूमिके अनुसार यदि ज्ञानकाण्डके सम्प्रदाय स्वीकार किये जायँ तौभी ज्ञानकाण्डके सम्प्रदाय सात ही होंगे अधिक नहीं होंगे; परन्तु कर्म्मकाण्ड और उपासनाकाण्डके सम्प्रदाय अनेक हो सकते हैं इस कारण ज्ञानकाण्डसम्बन्धीय सम्प्रदायोंकी चर्चा अप्रयोजनीय होनेसे केवल कर्म्मकाण्डसम्बन्धीय सम्प्रदायों और उपासनाकाण्डसम्बन्धीय सम्प्रदायोंका उदाहरण दिया जाता है और उनके स्वरूपकी समीक्षा की जाती है। कर्म्मकाण्डसम्बन्धीय सम्प्रदायको तीन श्रेणीमें विभक्त कर सकते हैं जैसा कि शास्त्रोंमें कहा है—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः॥

श्रीभगवान् कहते हैं कि वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र इस प्रकारसे तीन प्रकारके विहित कर्म्म कहे गये हैं। भेद इतना ही है कि वैदिककर्म्मकाण्डीय सम्प्रदायके प्रत्येकके लिये स्वतन्त्र स्वतन्त्र कल्पसूत्र और पद्धतियां हैं और तान्त्रिक और मिश्र कर्म्मके लिये केवल पद्धतियाँ हैं; परन्तु तान्त्रिक और मिश्र कर्म्मके पोषणके लिये वैदिक कल्पसूत्र न होनेपर भी उनके समर्थनके लिये

स्मार्त्तवचन, पौराणिकवचन अथवा तान्त्रिकवचन अवश्य ही पाये जाते हैं। अस्तु, ये तीनों ही वेदमूलक हैं इसमें सन्देह नहीं। तीनों प्रकारके कर्मोंके उदाहरणके लिये कहा जा सकता है कि शुद्ध वैदिक याग, जैसे, सोमयाग, मिश्रयाग, जैसे, महारुद्रयाग और तान्त्रिक याग, जैसे, शतचण्डीयाग। इसी प्रकार नित्य नैमित्तिक और काम्य इन तीनों कर्मोंके भी तीन तीन भेद हुआ करते हैं; परन्तु इन सबके मूलमें वेदोक्त शाखाओंके सिद्धान्त भित्तिरूप हैं इसमें सन्देह नहीं और उन शाखाओंकी कर्म्मकाण्डसम्बन्धीय व्यवस्था उक्त शाखाओंके अलग अलग कल्पसूत्रद्वारा सुरक्षित होती है। यद्यपि कर्म्मकाण्ड उक्त तीन भागमें विभक्त है और प्रत्येक विभागकी अनेक शाखाएँ हैं तौ भी वे सब एक सूत्रमें बन्धे हुए हैं इसमें सन्देह नहीं। तन्त्र पुराण और स्मृति इन तीनोंका आधार वेद है और सब कर्म्मकाण्डके क्रियासिद्धांशको नियमबद्ध करनेवाले कल्पसूत्र हैं इस कारण ये सब कर्म्मकाण्डीय सम्प्रदाय एकही लक्ष्यसे युक्त हैं इसमें सन्देह नहीं। इस विषयको और भी स्पष्ट करनेके लिये कहा जा रहा है कि यद्यपि ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदकी कर्म्मकाण्डीय शाखाओंके कल्पसूत्रोंमें तथा प्रत्येक वेदकी अलग अलग शाखाओंकी कर्म्मकाण्डीय प्रणालीमें कुछ कुछ मतभेद पाया जाता है और उनके कल्पसूत्रोंकी प्रणालीमें भी भेद देखनेमें आता है परन्तु तत्त्वतः उनके सिद्धान्त एकही लक्ष्यसे युक्त हैं और जब तान्त्रिककर्म्म और मिश्रकर्म्म भी इन्हीं वैदिक सिद्धान्तोंसे युक्त हैं तो यह कहना ही पड़ेगा कि इन सबोंके मौलिक सिद्धान्तोंमें कुछ भी भेद नहीं है। केवल देश कालपात्र और शक्ति, अधिकार आदिके भेदसे ये सब श्रेणीभेद बने हैं। इस समयके उपासक सम्प्रदायोंमें कुछ और ही विचित्रता है। उपासक सम्प्रदायोंके वेद स्मृति पुराण और तन्त्र सबकी सहायता युगपत् है ऐसा मानना पड़ेगा। उदाहरणके रूपसे कहा जाता है कि श्रीवल्लभ, श्रीरामानुज आदि जो वैष्णव उपासक सम्प्रदाय इस समय प्रचलित हैं वैसे पञ्चोपासनाके सम्प्रदाय ऋषिकालसे आजतक अनेक होते आये हैं। इनकी योगमूलक साधनप्रणाली या भक्तिमूलक आचारप्रणाली सब विभिन्न होनेपर भी यह मानना ही पड़ेगा कि वे योगविज्ञानके मूल सिद्धान्तसे मिले हुए हैं और वैधी भक्ति अथवा रागात्मिका भक्तिके रहस्यसे च्युत नहीं हैं। इन उपासक सम्प्रदायोंमें जो ध्यान धारणा आदिकी शिक्षा स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे दी जाती है वे

सब चित्तवृत्तिनिरोध, विषयवैराग्यवर्द्धक और अपने अपने उपास्यदेवके साथ ध्येय भावसे युक्त हैं इसमें सन्देह नहीं। घटनाचक्रसे यद्यपि इन वैष्णव सम्प्रदायोंने अपनी अपनी दर्शनशास्त्रीय मर्य्यादाको अलग अलग बाँधनेका प्रयत्न किया है और विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि दार्शनिक सिद्धान्त बनाकर अपने अपने प्रस्थानत्रयकी मर्य्यादाको दृढ़ करनेका प्रयास पाया है परन्तु दर्शनशास्त्रके ज्ञाता और सप्तज्ञानभूमियोंका विशेष परिचय रखनेवाले पण्डितगण यह समझ ही सकेंगे कि उनका वह प्रयास कितना सफल हुआ है और असाधारण पुरुषार्थ करनेपर भी उनका दार्शनिक सिद्धान्त सप्त ज्ञान-भूमिके दार्शनिक मार्गके अन्तर्गत ही रहा है। चाहे शुद्धाद्वैतभाष्य, विशिष्टाद्वैत भाष्य और द्वैताद्वैत भाष्य आदि वेदान्तभाष्योंमें श्रद्धास्पद भाष्यकारोंने अपनी अपनी असाधारण प्रतिभाका परिचय दिया है परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि उनका विचार अन्तिम तीन ज्ञानभूमियोंमें ही विचरण करता रहा है। वस्तुतः उनके सिद्धान्त उपासनामूलक होनेके कारण उनके विज्ञानमें षष्ठ ज्ञानभूमिके विचारोंका ही प्राधान्य नियमितरूपसे पाया जाता है।

वैदिक उपासकसम्प्रदाय प्राचीनकालमें और भी अनेक प्रकारके थे। उनका पता संहिता, ब्राह्मण और विशेषतः उपनिषदोंसे भलीभांति पाया जाता है; परन्तु काल प्रभावसे शुद्ध वैदिक उपासक सम्प्रदायोंकी शैली अब प्रचलित नहीं है। बीच बीचमें सौर्य्य, गाणपत्य, शाक्त, शैव और वैष्णव उपासक सम्प्र-दायोंका समय समयपर आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। किसी समय इन पाचोंमेंसे किसी श्रेणीके सम्प्रदायोंका प्रचार अधिक रहा और किसी समय किसी श्रेणीके सम्प्रदायोंका प्रचार अधिक होता आया है; परन्तु निम्नलिखित सिद्धान्तवाक्योंसे यह प्रमाणित होगा कि इन पाँचों सम्प्रदायोंका लक्ष्य सिद्धान्त आदि एक ही है।

श्रीसूर्य्यगीतामें श्रीभगवान् सूर्य्यदेवने महर्षियोंसे कहा है कि:—

रहस्यं सगुणोपास्तेर्ज्ञातव्यं श्रूयतां स्फुटम् ।
पञ्चोपास्यतमा देवा सगुणं ब्रह्म साधवः ! ॥
निर्गुणं दुर्गमं यस्मात्सगुणोपासना ततः ।
सगुणब्रह्मणः पञ्च श्रेष्ठान्भावान्समाश्रिता ॥

निर्गुणब्रह्मणः कार्य्यं जगद्दृश्यमयं यतः।
अनन्तं निखिला भावा अनन्ताः कीर्त्तितास्ततः॥
भावातीतस्याऽपि पर-ब्रह्मणः पञ्चभिः परैः।
भावैरुपास्तिर्विहिता सगुणब्रह्म चास्म्यहम्॥
महामाया यदाऽव्यक्ता लीनाऽस्ति ब्रह्मणि स्वयम्।
तदाऽद्वैतपरब्रह्मभावो राजत्यलौकिकः॥
सच्चिदानन्दभावोऽसौ गम्यते यत्तयैकथा॥
तदा स्वरूपावस्थेयमध्यात्मेति निगद्यते॥
प्रादुरास्ते जगन्माता वेदमाता सरस्वती।
यस्या न प्रकृतिः सेयं मूलप्रकृतिसंज्ञिका॥
ब्रह्मलीना महाशक्तिर्ब्रह्मणालिङ्गितेव सा।
यदा विलोक्यतेऽवस्था तदैव सगुणा मता॥
ईश्वरोऽसावसौ चाधिदैवभावोऽवधार्यताम्।
ब्रह्मेशभाव एकोऽपि भिन्नवद् भाति मायया॥
ब्रह्माधिदैवावस्थायामेवोपास्तिर्हि पञ्चधा।
पञ्चदेवात्मिकाः पञ्च सगुणोपासना इमाः॥
चित्प्रधानो महाविष्णुः सूर्य्यस्तेजः प्रधानकः।
शक्तिप्रधाना सा देवी विश्वशक्तिप्रकाशिनी॥
ज्ञानप्रधानो गणपः सत्प्रधानः सदाशिवः।
पञ्चैते विबुधा ईशाः सगुणब्रह्मसंज्ञकाः॥
पञ्चधा सगुणोपास्तावधिकारोऽधिकारिणाम्।
भेदतः पञ्चगीतासु कीर्तिताः पञ्चदेवताः॥
एत एव परा देवाः सगुणा जगदीश्वराः।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां जनका एत एव ते॥
ब्रह्माण्डानन्त्यतो ब्रह्मविष्णुरुद्रा मुनीश्वराः!।

अनन्ता एत एवान्यानन्तत्रिदशहेतवः ॥
अहमेवास्मि चिद्भावः सद्भावोऽपि भवाम्यहम् ।
आनन्दभावरूपेणाऽप्यहमेवास्मि सत्तमाः ! ॥
आनन्दो व्यापकत्वेन द्वयोरेवास्ति चित्सतोः ।
स्पष्टं प्रमाणमेतस्मिन् प्राज्ञास्तत्त्वबुभुत्सवः ! ।
व्यक्तौ विषयसम्बद्ध आनन्दः स्वनुभूयते ।
चितः सतश्चानुभवे न तस्यानुभवो ध्रुवम् ॥
निजचेतनसत्ताया निजास्तित्वस्य च स्वतः ।
स्वस्वचैतन्यसत्ताभ्यां दृश्ये त्वनुभवस्तयोः ॥
निर्गुणं ब्रह्म सगुणं निजानन्दाय जायते ।
प्रकाशते च प्रकृतिपुरुषालिङ्गनादयम् ॥
रसो वै स इति श्रुत्या स आनन्दो रसो मतः ।
स शृङ्गार इति प्राज्ञा जानन्ति परमर्षयः ॥
शुद्धश्च मलिनश्चासौ शृङ्गारो द्विविधो रसः ।
ब्रह्मानन्दमयः शुद्धो विषयानन्दकोऽपरः ॥
महादेवीपुरुषयोर्मिथुनत्वमुदेति चेत् ।
भान्ति पञ्च तदा भावा ब्रह्मानन्दानुकूलतः ॥
चित्तेजःशक्तिविज्ञानसद्रूपाः परमा मताः ।
पञ्च भावास्तत्र चिता चेतनोऽस्मीति निश्चयः ॥
प्रकृतिः प्राकृतं विश्वं देव्याश्लेषणमीश्वरे ।
दृश्यास्तित्वं विराड्रूपे तेजसैव प्रकाशते ॥
शक्त्या क्रियाभिव्यक्तिश्च द्वैतस्यानुभवस्ततः।
ततः सर्गाखिलावस्थापरिणामो विराजते ॥
स्वरूपश्च तटस्थं च ज्ञानं द्विविधमीक्षते ।
सर्वानुभवसिद्धस्य विस्तृतिर्निष्प्रयोजना ॥

अस्तिभावो हि सद्भावो निर्गुणेऽद्वैतरूपतः ।
सोऽस्ति तस्मात् पृथक्त्वेन सद्भावो नैव विद्यते ॥
सगुणे सगुणत्वेन स्वतः सोऽस्ति ततो निजम् ।
जन्मस्थितिलयाध्यक्षं सगुणं ब्रह्म मन्यते ॥

हे साधुगण ! सगुण उपासनाका रहस्य आपको जानना है सो सुनिये। उपास्योंमें श्रेष्ठ पञ्चदेवही सगुण ब्रह्म हैं। निर्गुणकी उपासना दुर्गम होनेके कारण सगुण ब्रह्मके पाँच श्रेष्ठ भावोंका सगुणोपासनामें आश्रय किया गया है। निर्गुण ब्रह्मका कार्यस्वरूप दृश्यमय जगत् अनन्त होनेसे उसके सम्पूर्ण भाव भी अनन्त कहे गये हैं। भावातीत परब्रह्मकी उपासना उत्तम पांच भावोंके द्वारा करनेकी विधि है और सगुण ब्रह्म मैं ही हूँ। महामाया जब स्वयं ब्रह्ममें लीन होकर अव्यय अवस्थामें रहती है, तब परब्रह्मका अलौकिक अद्वैतभाव प्रकाशमान रहता है। जब केवल वह इस सच्चिदानन्द भावमें लीन होती है, तब उस स्वरूपावस्थाको अध्यात्म कहते हैं। जगज्जननी वेदमाता सरस्वती प्रादुर्भूत होती हैं, जिनकी कोई प्रकृति नहीं और जो स्वयं मूलप्रकृतिके नामसे अभिहित होती हैं। जिस अवस्थामें ब्रह्ममें लीन महाशक्ति ब्रह्मसे आलिङ्गित होनेके समान देखी जाती है, उस अवस्थाको सगुण अवस्था कहते हैं। इसीको ईश्वरभाव अथवा अधिदैवभाव जानना चाहिये। ब्रह्मभाव और ईशभाव एक ही होनेपर भी वे मायाके कारण भिन्नवत् प्रतीत होते हैं। ब्रह्मकी अधिदैव अवस्थामें ही पांच प्रकारकी उपासनाकी विधि है। ये पांच सगुणोपासनाएँ पञ्चदेवात्मक हैं। उनमेंसे महाविष्णु चित्प्रधान हैं, तेजःप्रधान सूर्यदेव हैं, शक्तिप्रधाना भगवती हैं जो विश्वमें शक्तियोंका प्रकाश करती हैं, गणेशजी ज्ञानप्रधान हैं और भगवान् सदाशिव सत्प्रधान हैं। येही पांच देव सगुण ब्रह्मसंज्ञक ईश्वर हैं। अधिकारिभेदानुसार पांचों सगुण देवोंकी उपासना करनेका अधिकारियोंको अधिकार है और पांचों देवताओंका वर्णन पांचों गीताओंमें पृथक् पृथक् किया गया है। येही पांच श्रेष्ठ सगुण देव जगदीश्वर हैं और येही ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिके जनक हैं। हे मुनीश्वरो ! ब्रह्माण्ड अनन्त होनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु, महेश अनन्त हैं और ये ही अन्यान्य अनन्तदेवताओंके कारणस्वरूप हैं। मैं ही चिद्भाव हूँ और मैं ही सद्भाव हूँ। हे महर्षियों ! आनन्दभाव भी मैं ही हूँ। चित् और सत् दोनोंमें आनन्द व्यापक रूपसे स्थित है। हे तत्त्वजिज्ञासु

महर्षियो ! इस विज्ञानका स्पष्ट प्रमाण यह है कि प्रत्येक व्यक्तिमें विषयसे सम्बद्ध आनन्दका अनुभव होता है और वह आनन्द केवल सत् और चित्में अलग अलग अनुभूत नहीं होता। अपनी चेतनसत्ता और अपने अस्तित्वका अनुभव अपने अपने चैतन्य और अस्तित्वके द्वारा हृदयमें होता है। यथार्थमें निर्गुण ब्रह्म अपने आनन्दके लिये ही सगुण बन जाते हैं और प्रकृति तथा पुरुषके आलिङ्गनसे वह आनन्द प्रकाशित होता है। 'रसो वै सः' इस श्रुतिसे वही आनन्द 'रस' नामसे प्रसिद्ध है। हे प्राज्ञो ! महान् ऋषिगण उसीको शृङ्गार करके मानते हैं। शृङ्गार रस दो प्रकारका होता है। यथाः—शुद्ध और मलिन। ब्रह्मानन्दमय शुद्ध और विषयानन्दमय मलिन शृङ्गार है। महादेवी और परमपुरुषका जब मिलन होता है, तब ब्रह्मानन्दके अनुसार पाँच भाव प्रकट होते हैं। वे पांच भाव चित्, तेज, शक्ति, विज्ञान और सत्के नामसे परम प्रसिद्ध हैं। उनमेंसे चित्के द्वारा मैं चेतन हूँ, इस प्रकारका निश्चय होता है। प्रकृति और प्राकृतिक विश्व, ईश्वरके साथ भगवतीका आलिङ्गन और विराट्रूपमें दृश्यका अस्तित्व ये तेजसे ही प्रकाशको प्राप्त होते हैं। शक्तिके द्वारा क्रियाभिव्यक्ति, द्वैतका अनुभव और सृष्टिकी अखिलावस्थाका परिणाम ये सब होते हैं। स्वरूपज्ञान और तटस्थज्ञान इस तरहसे दो प्रकारका ज्ञान है। इसका सबको अनुभव है, अतः ज्ञानका विषय विस्तारके साथ समझानेकी आवश्यकता नहीं है। अस्तिभावही सद्भाव है। वह निर्गुणमें भी अद्वैत-रूपसे है। 'वह है' इससे पृथक् सद्भाव और कोई नहीं है। सगुणमें सगुणरूपसे स्वयं वे स्थित हैं अतः वे अपनेको सृष्टि, स्थित तथा लयका अध्यक्ष सगुण ब्रह्म मानते हैं।

षष्ठ समुल्लासका तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

—~~~~~—

धर्मपन्थसमीक्षा।

वर्णाश्रमधर्म्मकी मर्य्यादाको पूरे तौरपर न माननेवाले, ऋषि और देवताओंके साथ अपनी आचार्य्यपरम्पराको न स्वीकार करनेवाले, वेदकी मर्य्यादापर अधिक ध्यान न देकर लौकिक ग्रन्थोंका आश्रय करनेवाले, आचारपर अधिक ध्यान न देनेवाले, धर्मपन्थ कहे जाते हैं। धर्म्मसम्प्रदाय और धर्मपन्थ ये भारतवर्षमें ही हो सकते हैं। सम्प्रदायका रहस्य पूर्व अध्यायमें वर्णन किया गया है; परन्तु धर्ममतोंका (जिनका वर्णन अगले अध्यायमें किया जायगा) सम्बन्ध समस्त पृथिवीसे है। तात्पर्य यह है कि धर्मसम्प्रदाय तो सर्वथा वेदानुकूल होनेके कारण और आचारप्रधान होनेके कारण उनका आर्यावर्त्तमें ही होना सर्वथा सम्भव है और धर्मपन्थोंका भी आंशिक सम्बन्ध वर्णाश्रमधर्म और सदाचार आदिके साथ होनेके कारण, उनका भी भारतवर्षमें ही होना सम्भव है एवं धर्ममतोंका सम्बन्ध वर्णाश्रमधर्म और आचारादिके साथ कुछ भी न रहनसे उनका पृथिवीके सब देशोंमें होना स्वतःसिद्ध है।

सनातनधर्मकी ऐतिहासिक घटनाओंपर ध्यान देनेसे यह मानना पड़ता है कि धर्मसम्प्रदाय अतिप्राचीन कालसे भारतवर्षमें प्रचलित हैं। ऋषिकालमें भी उनका पूर्णरूपसे अस्तित्व था। वेदमें भी उनका बहुत कुछ सम्बन्ध पाया जाता है। पुराण, स्मृति, तंत्रादि शास्त्र तो धर्मसम्प्रदायोंके आधाररूप हैं। इसका मूलकारण मनुष्योंका अधिकार भेद हैं। त्रिगुणवैचित्र्यसे जब मनुष्योंमें अधिकार भेद होना अवश्य सम्भव हैं तो सब समय सर्वजीवहितकारी सनातनधर्मके सदृश धर्मसम्प्रदाय भी अनादिकालसे प्रचलित हैं; परन्तु धर्मपन्थसमूहका प्रचार कलियुगमें ही अधिकरूपसे हुआ है ऐसा मानना पड़ेगा। वेदका कम प्रचार होना, वेदसम्मत शास्त्रोंके समझनेकी शक्ति प्रजाओंमेंसे घट जाना, संस्कृतभाषा जिसमें कि शास्त्रादि लिखे गये हैं उसका प्रचार साधारण प्रजामें अधिक न रहना, ब्राह्मणजातिमेंसे तप, स्वाध्याय और विद्याचर्चाकी न्यूनता होजाना, प्रजापरसे वर्णधर्म और आश्रमधर्मका प्रभाव घट जाना, सनातनधर्मानुकूल राजानुशासनकी व्यवस्था भारतवर्षमेंसे उठ जाना आदि कारणोंसे धर्मपन्थोंका प्राकट्य हुआ है ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसे आप-

त्कालमें कि जिसका वर्णन ऊपर किया गया है सुगमतासाध्य धर्मपन्थोंके द्वारा हिन्दूजातिका बहुत कुछ उपकार थोड़े थोड़े समयके लिये होता आया है और हो रहा है। कैसे कैसे धर्मपन्थ समय समयपर भारतवर्षमें प्रकट हुए हैं उनमेंसे जिनका अस्तित्व अभी तक इस धर्मभूमिमें है, उनकी साधन प्रणाली और आचारादिका दिग्दर्शन करानेके लिए उनमेंसे कुछ पन्थोंका संक्षेप वर्णन नीचे किया जाता है।

इस समय जितने धर्मपन्थ भारतवर्षमें प्रचलित हैं उनमेंसे सबसे अधिक विस्तार रामानन्दी पन्थका है। इस विस्तारमें आचार्य रामानन्दके महत्त्वके साथही साथ भक्ताग्रगण्य गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजकी सहायता सर्वोपरि, है ऐसा स्वीकार करना होगा। यद्यपि गोस्वामीजी महाराज किसी पन्थ विशेषके पक्षपाती नहीं थे परन्तु श्रीभगवान्के लीलाविग्रहरूपी श्रीराम-चरित्रकी महिमा उनके द्वारा अपने लोकप्रिय रामायणमें प्रगट करनेसे और उस ग्रन्थकी सहायता अधिक पहुँचनेसे यह पन्थ इतना विस्तृत देख पड़ता है। रामानन्दी वैष्णवोंका नाम इस देशमें रामानुजसम्प्रदायसे भी अधिक प्रसिद्ध है। ये लोग श्रीराम, सीता, लक्ष्मण तथा हनुमान्की उपासना करते हैं। आचार्य रामान्दजी इस सम्प्रदायके प्रवर्त्तक हैं। कोई कोई कहते हैं कि, रामान्द रामानुजके ही शिष्य थे; परन्तु यह बात ठीक नहीं मालूम होती क्योंकि, रामानुजकी शिष्यपरम्पराका जो वृत्तान्त प्रचलित है उसके अनुसार उनकी परम्परागत शिष्यप्रणालीके भीतर ये चतुर्थ करके निर्दिष्ट हैं। जैसे, रामानुजके शिष्य देवानन्द, देवानन्दके शिष्य हरिनन्द, हरिनन्दके शिष्य राघवानन्द और राघवानन्दके शिष्य रामानन्द।

रामानन्दके कुछ दिन देश-भ्रमण कर अपने मठमें लौट आते ही उनके कुछ गुरुभाई उन्हें कहने लगे-"भोज्य तथा भोजन क्रियाका संगोपन करना रामानुज-सम्प्रदायका अवश्य कर्त्तव्य कर्म्म है, परन्तु देशपर्यटनके समय सम्भवतः तुम इस नियमकी रक्षा नहीं कर सके हो, इसलिये तुम्हारा भोजन हम लोगोंके साथ नहीं हो सकता।" गुरुराघवानन्दने भी उन्हींकी रायसे सहमत होकर उनको पृथक् भोजनकी आज्ञा दी। वे इस प्रकार अपमानित होनेसे क्रोधित हुए और उन लोगोंका संसर्ग छोड़कर उन्होंने अपने ही नामसे एक वैष्णव सम्प्रदाय प्रवर्तित किया।

रामानन्दियोंके इष्टदेव श्रीरामचन्द्र होनेपर भी वे विष्णु भगवान्के

अन्यान्य अवतारोंको भी मानते हैं, परन्तु ये लोग कलिकालमें रामोपासनाको ही श्रेष्ठ करके मानते हैं। इसीलिये इन लोगोंका नाम हुआ है रामात्। ये लोग तुलसी तथा शालग्राम शिलापर भी विशेष भक्तिमान् हैं। इनमें कोई कोई विष्णुकी अन्य मूर्त्तिकी भी पूजा किया करते हैं। कहीं कहीं इस सम्प्रदायके मन्दिर ऐसे हैं जिनमें श्रीराधाकृष्णकी पूजा होती है।

पूजाकी पद्धतिमें दूसरे वैष्णवोंसे इनमें विशेष पार्थक्य नहीं है; परन्तु इस सम्प्रदायके वैरागी साधुलोग श्रीराम या श्रीकृष्णके बारबार नामोच्चारणके सिवाय और किसी प्रकारकी पूजाकी आवश्यकता नहीं मानते।

रामानुज-सम्प्रदायके कठोर नियमोंसे अपने शिष्योंको मुक्त करना ही रामानन्दका प्रधान उद्देश्य था। इसी लिये रामानन्दियोंका धर्मानुष्ठान उतना क्लेशदायक नहीं है। रामानन्दने अपने साधु शिष्योंको अवधूत उपाधि दी थी। खान-पानमें रामानन्दी साधु जातिका कुछ भी विचार नहीं रखते और इस पन्थके अनुसार हरेक वर्णका मनुष्य साधु हो सकता है। 'श्रीराम' इन लोगों का वीजमन्त्र है और 'जयश्रीरामजीकी' "जयराम" या 'सीताराम' पारस्परिक अभिवादनका वाक्य है। तिलक धारणमें ये लोग रामानुजियोंका अनुकरण करते हैं; परन्तु कोई कोई अपनी रुचिके अनुसार उर्द्ध्वपुन्ड्रके भीतरकी रेखाको कुछ छोटा कर लेते हैं और जिस प्रकार रामानुज सम्प्रदाय या पन्थमें तिलक धारणके कई भेद हैं वैसा इस पन्थमें भी तिलकके कुछ भेद माने गये हैं।

रामानन्द स्वामीके अनेक शिष्य थे। उनमें कबीर आदि बारह महात्मा ही प्रधान थे। इनके नाम—आशानन्द, कवीर, रयदास, पीपा, सुरसुरानन्द, सुखानन्द, भावानन्द, धन्ना, सेन, महानन्द, परमानन्द और श्रियानन्द हैं। इनमें कवीर जुलाहा, रयदास चमार, पीपा रजपूत, धन्ना जाट और सेन नाई थे। इससे मालूम होता है कि, रामानन्द सभी जातिके लोगोंको दीक्षा देते थे। भक्तमाल ग्रन्थमें लिखा है कि, रामानन्दियोंके मतमें जातिभेद नहीं है। इस विषयमें ये लोग उपास्य और उपासकका अभेद दिखाते हुए कहते हैं कि, भगवान् ही जब मत्स्य, वराह, कूर्म आदि रूपमें अवतीर्ण हुए थे तब भक्तोंके लिये भी चमार आदि नीचजातिके घरमें उत्पन्न होना सम्भव है। रामानन्द शिष्योंको उपदेश देते थे कि, जो लोग धर्मके लिये अपने प्रिय मित्र और कुटुम्बियोंके स्नेहका बन्धन तोड़ सकते हैं उनको जात्यादि विषयमें भेदाभेदका ज्ञान रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शंकराचार्य और रामानुजाचार्यके जितने ग्रन्थ हैं सब संस्कृत-भाषामें हैं; केवल ब्राह्मणलोग ही इन दोनों मतोंके उपदेष्टा हैं। आजकल रामानन्दके कोई ग्रन्थ न मिलनेपर भी उनके शिष्योंके बनाये हुए जितने ग्रन्थ हैं वे सब भाषामें हैं; इसलिये ये ग्रन्थ सब जातिके लोगोंकेलिये सहजबोध्य तथा सुप्राप्य हुए हैं। सब जातिके लोग ही इन सब ग्रन्थोंसे उपदेश प्राप्त होकर इस सम्प्रदायके गुरुपदके अधिकारी बन सकते हैं।

यह प्रायः देखनेमें आता है कि गोस्वामीप्रवर तुलसीदासजीकी रामायणके साथ रामानन्दी पन्थका कोई सम्बन्ध न रहनेपर भी यह सर्वमान्य हिन्दी भाषाका धर्मग्रन्थ इस पन्थमें परम आदरणीय समझा जाता है और इस पन्थके साधु और गृहस्थ सभी इसके द्वारा बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया करते हैं। आचारकी मर्यादा इस पन्थमें उतनी न रहनेपर भी इस ग्रन्थके प्रचारसे आचारके अनेक चिन्ह इस पन्थके साधु और गृहस्थोंमें पाये जाते हैं।

वैराग्य, उदारता और आत्मज्ञानके विचारसे कवीरपन्थका नामोल्लेख करना उचित समझा जाता है। यह पन्थ भी मुसलमान-साम्राज्यके समय ही प्रकट हुआ है।

रामानन्दके वारह शिष्योंमें कबीरका नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। आधुनिक अनेक पन्थ कबीरपन्थके ही शाखा-प्रशाखास्वरूप कहे जा सकते हैं। भारतप्रसिद्ध प्राचीन नानकपन्थसे लेकर इन दिनोंके राधास्वामीपन्थ तकमें महात्मा कबीरकी कहावतें पूरी सहायता देनेवाली देख पड़ती हैं।

कबीरके जन्म, जाति, कुल आदिके विषयमें बहुतसे वृत्तान्त मिलते हैं, पर उन सभोंके मूल सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है। भक्तमालमें लिखा है कि एक बालविधवा ब्राह्मणीके गर्भसे उनका जन्म हुआ था। उस ब्राह्मणीके पिता रामानन्दके शिष्य थे। एक रोज वह अपनी कन्याको लेकर गुरुके दर्शनकेलिये गये थे। रामानन्दने उसके वैधव्यपर ध्यान न देकर अचानक आशीर्वाद दे दिया कि, "पुत्रवती हो"। उनका अव्यर्थ आशीर्वाद कालान्तरमें सफल हुआ। उस पतिविहीना युवतीने अपयशके डरसे अपने पुत्रको भूमिष्ठ होते ही जंगलमें फेंक दिया। एक जुलाहेने दैवयोगसे उस शिशुको पाया और उसे लाकर अपनी स्त्रीको सौंप दिया। इन्हींके घरमें कबीर पाले गये। इससे प्रतीत होता है कि कबीर ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे।

और सब देवोंकी अपेक्षा विष्णुके ऊपर ही कबीरपन्थियोंकी अधिक

श्रद्धा है। वैष्णवप्रधान रामानन्दस्वामीसे कबीरका दीक्षाग्रहण, रामानन्दी तथा और और वैष्णव पन्थोंसे कबीरपन्थियोंका सद्भाव और व्यावहारिक सम्बन्ध आदि देखनेसे इन लोगोंको वैष्णव कहा जा सकता है। परन्तु हिन्दूशास्त्रोक्त किसी देव-देवीकी उपासना या हिन्दुशास्त्रीय किसी क्रियाका अनुष्ठान इन लोगोंके मतमें आवश्यक नहीं है। इन लोगोंमें जो लोग गृहस्थ हैं वे अपनी अपनो जातीय वृत्तिके अनुसार काम करते हैं। इस पन्थके साधुलोग समस्त लौकिक व्यवहार छोड़ कर निरन्तर कबीरदेवकी ही भजन करते हैं। इन लोगोंमें मन्त्रग्रहण या निर्दिष्ट अभिवादनकी कोई रीति प्रचलित नहीं है, धर्मसंगीत ही इन लोगोंकी प्रधान उपासना है। इन लोगोंके पहनावेमें भी कोई विशेषता नहीं है। साधुओंमें कोई कोई तो प्रायः नग्न होकर ही घूमते हैं; पर शीलताकी रक्षाकी आवश्यकता होनेपर वस्त्र पहनते हैं। इस पन्थके महन्त लोग टोपी पहनते हैं। दूसरे वैष्णवोंकी तरह ये लोग तिलक धारण करते हैं; या नाकके ऊपर गोपीचन्दनसे छोटीसी एक रेखा अङ्कित कर लेते हैं परन्तु यह भी इनका नित्यकर्म नहीं है। ये लोग गलेमें तुलसीकी माला धारण करते हैं और तुलसीमालामें ही जप करते हैं; परन्तु, इन लोगोंके मतमें ये सब केवल बाह्य आडम्बरमात्र हैं, इससे विशेष कुछ फलकी प्राप्ति नहीं होती है, अन्तःशुद्धिकी ही विशेष आवश्यकता है।

विद्वेषियोंके साथ विरोध न हो जाय, इसलिये कबीरने लोकाचारकी रक्षाके लिये उपदेश दिया है :—

सबसे हिलिये सबसे मिलिये सबका लीजिये नाऊँ।
हाँजी हाँजी सबसे किजिये बसे अपने गाँऊ॥ —शाखी।

सबका नाऊँ या नाम लेनेका अर्थ कबीर पन्थी यों करते हैं,—दूसरे मनुष्य जब उन लोगोंको 'बन्दगी' 'दण्डवत्', 'राम राम' या अन्य किसी शब्दसे अभिवादन करेंगे तब ये लोग भी वही शब्द उच्चारण कर उन लोगोंको प्रत्य-भिवादन करेंगे। यद्यपि सब पन्थोंमें ही वर्णाश्रमकी व्यवस्था नहीं मानी जाती है परन्तु कबीरपन्थकी विलक्षणता यह है कि इस पन्थमें सब जातिके मनुष्य और यहाँ तक कि मुसलमान आदि भी सुगमतासे सम्मिलित हो सकते हैं।

इस पन्थके सब प्रामाणिक ग्रन्थ कबीरके शिष्य तथा उनके परवर्त्ती कालके गुरुओंके रचित हैं, ऐसा प्रसिद्ध है। ये सब ग्रन्थ विविध प्रकारकी हिन्दी भाषामें लिखित हैं। इन ग्रन्थोंके कुछ नाम ये हैं—

शाखी—इसमें पाँच हजार कविताएँ हैं और एक एक कविता एक एक शाखी कहाती है।

बीजक—यह ग्रन्थ छः सौ चौवन अध्यायोंमें विभक्त है।

कहार—इसमें पाँच सौ धर्मसंगीत हैं।

शब्दावली—इसमें एक हजार शब्द हैं। नीति और मत विषयक छोटे छोटे वाक्योंका एक शब्द होता है।

गोरखनाथकी गोष्ठी—यह ग्रन्थ गोरखनाथके साथ कबीरके विचारके सम्बन्धका है।

रामानन्दकी गोष्ठी—इसमें रामानन्दके साथ कबीरका विचार है।

मंगल—इसमें एकसौ छोटे छोटे काव्य हैं।

इस सम्प्रदायके छोटे बड़े और भी बहुतसे ग्रन्थ हैं। सभी धर्म तथा नीति विषयक हैं। कबीरके मतमें सम्यक् पारदर्शी होनेके लिये इन सब ग्रन्थों-का अच्छी तरह अवलोकन करना आवश्यक है।

कबीर ज्ञानी नामसे प्रसिद्ध थे। मुसलमान लोग उन्हें मुसलमान कहते हैं; परन्तु हिन्दूशास्त्रमें उनकी जैसी पारदर्शिता थी और मुसलमानोंके धर्मशास्त्रमें जैसी अल्पज्ञता थी, उससे उन्हें मुसललान नहीं कहा जा सकता। सुना जाता है है कि उनके देहसंस्कारके समय उनके हिन्दू और मुसलमान शिष्योंमें बड़ा विरोध उत्पन्न हुआ था, हिन्दुओंकी इच्छा थी उनकी देहदाह करनेकी और मुसल-मानोंकी कब्रमें दफन करनेकी। इस प्रबल विरोधके समय कबीर स्वयं उस स्थानपर एकाएक प्रकट होकर "मेरी मृत देहका आवरण खोल कर देखो" यह कहकर अन्तर्हित होगये। उसके अनन्तर उन लोगोंने देखा, आवरणवस्त्रके नीचे शव नहीं है, केवल बहुतसे फूल पड़े हैं। काशीके राजा वीरसिंहने उनमेंसे आधे फूल अपनी राजधानीमें लाकर दाह किये और अब जिस स्थानको लोग कबीरचौरा कहते हैं उसी स्थानमें उन पुष्पोंके भस्मको समा-धिस्थ कर दिया। मुसलमान सर्दार बिजलीखाँ पठानने फूलोंका दूसरा आधा अंश लेजाकर गोरखपुरके निकट 'मगर' नामक गाँवमें समाहित कर दिया और उसके ऊपर एक समाधिस्तम्भ बनवा दिया। इस समाधिस्थानकी रक्षाके लिये मानसूर अलीखाँने मगर गाँव तथा उसके आसपासके और कई एक गाँवोंका दान कर दिया। उसी दिनसे ये दोनों स्थान कबीरपन्थियोंके तीर्थ-रूपमें परिणत हो गये। ऐसी किम्वदन्तियाँ इस पन्थमें अनेक प्रचलित हैं।

वीरताका परिचय तथा निर्गुणोपासना और त्यागके विचारसे दादूपन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है। महात्मा दादू इस पन्थके प्रवर्त्तक थे। निर्गुण ब्रह्मके विचारसे राम नामका जप ही इस पन्थकी एकमात्र उपासना है। ये लोग अपने उपास्य देवका नाम राम बताते हैं सही परन्तु उनका साकार रूप नहीं मानते, मन्दिरमें उनकी मूर्त्ति बना कर उपासनाकी भी आवश्यकता नहीं स्वीकार करते। इन लोगोंके मतमें राम निर्गुण परब्रह्म हैं।

दूसरे वैष्णवोंकी तरह दादूपन्थी ललाटपर तिलक या गलेमें माला धारण नहीं करते हैं, केवल हाथमें जप करनेकी माला रखते हैं और सिरपर श्वेतवर्ण गोल या चतुष्कोण टोपी पहनते हैं।

दादूपन्थी तीन श्रेणीमें विभक्त हैं। यथा, बिरक्त, नागा और बिस्तरधारी। जो लोग वैराग्य अवलम्बन कर दिन रात परमार्थसाधनमें लवलीन रहते हैं, वे विरक्त हैं। इनके साथ एक छोटासा वस्त्र और एक जलपात्र रहता है। नागे लोग अस्त्रधारी हैं और वे भारतवर्षके अनेक रजवाड़ोंमें युद्धका कार्य करना अपने पन्थका धर्म समझते हैं और साथ ही साथ अन्य समयमें ये खेती आदिका काम करते हैं। बिस्तरधारी साधारण गृहस्थधर्म पालन करने-वाले होते हैं।

दादूपन्थी उषःकालमें शवदाह करते हैं। इसमें धर्मपरायण लोग शवका दाह नहीं करते हैं, वे शवदाह करनेसे उसके साथ बहुतसे प्राणियोंका प्राण-नाश होता है इसलिये अपने मृत देहको पशु पक्षियोंके खानेके उद्देश्यसे जङ्गलमें या निर्जन मैदानमें छोड़ रखनेकी आज्ञा दे जाते हैं। महात्मा दादू जयपुरके नराणा नामक स्थानमें रहते थे। वहीं उनका देहान्त हुआ था। उसी स्थानमें इस सम्प्रदायका प्रधान देवस्थान विद्यमान है। वहाँ महात्मा दादूकी शय्या और इस सम्प्रदायके बहुतसे प्रामाणिक ग्रन्थ भी मौजूद हैं। नराणाके पहाड़ पर एक छोटासा घर है। लोग कहते हैं कि, महात्मा दादूने अपने जीवनके अन्तिम दिन यहीं बिताये और उनका देहान्त भी इसी घरमें हुआ था। हर साल फाल्गुनके शुक्लपक्ष भर यहाँ इस पन्थका मेला लगता है। यह पन्थ ज्ञानप्रधान है और वर्णाश्रमधर्मका पक्षपाती नहीं है। इस पन्थकी प्रतिष्ठा महात्मा दादूके एक शिष्य महात्मा सुन्दरदासके द्वारा अधिक बढ़ी है। वे अच्छे कवि थे और उन्होंने बहुत ग्रन्थोंकी रचना की है।

उत्तर भारतके दो प्रसिद्ध पन्थ अर्थात् रामानन्दी पन्थ और कबीर-

पन्थका संक्षेप वर्णनकरके राजपूतानेके एक प्रसिद्ध पन्थ दादूपन्थका वर्णन किया गया। अब राजपूतानेके दूसरे पन्थका वर्णन किया जाता है। इस पन्थका नाम रामसनेही पन्थ है।

रामचरण नामके एक रामानन्दी वैष्णव इस पन्थके प्रतिष्ठाता हैं। १७७६ सम्वत्‌में इनका सुरसेन गाँवमें जन्म हुआ था। देवप्रतिमामें श्रद्धाविहीन होनेके कारण वहाँके ब्राह्मणलोग इनके प्रतिपक्षी होकर इन्हें खूब सताने लगे। अन्तमें इन्हें उस गाँवको छोड़ जाना पड़ा। अनेक देश घूमकर ये उदयपुरमें पहुँचे। उस समय महाराणा भीमसिंह वहाँके अधिपति थे, ब्राह्मणोंकी मन्त्रणासे सनातनधर्मके रक्षक हिन्दूसूर्यके प्रसिद्ध वंशधर महाराणा भीमसिंहने इनको अपने राज्यसे निकाल दिया। उसी समय शाहपुराके नरेशने रामचरणके दुःखका सम्वाद सुन उन्हें अपने राज्यमें बुलाया। यहाँ राजसहायता पाकर रामचरणने अपने धर्ममतका प्रचार करना आरम्भ किया। सम्वत् १८२६ से इस पन्थका आरम्भ हुआ है।

१८५५ में रामचरणका देहान्त हुआ था। शाहपुराके प्रधान देवालयमें उनका शवदाह हुआ था इसलिये शाहपुरा इस पन्थका तीर्थ बन गया है। शाहपुरा मेवाड़के अन्तर्गत एक छोटीसी राजधानी है। उस राजधानीमें वहाँके नरेशके वंशका जो श्मशान है उसी श्मशानके श्मशानमन्दिरोंमें इस पन्थका प्रधान स्थान है।

इस पन्थके धर्मयाजक लोग वैरागी या साधु नामसे प्रसिद्ध हैं। इन लोगोंको बहुतसे कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता है। ये विवाह नहीं करते। भिक्षा ही इनकी जीविका है। ये लोग गलेमें माला धारण करते हैं और ललाटपर श्वेत दीर्घपुण्ड्र लगाते हैं। इनको जीवहिंसा करना मना है। इस पन्थके आचारोंमें जैनमतके आचार भी पाये जाते हैं। रातको क्षणभरके लिये प्रदीप जलाकर उसी समय वे उसे बुझा देते हैं, जिससे प्रदीपकी अग्निमें किसी जीवका नाश न हो जाय। रास्तेमें जाते समय ये ही जीवहत्याकी आशंकासे बड़ी सावधानीसे जमीन पर पैर रखते हैं। आषाढ़के अन्तिम अर्द्धसे कार्तिकके प्रथमार्द्ध तक ये विशेष आवश्यकता न होने पर घरसे नहीं निकलते। सम्भवतः जैनमतके अनुकरणपर इन लोगोंने ऐसा करना सीखा है। इनमेंसे एक श्रेणीके साधकोंका नाम विदेही है। ये लोग नङ्गे रहते हैं और एक श्रेणीका नाम मौनी है। जिन लोगोंकी वागिन्द्रिय अपने वशमें नहीं है, उन्हें मौनी श्रेणीमें

रह कर कुछ दिन मौनव्रती रहना पड़ता है। इससे अन्तःकरण वशीभूत होने-पर वे फिर बोलना शुरू कर सकते हैं।

हिन्दुओंमें सब छोटी जातिके लोग ही इस पन्थमें सम्मिलित हो सकते हैं।

रामचरणके बनाये हुए ३६२५० शब्द (छोटी कविता) हैं। ये ही इस पन्थके वेदवत् प्रामाण्य शास्त्र हैं।

इनके उपास्य देव राम हैं; परन्तु प्रतिमा बना कर उनकी पूजा करना इन लोगोंको मना है, इसलिये इन लोगोंके उपासनास्थानमें प्रतिमा नहीं दीख पड़ती। ये वेदान्तप्रतिपाद्य निराकार परमात्माको राम कहते हैं। किसी दूसरे देवताकी भी ये लोग पूजा नहीं करते हैं। इनका कहना है कि सागरमें स्नान करनेपर जैसे नदीमें नहानेकी आवश्यकता नहीं रहती उसी प्रकार निराकार सर्वव्यापक सृष्टि-स्थिति-प्रलय करनेवाले परमात्मा रामकी उपासना करनेसे और किसी देवताकी उपासनाकी आवश्यकता नहीं रहती। इस पन्थके उपासनास्थानका नाम रामद्वारा है।

साधारण हिन्दुओंकी तरह दशहरा, होली आदिमें इन लोगोंका कोई उत्सव नहीं है। फाल्गुन मासमें शाहपुरामें ये लोग फूलदोल नामका एक उत्सव मनाते हैं। उस समय वहाँ भारतवर्षके अनेक स्थानोंसे इस पन्थके बहुतसे लोग एकत्रित होते हैं। इस पन्थमें यह नियम है कि साधु लोग सब नीच जाति तककी रोटी माँग कर लाते हैं। सब भिक्षा एकत्रित की जाती है और सब लोग उसको बाँट कर खाते हैं। इस पन्थमें प्रायः छोटी जातिके लोग अनेक होते हैं। विद्याकी चर्चा इस पन्थमें प्रायः नहीं है। इस पन्थमें वर्णाश्रमकी मर्यादाका चिन्ह-मात्र नहीं है।

इसी प्रकारके पन्थ बङ्गदेशमें भी विद्यमान हैं। उनमेंसे एक वाउलपन्थ कहाता है। वाउलपन्थ बंगालके चैतन्य महाप्रभुप्रदर्शित मार्गकी एक शाखा है। ये लोग महाप्रभु गौरांगको अपने पन्थका प्रवर्त्तक मानते हैं; परन्तु वास्तव-में गौरांगदेवके किसी शिष्यने इस पन्थका आरम्भ किया था। ये लोग अपनी साधनप्रणाली प्रगट नहीं होने देते, प्रत्युत प्रगट करनेसे इन लोगोंके मतानुसार हानि समझी जाती है। श्रीराधाकृष्ण इनके उपास्यदेवता हैं परन्तु मन्दिरमें ये लोग देवताकी पूजा नहीं करते। इन लोगोंका कहना है कि राधाकृष्ण युगलरूपमें इस देहके भीतर ही विराजमान हैं इसलिये इस

मानव देहको छोड़ अन्यत्र देवताके अनुसन्धानकी कोई आवश्यकता नहीं है। केवल परम-देवता क्यों, अखिल ब्रह्माण्डके समस्त पदार्थ ही इस मानवदेहमें विद्यमान हैं। इसी कारण इस पन्थका मत देहतत्त्व करके प्रसिद्ध है।

"जो है भाण्डमें सो है ब्रह्माण्डमें।"

चन्द्र, सूर्य, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, गोलोक, वैकुण्ठ और वृन्दावन आदि सभी भाण्ड अर्थात् देहमें विद्यमान है। मानवदेहस्थित परमदेवताके प्रति प्रेमानुष्ठान ही इस पन्थका मुख्य साधन है। स्त्रीपुरुषोंके प्रेमसेही यह प्रेम उत्पन्न होता है। इसलिये प्रकृति-साधन हो इसका प्रधान साधन है। एक बाउलकी एक या ततोधिक प्रकृति अर्थात् स्त्रियाँ रहती हैं। इसी प्रकृतिसाधनमें बाउललोग जन्मभर रत रहते हैं। यह साधनपद्धति बहुत गुह्य है। वह बाहरके लोगोंको जाननेका कोई उपाय नहीं है। जाननेपर भी वह पुस्तकमें लिखकर प्रकाशित करने योग्य नहीं है क्योंकि वह बहुत अश्लील है। अपनी स्त्रीको छोड़कर परस्त्रीमें ही इनका साधन होता है। इन लोगोंका कहना है कि, अपनी स्त्रीसे परस्त्रीपर प्रेम अधिक होता है, जिसकी पराकाष्ठा होनेसे परमात्माके ऊपर प्रेम सुलभ हो जाता है। प्रकृतिसाधनके अन्तर्गत 'चार-चन्द्र-भेद' नामकी एक क्रिया है। शोणित, शुक्र, मल और मूत्रको ये लोग पितामातासे प्राप्त चार चन्द्र कहते हैं इसलिये इन चारोंको शरीरसे निर्गत होनेपर खालेना ही 'चार चन्द्र भेद' है। गुप्तरीतिसे समाजके विरुद्ध सब काम करनेपर भी ये लोग लोकाचारकी रक्षाके लिये और और वैष्णवोंकी तरह माला तिलक भी धारण करते हैं। पुरुष कौपीन तथा बहिर्वास पहनते हैं, हजामत नहीं बनवाते और स्त्रियाँ मस्तक मुण्डित करके एक लम्बी शिखा रखती हैं। आपसमें साक्षात् होनेपर ये दण्डवत् कहकर नमस्कार करते हैं। इनके मतमें मूर्त्तिपूजा या उपासना आदि नियम पालन करना उचित नहीं है। इनमें कोई कोई श्रेष्ठ साधक 'दयापा' उपाधि पाते हैं। 'दयापा' क्षिप्तका और 'बाउल' वातुलका अपभ्रंशमात्र है।

इस पन्थमें विशेष ग्रन्थादि कुछ नहीं हैं। जातिभेदका कोई सम्बन्ध इस पन्थमें नहीं है। स्त्रियोंके सतीत्वका विचार भी इस पन्थमें नहीं माना जाता है। इस प्रकारके कई पन्थ गुजरातप्रान्तमें भी प्रचलित हैं, जिनको कुण्डापन्थ, बीजमार्गपन्थ और चोलीपन्थ आदि कहते हैं।

कनफट योगी शैवसम्प्रदायकी एक श्रेणीका नाम है। गुरु गोरक्षनाथ

इस पन्थके प्रवर्त्तक हैं। ये लोग उनको शिवावतार करके मानते हैं और उन्हींके प्रवर्त्तित हठयोगका अभ्यास करते हैं। कानोंमें छेद बनाकर उनमें ये लोग पत्थर, काँच या गण्डारके सींगके कुण्डल पहनते हैं। दीक्षाके समय ये कुण्डल पहने जाते हैं। योगीलोग इन कुण्डलोंको 'मुद्रा' कहते हैं। इनका दूसरा नाम 'दर्शन' है इसलिये कनफट योगीका दूसरा नाम 'दर्शन योगी' है। कुण्डलके सिवाय ये लोग दो तीन अंगुलीप्रमाण एक कृष्णवर्ण पदार्थ रेशमके सूतमें लगाकर गलेमें लटका लेते हैं। उस काले पदार्थका नाम 'नाद' और रेशमके उस सूतका नाम 'सेलि' है। 'नाद', 'सेली' और 'दर्शन'युक्त योगी देखनेसे ही समझना चाहिये कि यह कनफट योगी है। इसके अतिरिक्त दूसरे योगियोंके सदृश ये लोग गेरुआ वस्त्र पहनते हैं, जटा और भस्मका त्रिपुण्ड भी धारण करते हैं। इन लोगोंके गुरु अनेक होते हैं। कोई शिष्यका मस्तक मुण्डन करते हैं, कोई कानमें छेद बनाकर कुण्डल पहनाते हैं और कोई उसे योगमार्गमें प्रविष्ट करा देते हैं। ये लोग शिवपूजा करते हैं और शिवके मन्दिरमें रहते हैं। इनमें अधिकांश ही उदासीन हैं। कोई कोई खेती, व्यापार आदिके कार्यमें लिप्त रहते तथा आपसमें विवाह करके घर-गृहस्थी भी करते हैं। इस पन्थके ऐसे साधुलोग इसी तरहसे एक प्रकारके वर्णसंकर गृहस्थमें परिणत होगये हैं। वे लोग अपने साधुत्वके चिन्हरूपमें केवल गेरुआ पगड़ी या टोपी पहनते हैं और सब वेश ठीक गृहस्थोंकी तरह है। गोरक्षनाथके नामसे बहुतसे स्थानोंका नामकरण हुआ है। पेशावरमें एक गोरक्षक्षेत्र है। द्वारकाके पास भी एक गोरक्षक्षेत्र नामका स्थान है। हरिद्वारके समीप एक सुरंग है यह सुरंग तथा द्वारका का गोरक्षक्षेत्र इस पन्थके प्रधान तीर्थ हैं। नेपालके पशुपतिनाथ आदि शिवमन्दिर इसी पन्थके अधीन हैं। गोरखपुर इनका एक प्रधान स्थान है। गिरी, पुरी आदि जैसी दशनामी सन्न्यासियोंकी उपाधियाँ हैं उसी तरह इन लोगोंकी उपाधि 'नाथ' है।

भारतवर्षमें पन्थ अनेक हैं। केवल नमूनेके तौर पर प्रत्येक प्रान्तके एक दो पन्थका संक्षेप वर्णन किया गया है। उसी नियमानुसार पञ्जाब प्रान्तके सुप्रसिद्ध और सनातधर्मरक्षक नानकपन्थका संक्षेप वर्णन किया जाता है। इस पन्थके प्रवर्त्तक महात्मा नानक थे। नानकपन्थके अन्तर्गत सिक्ख पन्थ, उदासी पन्थ और निर्मल पन्थ भी माना जाता है। उनके परस्परमें अनेक

आचरणभेद होने पर भी वे सब नानकपन्थके ही अन्तर्गत हैं इसमें सन्देह नहीं है। उदासी और निर्मलपन्थ वैराग्यप्रधान और सिक्ख पन्थ देशभक्ति तथा वीरताप्रधान है इसमें सन्देह नहीं है। महात्मा नानक पञ्जाबकी खत्री जातिमें उत्पन्न हुए थे। उनके वंशमें उनकी गद्दी दस पीढ़ी तक चली थी। सिक्ख पन्थके प्रवर्तक परम स्वदेशहितैषी वीराग्रगण्य महात्मा गुरु गोविन्दसिंह दशम गुरु हुए थे। उनके बादसे इस पन्थका नेता पुनः कोई नहीं हुआ और अन्यान्य-पन्थोंकी तरह यह पन्थ भी कालप्रवाहमें प्रवाहित होने लगा। महात्मा नानक बड़े उदार और समदर्शी थे जैसा कि उनके ग्रन्थोंसे प्रतीत होता है। इस पन्थका जो प्रधान धर्म्म ग्रन्थ है वह ग्रन्थसाहबके नामसे प्रसिद्ध है। उसमें प्रधान रूपसे महात्मा नानककी वाणियां हैं और गौणरूपसे इस पन्थके अन्यान्य-गुरुओंकी भी वाणियां हैं। उक्त ग्रन्थके पाठ करनेसे पाठकको स्पष्ट प्रतीत होगा कि महात्मा नानक वर्णाश्रमधर्म्मको बहुत कुछ मानते थे और वेद और पुराणोक्त उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डके पूरे पक्षपाती थे। उनकी वाणियोंमें अनेक भजन हैं वैसे सरल और मधुर भजन और किसी पन्थमें बहुत कम देखनेमें आते हैं। दशम गुरु महात्मा गुरु गोविन्दसिंहजी बड़े प्रतापी हुए थे उनकी जीवनी ज्वलन्त देशभक्तिसे भरी हुई है। ये शक्ति-उपासक थे और सप्तशती गीताका उन्होंने हिन्दीमें अपूर्व अनुवाद किया था। महात्मा नानकका जन्म पञ्जाबमें हुआ था और महात्मा गोविन्दसिंहजीका जन्म बिहारमें हुआ था। महात्मा नानककी जीवनी वैराग्य, आत्मत्याग, भगवद्भक्ति और गंभीर ज्ञान-गरिमासे भरी हुई है। देशके लिए और स्वधर्म्मके लिये इस पन्थके कई गुरुओंने इस प्रकार आत्मसमर्पण किया था कि वैसा आत्मसमर्पण और किसी पन्थमें देखनेमें नहीं आता है। यदि नानकपन्थ भारतवर्षमें प्रचलित न होता तो प्रधानतः पञ्जाब देश और साधारणतः उत्तर भारत मुसलमान धर्म्मसे छा जाता। सनातनधर्म्मकी रक्षा करनेमें नानकपन्थ और सिक्खपन्थ सब पन्थोंमें अग्रगण्य हैं इसमें सन्देह नहीं। अफसोसकी बात यह है कि जिस सिक्ख पन्थका जन्म गोब्राह्मण और सनातनधर्म्मकी रक्षाके लिये हुआ था उसी-के कुछ लोग निरंकुश होकर अपने आपको हिन्दुधर्म्मके विरुद्ध मानने लगे हैं। अज्ञानकी घनघटा और कालकी विकरालता ही इसका कारण है। इस समय इस पन्थका प्रधान स्थान पञ्जाबमें अमृतसर समझा जाता है। अमृतसरका वह देवस्थान भारतवर्ष भरमें दर्शनीय है।

जिस प्रकार पञ्जाब देशमें हिन्दू जातिकी रक्षाका मुख्य उद्देश्य लेकर नानक-पन्थ और सिक्खपन्थका जन्म हुआ उसी प्रकार दक्षिण भारतमें हिन्दूजातिकी रक्षा और हिन्दूसाम्राज्यके स्थापनके उद्देश्यसे रामदासी पन्थका जन्म हुआ था। इस पन्थके प्रवर्त्तक महात्मा रामदास स्वामी थे। वे समर्थ रामदासके नामसे प्रसिद्ध हैं। वे ब्राह्मण वंशोद्भव थे और हिन्दूसम्राट् शिवाजीके गुरु थे। उन्हींकी सहायतासे महात्मा रामदास स्वामीजीने अपने महत् उद्देश्योंकी पूर्त्ति की थी। छत्रपति शिवाजीकी जीवनी लोकप्रसिद्ध है, इस कारण उस समयकी ऐतिहासिक घटनाका उल्लेख करना यहाँ अनावश्यकीय है। इस पन्थके अनेक ग्रन्थ मराठी भाषामें प्रचलित हैं। इस पन्थकी साधु और गृहस्थ दोनों श्रेणीकी जनता है। महाराष्ट्र साम्राज्यकी जो गेरुआ ध्वजा भारतप्रसिद्ध है वह समर्थ रामदासको दी हुई है। नानकपन्थके सदृश रामदासीपन्थ भी भक्ति और ज्ञानका समन्वय मानता है और प्रकारान्तरसे वर्णाश्रमका बहुत कुछ पक्षपाती है। आचारके विचारसे भी यह पन्थ बहुत कुछ शुद्ध प्रतीत होता है।

उत्तर भारतके सदृश दक्षिण भारतमें भी अनेक पन्थ विद्यमान हैं। उनमेंसे लिंगायत पन्थ एवं स्वामी नारायणपन्थका वर्णन दिग्दर्शन रूपसे किया जाता है।

भारतवर्षके दक्षिण खण्डमें शिवलिंगकी उपासना अत्यन्त प्रचलित है। यहाँ एक लिङ्गोपासक सम्प्रदाय विद्यमान है। उनको लिङ्गायत् लिङ्गवन्त अथवा जङ्गम कहते हैं। ऐसा कहते हैं कि कुछ समय पहले और विशेषतः कल्याण नगरके अधिपति विजल राजाके समयमें इस प्रान्तमें जैनधर्म्मका अधिक प्रादुर्भाव हुआ था। उस समय वासव नामक एक ब्राह्मणने जैनधर्म्मके निवारण करनेके लक्ष्यसे और शिवाराधना प्रचार करनेके निमित्त जङ्गम-पन्थकी सृष्टि की थी। वासवपुराण नामक एक नवनिर्मित पुराणमें वासवका चरित्र लिखा है। जङ्गमलोग इस पुराण और अन्यान्य अपने पन्थके ग्रन्थोंके आधारपर वासवको नन्दीका अवतार मानते हैं। यज्ञोपवीतके समय सूर्य्यो-पासना करनी पड़ती है। उस उपासना करनेसे समस्त न होकर यज्ञोपवीत संस्कार न करा कर ही वासवने इस पन्थकी सृष्टि की क्योंकि उसको शिवोपासनाके अतिरिक्त किसीकी उपासना करना स्वीकार नहीं था। वासवने निम्नलिखित बातोंको अपने पन्थके लोगोंको नहीं माननेकी आज्ञा दे रक्खी है।

सूर्य्य अग्नि और अन्यान्य देव देवियोंकी पूजा, जातिभेद, मरनेके वाद अन्यान्य योनियोंमें भ्रमण करना अर्थात् जन्मान्तर, ब्राह्मणोंका ब्रह्मसन्तान और शुद्धात्मा होना, शाप प्राप्त होनेकी आशङ्का, प्रायश्चित्त, तीर्थभ्रमण, स्थान-विशेषका माहात्म्य, स्त्रियोंकी अप्रधानता और उनको दुःख देना, निकटसम्बन्धीकी कन्यासे विवाह करनेका निषेध, गंगा आदि तीर्थजलका सेवन, ब्राह्मण-भोजन, उपवास, शौचाशौच, सुलक्षण और कुलक्षण और अन्त्येष्टि क्रियाकी आवश्यकता, इन सवको वासव भ्रमात्मक मनाता था।

वासव छोटी छोटी लिङ्गमूर्त्ति बनाकर स्त्री-पुरुष दोनों प्रकारके शिष्योंको हाथमें या गलेमें धारण करनेका उपदेश देता था। उसके मतमें गुरु, लिङ्ग और जङ्गम (अपने पन्थके साधक) ये तीनों ही ईश्वरकृत पवित्र पदार्थ थे। लिङ्गके अतिरिक्त ये विभूति और रुद्राक्षको भी शैवचिन्ह रूपसे व्यवहार करते हैं।

इस पन्थमें स्त्री और पुरुष दोनों ही गुरुपद प्राप्त कर सकते हैं। दीक्षा-के समय गुरु शिष्यके कानमें मन्त्रोपदेश करते हैं और उसके गलेमें अथवा हाथमें लिङ्गमूर्त्तिको बांध देते हैं। गुरुके लिये मद्य मांस और ताम्बूलका व्यवहार निषिद्ध है।

वासवने अपने पन्थमें शवदाहकी प्रथा बन्द करके शवको गाड़नेकी प्रथा प्रचलित कर दी थी।

इस समय जङ्गम वासवके प्रवर्त्तित सब नियमोंको नहीं मानते हैं। पहले लिखा है कि वासवने तीर्थभ्रमणका निषेध किया था; परन्तु इस पन्थ-के लोग शिवरात्रिव्रत करते हैं और सब श्रीशैल और कालहस्ती आदि तीर्थोंमें यात्रा करते हैं।

ये लोग दक्षिणदेशमें किसी किसी शिवमन्दिरमें पुजारीका काम भी करते हैं। अनेक लोग केवल भिक्षा करके निर्वाह करते हैं। कितने ही लोग हाथ पांवमें घंटा बांधकर भ्रमण करते हैं। गृहस्थ लोग उसकी ध्वनि सुनकर उनको अपने घरमें बुलाते हैं अथवा रास्तेमें आकर भिक्षा दे जाते हैं। इनके अनेक स्थानोंमें मन्दिर हैं उनमें परिचारक रूपसे अनेक लोग रहते हैं। मठ स्वामीके कितने ही शिष्य होते हैं उनमेंसे एकको वह अपना उत्तराधिकारी निर्बाचन कर देता है।

भारतवर्षके दक्षिण पश्चिममें स्थित कर्णाटक प्रदेशमें यह पन्थ उत्पन्न होकर क्रमशः महाराष्ट्र गुजरात तामिल तेलेगु देशोंमें विस्तृत हो गया है।

भारतवर्षके उत्तर प्रदेशमें इस पन्थके लोग अत्यन्त विरले हैं। काशीमें भी इस पन्थका स्थान है। उनका जिस स्थानमें वास है उसका नाम 'जङ्गमवाड़ी' है।

तेलेगू और कनाडी प्रभृति दाक्षिणात्य भाषाओंमें इस पन्थके अनेक ग्रन्थ हैं। मेकेञ्जी साहबने दक्षिण देशसे जो ग्रन्थ संग्रह किये हैं उनमें इस पन्थके वासवेश्वर पुराण, पण्डिताराध्य चरित्र, प्रभुलिङ्गलीला, सरनुलीलामृत, विरक्तकाव्य आदि पुस्तकें हैं। भारतवर्षके पश्चिमोत्तर प्रदेशकी भाषाओंमें इस पन्थके कोई ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। इस प्रदेशमें व्यासकृत वेदान्तसूत्रोंका नीलकण्ठकृत भाष्य ही इस पन्थका एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ गिना जाता है।

जो लोग वृषको वस्त्रके छोटे छोटे टुकड़ोंसे सजाकर साथ लेकर भिक्षा करते हुए घूमते हैं, वे भी एक प्रकारके जङ्गम हैं। उत्तर भारतके लोग इस वृषको वैद्यनाथका वाहन कहते हैं। जो लोग ऐसे वृषको लेकर फिरते हैं उनमेंसे अनेक लोग वैद्यनाथके आसपासके ग्रामोंमें रहते हैं।

गुजरात प्रदेशके अहमदाबाद नगरमें नारायण नामक एक चर्मकार रहता था। किसी वैष्णव साधुने वहाँ आकर शरीर त्याग किया। उस साधुके पास एक धर्मग्रन्थ था, चर्मकारने उसको सम्हाल कर रक्खा था। वह उसका मर्म्मार्थ कुछ नहीं जाना था। गोंडा-(यू० पी०) जिलाके छापिया नामक ग्रामका रहनेवाला स्वामी नामक एक ब्राह्मण तीर्थयात्राके उपलक्ष्यसे अहमदाबादमें आया और नारायण चर्म्मकारसे उसका समागम हुआ। नारायणने कथाप्रसङ्गसे स्वामीके समीप इस ग्रन्थकी प्राप्तिका सम्वाद उपस्थित किया और स्वामीने उसको पढ़कर तृप्ति लाभ की। पश्चात् दोनोंने मिलकर उस ग्रन्थके मतानुसार इस पन्थको प्रवर्त्तित किया और दोनोंके नामसे इसका नाम स्वामीनारायणी पन्थ रक्खा। इस प्रकारसे इस पन्थका नाम स्वामीनारायणीपन्थ हुआ ऐसा प्रवाद प्रचलित है। उक्त ग्रन्थकी पूजा ही इस पन्थका प्रधान धर्म्म है। देवमूर्त्तिकी उपासना करनेकी विधि इस पन्थमें नहीं है। इस पन्थके लोग एक चौकीपर इस ग्रन्थको रखकर मन्त्रोच्चारण पूर्वक पुष्प चन्दन मिष्टान्न ताम्बूलादि सामग्रीसे उसकी पूजा करते हैं और श्रद्धाभक्ति सहित बाजे गाजेके साथ तुलसीदासजी और सूरदासजीके विरचित भजन गाते रहते हैं। इनके मतमें इस ग्रन्थकी पूजा करनेसे ही भगवान्‌की पूजा हो जाती है। ये लोग भगवान्‌को हो स्वामीनारायण कहते हैं और किसीकी मृत्यु होती है तो स्वामीनारायण स्वामीनारायण बारम्बार कहते हुए मुर्देको ले जाते हैं।

अहमदाबाद जामनगर जूनागढ़ भावनगर इन चार स्थानोंमें इनके देवालय हैं। ये चारों स्थान ही गिरनार काठियावाड़ और गुजरात प्रदेशमें हैं। प्रतिवर्ष इन चारों स्थानोंमें इनका उत्सव होता है। फाल्गुनमासमें अहमदाबादमें, कार्तिक मासमें जामनगरमें; चैत्रमासकी रामनवमीके दिन जूनागढ़में और ज्येष्ठमासकी पूर्णिमाके दिन भावनगरमें बड़े समारोहके साथ एक एक मेला होता है। इस पन्थके लोग सबही गृही होते हैं। कुर्म्मी काठी वणिक् ब्राह्मण आदि अनेक जातिके लोगोंने इस पन्थमें प्रवेश किया है किन्तु इस धर्म्मपंथमें प्रवेश करनेपर भी कोई भी अपनी जातिके लोगोंके सिवाय अन्य जातिके लोगोंके हाथका भोजन नहीं करते हैं। यह पन्थ वर्णाश्रमका पक्षपाती न होने पर भी वर्णाश्रमका प्रभाव यह पन्थ हटा नहीं सका है।

गोरखपन्थमें यद्यपि सन्न्यासभावकी प्रधानता अधिक है, परन्तु गोरखपन्थको प्रकारान्तरसे त्यागी और गृही दोनोंका ही पन्थ कह सकते हैं। जैसे कबीरपन्थी और नानकपन्थी आदिमें भी गृहस्थ और त्यागी दोनों पाये जाते हैं, उसी प्रकार गोरखपन्थमें भी पाये जाते हैं; परन्तु दशनामी पन्थमें वैसा नहीं पाया जाता है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार गोरखपन्थी साधु अपने धर्मसे भ्रष्ट होकर संयोगी गृही बन जाते हैं, उसी प्रकार अनेक दशनामी साधु संयोगी गृही बन गये हैं और उनकी सन्तति भी चल निकली है जैसा देखनेमें आता है। संक्षेपसे दशनामी पन्थका रहस्य वर्णन किया जाता है। शिवावतार श्रीभगवान् शंकराचार्य महाराजने सनातनधर्मके उद्धारार्थ जितने कार्य किये थे उनमेंसे एक प्रधान कार्य सन्न्यासाश्रमका उद्धार भी है। उन्होंने वर्तमान दण्डीनामधारी सन्न्यासी सम्प्रदायका प्रचलन किया था। संन्यासके चार भेद हैं, यथा-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। कुटीचक और बहूदकमें शिखासूत्र रखकर सन्न्यास लेनेकी विधि है और हंस तथा परमहंसमें इनका त्याग कहा गया है। श्रीभगवान् शङ्करके द्वारा चलाये हुए दण्डी सम्प्रदायमें हंस नामक सन्न्यासका आचार रक्खा गया था और दण्डी केवल ब्राह्मणजातिमेंसे होसकते हैं ऐसी आज्ञा दी गई थी। भारतवर्षको चार भागोंमें विभक्त करके चार प्रधान धर्मपीठ स्थापन किये गये थे। उत्तरमें बद्रिकाश्रममें जोशीमठ, पश्चिममें द्वारकामें शारदामठ, पूर्वमें जगन्नाथपुरीमें गोवर्द्धनमठ और दक्षिणमें शृंगेरीमें शृंगेरीमठ नामसे चार पीठ स्थापन हुए थे। इनमें चार दण्डी आचार्य धर्मराजरूपसे बैठाये गये थे। उस समय वे चारों

आचार्य कहाते थे। कुछ दिनोंके अनन्तर इन चारोंके दस शिष्य हुए। वे दशनामी कहाने लगे। उन दशनामियोंकी उपाधियाँ ये हैं, यथा—गिरि, पुरी, वन, पर्वत, सागर, अरण्य, भारती, सरस्वती, तीर्थ और आश्रम। इन दशोंमेंसे अभीतक तीर्थ आश्रम और सरस्वती इन तीनोंमें तथा भारतीके केवल शृंगेरीके घरानेमें प्राचीन शुद्ध आचार प्रचलित है अर्थात् वे दण्डी होते हैं और ब्राह्मणोंमेंसे होते हैं। बाकी और सब नामधारिगण भगवान् शङ्करके द्वारा चलाये हुए आचारके अनुसार नहीं चलते हैं, इसलिये ये दशनामी कहलाते हैं। दशनामी साधुओंका आचार वर्णाश्रमधर्म्मके अनुकूल नहीं रह सका, क्योंकि सब जातिके लोग इस पन्थके साधु बनने लगे। इस पन्थके साधु युद्धकार्यमें भी बड़े निपुण हुए थे और किसी समय सात अखाड़े स्थापन करके हिन्दूजातिके रक्षाकार्यमें दशनामियोंने बड़ी सहायता दी थी। कालप्रभावसे वर्णाश्रममर्य्यादाका बिलकुल लोप कहीं कहीं होकर इनमें अनेक संयोगी साधु भी बन गये हैं, उनकी प्रजा भी बहुत स्थानोंमें अभी फैली हुई है। यह पन्थ अपना सङ्ग शास्त्रोंके साथ रखता रहा है इस कारण इस पन्थमें वर्णाश्रममर्यादा और वैदिक विज्ञानका पूरा सम्बन्ध भी कहीं कहीं दिखाई देता है और कहीं कहीं अन्य पन्थोंकी तरह विरुद्ध बातें भी दिखाई पड़ती हैं।

आज दिन तक अगणित पन्थ भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें प्रचलित हैं, इनमेंसे बहुतसे पन्थ सम्प्रदायके निकट बैठालने योग्य हैं और बहुतसे पन्थ घोर वर्णाश्रमविरोधी दिखाई पड़ते हैं; परन्तु प्रायः यह पन्थसमूह अपना पथ मध्यवर्त्ती ही रखते हैं। कुछही हो इस घोर कलिकालमें ईश्वरभक्ति, आत्मज्ञान, परलोकपर विश्वास, दैवीजगत्पर निष्ठा, भगवन्नाम संकीर्त्तन, मनुष्योंमेंसे निरंकुशता दूर करना, गुरुभक्ति प्रचार करना, योगसाधनमें प्रवृत्ति देना, विषय वैराग्य उत्पन्न करना, आदि कार्योंके लिये ये पन्थ बहुतही उपयोगी हैं। इन पन्थोंकी कृपासे भारतवर्षकी अनेक प्रजाओं और नरनारियोंका कल्याण हो रहा है इसमें सन्देह नहीं।

षष्ठ समुल्लासका चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।
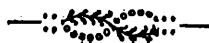
धर्ममतसमीक्षा

धर्ममतोंके लक्षण वर्णनके प्रसङ्गमें पहले ही कहा गया है कि सम्प्रदाय तथा पन्थोंकी तरह धर्ममतोंमें वैदिक वर्णाश्रमादि व्यवस्थाओंका कुछ भी अनुवर्तन नहीं पाया जाता है। वे केवल सनातनधर्मरूपी कल्पतरुकी किसी शाखा या प्रशाखाकी छायाके आश्रयसे बनते हैं और तदनुसार ही इनके द्वारा धर्मके अन्तिम लक्ष्यरूप मुक्ति भूमिमें परम्परारूपसे जीवोंकी गति होती है। जिस प्रकार समस्त नदियोंकी गति सरल या वक्र होनेपर भी समुद्र ही सबका अन्तिम लक्ष्य है, ठीक उसी प्रकार सभी धर्ममत अद्वितीय परमात्माकी ओर ही मुमुक्षुको ले जाते हैं। पथ भिन्न भिन्न हैं और गतिके दूरत्व तथा कठिनाइयोंमें पार्थक्य हो सकता है, परन्तु लक्ष्य सभीका एक है इसमें सन्देह नहीं। यह लक्ष्य जब तक मनुष्य देहात्म-वाद भूमिमें रहता है तब तक उसके अन्तःकरणमें प्रकट नहीं हो सकता है, क्योंकि जहाँ अविद्याकी घनी घटा छाई है वहाँ पर सूर्यका प्रकाश सम्भव नहीं; परन्तु देहात्म-वाद भूमिसे थोड़ा अग्रसर होकर आत्माको स्थूल शरीरसे पृथक् माननेका अधिकार प्राप्त होते ही आत्माकी ओर निज निज अधिकारानुसार जीवका लक्ष्य स्वयं ही प्रकट होने लगता है और तब वह धीरे-धीरे जानने लगता है कि आत्मा स्थूल-शरीर नहीं है उससे कुछ अतिरिक्त वस्तु है अर्थात् जिस प्रकार चने या चावलके दानेके ऊपर छिलके होते हैं, उसी प्रकार चेतन आत्माके ऊपर शरीरोंकी उपाधिमात्र हैं आत्मा उनसे सम्पूर्ण पृथक वस्तु है। उसी समय जीवोंमें आत्माके जाननेके लिए इच्छा उत्पन्न होती है और बाहरके विषयोंमें अनेक मतभेद तथा अधिकारभेद रहनेपर भी सबके भीतर विराजमान तथा सबके लक्ष्यभूत परमात्माकी प्राप्तिके लिए जीव उद्योग करना प्रारम्भ करता है।

सनातनधर्म सब धर्मोंका पितृस्थानीय है। इसीके अंगोपांग तथा शाखा-प्रशाखाके आश्रयसे संसारके सभी धर्ममत उत्पन्न हुए हैं। इसलिए सभीके सिद्धान्त सनातनधर्मके भीतर पाये जाते हैं। जिसप्रकार मूल वृक्षमें जो उपादान रहता है, उसीका विस्तार शाखा प्रशाखाओंमें हो जाता है, उसी प्रकार सनातनधर्मके अनन्त अधिकारनुसार अनन्त सिद्धान्तोंका सन्निवेश, किसी न किसी रूपसे सभी धर्ममतोंके भीतर पाया जाता है। अतः न इसका किसी धर्मसे विरोध है और न किसी धर्ममतमें इसके साथ विरोध करनेका अवसर ही है। अब नीचे कुछ धर्ममतोंके सिद्धान्तोंका उल्लेख करके सनातनधर्मके सिद्धान्तोंके साथ उनका सामञ्जस्य बताया जाता है।

ईसाईधर्ममत, यहूदीधर्ममत तथा मुसलमान धर्ममतोंमें ईश्वरको निराकार कहनेपर भी उनके अनेक क्रिया कलाप बताये गये हैं, यथा वे सृष्टि-स्थिति प्रलय करते हैं, पाप पुण्य कर्मानुसार जीवोंको स्वर्ग या नरक प्राप्त कराते हैं इत्यादि इत्यादि। विचार करनेपर पता लगेगा कि हिन्दूधर्मके भीतर इन सभी सिद्धान्तोंका समावेश किया गया है। यहाँ पर पाप पुण्यकी विचारकर्त्री ईश्वरीय शक्तिको यमराज कहा गया है। सृष्टिकर्त्री शक्तिको ब्रह्मा, स्थितिकारिणी ईश्वरीय

शक्तिको विष्णु और प्रलयकारिणी ईश्वरीयशक्तिको रुद्र कहा गया है। इसी प्रकारसे उपासनामार्गमें सहायता प्रदानार्थ अन्य धर्ममतोंकी तरह सनातनधर्ममें भी ब्रह्म ईश विराट्की पूजाके निमित्त कल्पना की गई है। धर्मकल्पद्रुमके ७२ शाखायुक्त स्वरूपका जो वर्णन पहले अध्यायोंमें आ चुका है उसमेंसे ईसाईधर्म और मुसलमानधर्मकी ईश्वरोपासनाकी तामसिक ब्रह्मोपासना करके मान सकते हैं; क्योंकि इन दोनों धर्ममतोंका ईश्वर ज्ञान सनातनधर्मके ब्रह्म ईश्वर और विराट्के तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षणसे कुछ भी न मिलनेपर भी निराकार, सर्वव्यापक आदि रूपोंका कुछ-कुछ अनुभव उनके शास्त्रमें पाया जाता है। एक दिनमें सब जीवोंके पाप पुण्यके विचारकी कल्पना तथा ईश्वरके द्वारा विचार करनेकी भावना उनके शास्त्रोंमें मिलती हैं। सनातनधर्मके अनुसार वह अधिकार यमराजको कहा गया है। भेद इतना ही है कि सनातनधर्मके यमराज प्रत्येक मनुष्यके पाप पुण्यका विचार उसके प्रत्येक जन्मके अन्तमें किया करते हैं और इन मतोंमें विचार सबका एकबार ही होता है। इसमें केवल विचारकी असम्पूर्णता है, मतभेद कुछ भी नहीं है।

बौद्धधर्म तथा जैनधर्मके ऊपर सनातनधर्मने ऐसी उदार दृष्टि की है कि उनके प्रवर्त्तक बुद्धदेव तथा ऋषभदेवको श्रीभगवान्‌के अवतार कहकर उनकी पूजा की है। अवतारका विज्ञान जैसा इन धर्म्ममतोंने वर्णन किया है वैसा हिन्दू-धर्ममें भी मिलता है। केवल बौद्ध तथा जैनाचार्योंने अवतारको पूर्ण मानव कहा है और आर्यशास्त्रोंमें उनको साक्षात् ब्रह्मा विष्णु शिवरूपी त्रिमूर्तिसे विष्णु और शिवशक्तिका रूप बताकर अवतारतत्त्वकी गम्भीर महिमाको और भी परिस्फुट कर दिया गया है। धर्मकल्पद्रुमके पंचमखण्डमें अवतारतत्त्वका रहस्य वर्णन करके श्रीभगवान्‌का अवतार अथवा देवता और ऋषियोंके अवतारोंका जो बिस्तृत वर्णन किया गया है उस प्रकार पूर्ण विज्ञान यद्यपि जैन और बौद्ध मतके ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है; परन्तु पूर्व कथित ७२ अंङ्गोंमेंसे लीलाविग्रहोपासनाके राजसिक और तामसिक स्वरूपका सादृश्य इन मतोंके तीर्थङ्कर और बुद्ध शब्दके साथ पाया जाता है, इसमें सन्देह नहीं। ये धर्म्ममत अपने अपने धर्म्म प्रवर्त्तकोंको पूर्ण मनुष्यरूपसे मानकर ईश्वरतत्त्वका यथार्थस्वरूप न समझनेपर भी उनके अवतार-तत्त्वके रूपान्तरसे माननेवाले हैं इसमें सन्देह नहीं। अतः लीलाविग्रहोपासनाके विचारसे ये दोनों मत सनातनधर्मके ही अनुगामी हैं यह कहना ही पड़ेगा।

कर्मका विज्ञान जैसा कि आर्यशास्त्रमें बताया गया है वैसा बौद्ध और जैन-धर्म्ममतोंमें भी पाया जाता है। केवल हिन्दूधर्म्ममें इस विज्ञानका बहुत बिस्तारके साथ वर्णन किया गया है। दैवजगतपर विश्वासके विषयमें इन दोनोंके साथ मतकी एकता देखी जाती है। मन्त्र-हठ लय राजरूपी योगचतुष्टयके क्रिया-सिद्धांशकी भी इन मतोंके आचार्योंने अक्षरशः मान लिया है। बौद्धधर्म्म ज्ञान-काण्डके साथ आर्यशास्त्र कथित सप्त ज्ञानभूमियोंकी बहुधा एकता देखी जाती है। केवल चार वर्ण और आश्रमके धर्मके विषयमें हिन्दूधर्म्मके साथ इन धर्ममतोंका पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है सो यह सबपर ही प्रकट है कि वर्णाश्रमधर्म्म हिन्दू जातिका एक वैसा विशेष अधिकार है जो पृथ्वीके और किसी धर्ममत या पन्थमें

हो ही नहीं सकता। आध्यात्मिक लक्ष्ययुक्त हिन्दूजातिके इस वर्णाश्रमधर्म-शैलीका अनुकरण और कोई नवीन जाति कर ही नहीं सकती और न इससे लाभ उठा सकती है, इस कारण वर्णाश्रमधर्म्मके सम्बन्धमें जो पार्थक्य है वह पार्थक्य विशेष पार्थक्य है। इसकी गणना साधारणतः नहीं होनी चाहिए।

उपासनाराज्यमें आर्यधर्मने जो अपूर्व उदारता दिखाई है उसको देखकर कौन निष्पक्षपात मनुष्य चकित नहीं होगा। आर्यशास्त्रोंमें अधिकार भेदानुसार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि स्थूल वस्तुओंकी पूजासे लेकर वृक्ष पूजा सर्पपूजा, प्रेत-पूजा, मृतआत्माकी पूजा, वीर पुरुषोंकी पूजा, पिशाच यक्ष रक्ष, गन्धर्वादिकी पूजा और तदन्तर देवपूजा, ऋषिपूजा, पितृपूजा, अवतारपूजा, विष्णु शिवादि सगुण ब्रह्मपूजा और अन्तमें अद्वितीय नामरूप रहितनिर्गुण ब्रह्मपूजा इस प्रकारसे सभी अधिकारकी पूजापद्धति बताई गई है। इसमें संसारके सभी धर्ममत अपने अपने अधिकारानुसार उपासनाके विषय अन्तर्भूत देख सकते हैं।

भगवद्भक्तिके विषयमें हिन्दूशास्त्रमें जो अपूर्व वर्णन मिलता है उसके साथ ईसाई तथा मुसलमानधर्ममतोंके अवलम्बिगण भक्ति सम्बन्धीय अपने अपने सिद्धान्तों-की सम्पूर्ण एकता देख सकेंगे। इसी प्रकार परलोक तथा पुनर्जन्मके विषयमें भी बौद्ध, जैन तथा पारसी धर्ममतोंकी हिन्दूधर्मके साथ वैज्ञानिक एकता देखी जायेगी।

पापी स्पिरिटके साथ जो पुण्यमय स्पिरिटका चिरविरोध पारसीधर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म तथा मुसलमानधर्म आदि धर्ममतोंमें वर्णित देखा जाता है उसका अति विस्तृत तथा विज्ञानाकूलवर्णन स्थूल सूक्ष्म-कारण जगतमें देवासुरोंके नित्य संग्राम वर्णनरूपसे हिन्दूशास्त्रमें भली भांति प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्वर्ग तथा नरकके भी अनेक वर्णन दैवजगत्के वर्णन प्रसंगमें उन्नति तथा अवनतिके नाना स्तर वर्णन विचारसे हिन्दूशास्त्रमें पाये जाते हैं। पुण्यका पुरस्कार तथा पापका भीषण शासन जैसा कि ईश्वरीय विचार दिनके रूपसे अन्यान्य धर्ममतोंमें वर्णित है, वैसा और उससे भी बहुत अधिक तथा विस्तृत रूपसे हिन्दूशास्त्रमें भी पाया जाता है। जिन जिन धर्ममतोंमें पुनर्जन्म नहीं माना गया है उनमें सब आत्माओंके लिये मृत्युके बाद एक विचारका दिन बताया गया है, इसी संकुचित सिद्धान्तका वैज्ञानिक विस्तारित वर्णन आर्यशास्त्रमें किया गया है जिसके अनुसार जीवको मृत्युके अनन्तर शुभाशुभ प्राक्तन वेगसे अनेक उन्नत तथा अवनत लोकोंमें सुख दुःख भोगनेके लिये जाना पड़ता है।

इस प्रकारसे अन्यान्य धर्ममतोंके साथ हिन्दूधर्मके अनेक वैज्ञानिक विषयों-की एकता देखनेमें आती है। केवल उपचार और वर्णाश्रमधर्मके सम्बन्धमें ही हिन्दू धर्ममें कुछ विशेषता पायी जाती है जो उन सब धर्ममतोंमें नहीं देखनेमें आती। इसी कारण वर्णाश्रमधर्मको विशेषधर्म करके हिन्दूशास्त्रमें बताया गया है। यद्यपि अन्यान्य धर्ममतोंमें अपनी अपनी रीतिके अनुसार कुछ कुछ आचारके लक्षण तथा खानपान, विवाह और जीवनकी अवस्था विभागके रूपमें वर्णाश्रमके भी लक्षण देखनेमें आते हैं, तथापि अत्यन्त अस्पष्ट होनेके कारण सामाजिक

जीवनके सर्वमान्य नियम तथा रीतियोंके साथ उनका अभी तक घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हुआ है। इसका प्रधान कारण यह है, कि जिस उदार और पूर्ण दृष्टिके साथ अतिस्थूलसे लेकर अतिसूक्ष्म तकका सामञ्जस्य तथा परस्परापेक्षत्व विज्ञान अन्तर्दृष्टि सम्पन्न महर्षियोंने अनुभव किया था, वैसा अनुभव अभी तक अन्यान्य-देशोंमें तथा धर्ममतोंमें नहीं हुआ है। आचारका सम्बन्ध स्थूलशरीरके साथ है। धर्मानुकूल स्थूलशरीरके उन्नतिकर व्यापारको ही आचार कहते हैं। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीरका विस्तारमात्र होनेसे सूक्ष्मशरीरकी उन्नतिकेलिये स्थूलशरीरको पवित्र रखना उसके अर्थ आचारपालन करना अवश्य ही उचित है। उसी प्रकार वर्णाश्रमधर्मका सम्बन्ध दैवजगत्के साथ बहुत कुछ रहता है। जीव प्राक्तनानुसार देवताओंकी प्रेरणाके द्वारा ही भिन्न भिन्न जातिमें जीवोंका जन्म होता है और तदनुसार चार आश्रमोंका पूर्ण या अपूर्ण पालन जीव कर सकता है। दैवजगत् अति दुर्ज्ञेय है। विना सूक्ष्म योगदृष्टिके कोई भी उसका पता नहीं लगा सकता है। प्राचीन आर्यमहर्षिगणने योगशक्तिके द्वारा स्थूलजगत्, सूक्ष्मजगत्, आध्यात्मिक जगत् तथा दैवजगत्का पता लगाकर और उनमें परस्परके साथ क्या नित्य सम्बन्ध विद्यमान है इसका भी अनुभव करके तीनों शरीरोंके द्वारा आत्मोन्नतिमें सहायता लाभार्थ आचार और वर्णाश्रमधर्मका विधान किया है। अन्यान्य धर्ममतोंकी उत्पत्ति जिन देश कालोंमें हुई है या जिन लक्ष्योंको लेकर उनके नियमादि प्रवर्तित किये गये हैं उनमें आर्यमहर्षियोंकी तरह सब ओर देखनेका अवसर नहीं हुआ है। यही कारण है कि वर्णाश्रमधर्म तथा आचारके विषयमें अन्यान्य धर्ममतोंके साथ मतभेद पाये जाते हैं; तथापि इस प्रकारकी विधियां लक्ष्य सिद्धिके अवान्तर साधनमात्र हैं। लक्ष्य सभीका एक होनेसे विशेष धर्मराज्यमें इस प्रकारकी विभिन्नता हानिकारक नहीं हो सकती। जिस प्रकार भूमियोंकी उच्चताका तारतम्य उपत्यका अधित्यका आदिका भेद, वृक्षोंकी छुटाई बड़ाई, नदी समुद्र ह्रद आदिका पार्थक्य, पृथिवीके ऊपर चलते हुए ही दिखाई दे सकते हैं, किन्तु अति उच्चपर्वत शृंगपर आरोहण करनेसे अथवा व्योमयानपर चढ़कर शून्य-मार्गमें बहुत ऊँचा चढ़नेसे ऊपर लिखित कोई भी पार्थक्य नहीं दिखाई देते, ठीक उसी प्रकार उच्च ज्ञानभूमिपर प्रतिष्ठित उदार महात्माकी दृष्टिमें धर्ममतोंके साधारण पार्थक्य अकिञ्चित्कर ही हैं और इसी उदारदृष्टिके साथ संसारके समस्त धर्ममतोंको प्रेममय अङ्कमें आश्रय देना ही सनातनधर्मका यथार्थ स्वरूप है।

अन्तिम लक्ष्यके एक होनेसे सत्यप्रयासी सभी साधक सत्यराज्यमें साधनाकी सभी बातें अभिन्न रूपसे ही प्राप्त करते हैं। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि मुसलमान महात्माओंने भक्तिकी जो ११ दशायें बताई हैं आर्यशास्त्रवर्णित भक्ति लक्षणोंके साथ उनका पूरा सामञ्जस्य दिखाई देता है। वे ११ दशायें निम्नलिखित रूप हैं—

(१) मवाफिकत—इस अवस्थामें आत्मा, वैषयिक अनात्माओंसे हटकर श्रीभगवान्के भक्तोंके साथ अनुरागमें बद्ध होता है।

(२) मेल—इस अवस्थामें भक्तका चित्त भगवद्भावमें ही आसक्त होजाता है और सांसारिक विषयोंके प्रति घृणा करने लगता है।

(३) मवानिसत्--इस अवस्थामें भगवान्के लिये भक्तके चित्तमें तीव्र आकांक्षा हो जाती है और वह वैषयिक वस्तुओंको क्रमशः छोड़ देता है।

(४) मवद्दत्—इस अवस्थामें एकान्तमें प्रार्थनाद्वारा भक्तहृदय पवित्र होकर भगवान्के प्रति आकृष्ट हो जाता है।

(५) हवा-इस अवस्थामें भक्तका हृदय सदा ही भगवद्भावमें रति रखता है।

(६) सुल्लत—इस अवस्थामें भक्तका अन्तःकरण भगवान्के प्रति प्रेमसे पूर्ण हो जाता है और उसमें भगवच्चिन्ताके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता है।

(७) मुहब्बत—इस अवस्थामें भक्तका हृदय समस्त वैषयिक दोषोंसे मुक्त होकर उन्नत आध्यात्मिक गुणोंसे पूर्ण हो जाता है।

(८) सगफ—इस अवस्थामें हृदयका समस्त आवरण उन्मुक्त हो जाता है और प्रपञ्चका सभी विषय पाप करके जान पड़ता है।

(९) हैमू—इस अवस्थामें भक्त प्रिय भगवान्के प्रेममें उन्मत्त हो जाता है।

(१०) वेल—इस अवस्थामें प्रिय भगवान्की माधुरी भक्तहृदय दर्पणमें अनुक्षण प्रतिफलित रहा करती है और भक्त इसी मधुर रसमें निमग्न होजाता है।

(११) इश्क—यही अन्तिम अवस्था है इसमें भक्त अपनेको भूलकर भगवद्भावमें ही तन्मय हो जाता है और उसीमें शान्तिमय, परमानन्दमय, विश्राम लाभ करता है। विचार करनेपर यही सिद्धान्त निकलेगा कि आर्यशास्त्र कथित वैधी और रागात्मिका दशाकी भक्ति जिसका वर्णन धर्मकल्पद्रुमके तृतीय खण्डमें किया गया है उसके साथ उपरलिखित ग्यारह अवस्थाकी अनेक विषयोंमें एकता है।

इसीप्रकार आर्यशास्त्रोक्त सप्तज्ञानभूमियोंके साथ मुसलमान महात्माओंके द्वारा कथित आध्यात्मिक उन्नतिकी पाँच अवस्थाओंकी अनेकांशमें तुलना हो सकती है। वे पाँच अवस्था निम्नलिखित रूप हैं—

(१) आलम्-ए-नासूत्—वह अवस्था है जिसमें जीव वैषयिक वासनाओंके द्वारा बद्ध रहता है।

(२) आलम्-ए-मालकूट—वह अवस्था है जिसमें जीव परमात्माकी चिन्ता और साधनमें प्रवृत्त रहता है।

(३) आलम्-ए-जावरूट—वह अवस्था है जिसमें आत्माका कुछ कुछ ज्ञान होने लग जाय।

(४) आलम्-ए-लोहूट—वह अवस्था है जिसमें आत्मज्ञानका विशेष विकास हो।

(५) आलम्-ए-हाहूट—वह अवस्था है जिसमें साधक आत्माको जानकर परमात्मामें निमग्न हो जाय।

जीव ब्रह्मकी एकताका आभास कहीं कहीं कुरानकी कविताओंमें भी मिलता है—यथा—"मैं तुम्हारे साथ हूँ, तथापि तुम मुझे नहीं देखते हो" मैं जीवोंमें गुप्त तत्त्व हूँ और जीव भी वैसे ही मुझमें।" जब सुफीलोग इस तत्त्वको जान लेते हैं तब

समस्त संसारमें सिवाय उनके प्रिय भगवान्‌के और उन्हें कुछ नहीं दीखता है और तभी वे कह उठते हैं कि "मैं सत्य स्वरूप हूँ" "मैं वही प्यारा हूँ" इस प्रकार अद्वैत-वादके प्रचारके कारण ही हुसेनको जनपदवासियोंके हाथ प्राणदण्ड भोगना पड़ा था, क्योंकि साधारण प्रजा उनकी इन सब उच्च चिन्ताओंको समझ नहीं सकती थी।

मुसलमान धर्ममतकी तरह यहूदी धर्ममतमें भी वैसी अनेक बातें पाई जाती हैं जिनके साथ हिन्दूधर्मके अनेक विषयोंका मेल है। इस मतके धर्म-ग्रन्थोंसे यह पता लगता है कि इसके प्रवर्त्तकगण आर्यमहर्षियोंकी तरह आत्माकी जन्मान्तर गतिको मानते थे। वे लोग ऐसा भी मानते हैं कि इनके दो आदिगुरु आदिपुरुष आदमसे ही प्रकट हुए हैं। इस विषयमें आर्यशास्त्रोक्त कलावतारके विज्ञानके साथ इस मतकी एकता है। इसके सिवाय वैदिक त्रिमूर्ति, गुरुतत्त्व आदि अनेक विषयोंमें हिन्दुधर्मके साथ इस मतकी समता देखनेमें आती है। उपासनाकी पद्धतियोंमें भी प्रायः हिन्दूशास्त्रीय सभी रीतियोंका ग्रहण इस मतमें किया गया है। मन्त्रयोगसाधनविधिके अनुसार भगवत्-स्मरणकीर्त्तन, आनन्दविलास, नृत्य गीत आदि बहुत कुछ इनके यहाँके साधनोंमें पाये जाते हैं।

यहूदी धर्ममतकी तरह पारसी धर्ममतमें भी हिन्दूधर्मके साथ बहुत विषयोंमें वैसी ही एकता देखनेमें आती है। इस धर्ममतके सभी सिद्धान्त अतिप्राचीन ईरान धर्ममें मिलते हैं और उसीपर विचार करनेसे वैदिकधर्मके साथ कहाँ कहाँ सामञ्जस्य है उसका पता लगता है। आजकल इनके यहाँ हिटाईट शिलालिपिका आविष्कार हुआ है इससे निर्णय होता है कि आर्यशास्त्रमें जैसे वरुणमित्र, इन्द्र आदि देवतागण माने गये हैं वैसेही इनके यहाँ भी माने जाते थे। हिन्दूधर्ममें जैसे जलदेवता, अग्निदेवता आदिकी पूजा होती है, वैसेही उनके यहाँ भी दैत्यरिपु, युद्ध देवता, इन्द्र प्रमुख देवताओंकी पूजा होती थी और विशेष विशेष समयपर सोमरसका भी सेवन और पूजामें अर्पण होता था। देवता और असुरोंके विषयमें जैसा कि आर्यशास्त्रमें वर्णन है वैसा इस धर्ममतमें भी मिलता है, केवल इतना ही भेद है कि यहाँपर सत्त्वगुणकी अधिष्ठात्री उत्तमकोटिकी चेतनशक्तिको देवता कहा जाता है और तमोगुणकी अधिष्ठात्री अधमकोटिकी चेतनशक्तिको असुर कहा जाता है; किन्तु इस धर्ममतमें असुरोंमें देवताओंके लक्षण और देवताओंमें असुरोंके लक्षण वर्णित किये गये हैं। इसमें केवल नामका ही भेदभाव है अर्थात् हम जिसको देवता नाम देते हैं, वे उसको असुर नाम देते हैं और हम जिसको असुर नाम देते हैं, वे उसको देवता कहते हैं। आर्यशास्त्रकी तरह इस धर्ममतमें भी संसारको देवासुर-संग्रामका नित्य निकेतन बताया गया है और मनुष्यके अन्तःकरणको भी उस संग्रामकेलिये एक प्रधान स्थान कहा गया है। जब मनुष्य शरीर, मन बचनसे अच्छा कार्य करता है तो स्वतः ही देवताओंकी शक्ति बढ़ती है, इसी प्रकार मन्द कर्मानुष्ठान करने पर असुरोंकी शक्ति वृद्धिंगत होती है और तभी संसारमें तथा मनुष्यजीवनमें अनन्त अनर्थ उत्पन्न होते हैं।

आर्यशास्त्रीय सप्त ज्ञानभूमियोंकी तरह इस धर्ममतमें भी आध्यात्मिक उन्नतिके छः सोपान बताये गये हैं यथा—

(१) याहुमानो—मनुष्योंकी समस्त सद्वृत्तियाँ जिससे आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर मनुष्योंकी चेष्टा होती है।

(२) आशेम—सत्य, उत्तम और धार्मिक समस्त गुणोंकी समष्टि।

(३) चात्रेम—दिव्यराज्य और दिव्यशक्तिका अस्पष्ट विकाश।

(४) अमैति—दिव्यशक्तिके प्रति श्रद्धाप्रदर्शन।

(५) औवीतात्—पूर्णता प्राप्ति।

(६) अमेरेतात्—अमृतत्वलाभ।

ऊपरलिखित धर्ममतोंकी तरह ईसाईधर्ममतके भीतर भी कहीं कहीं एकताका आभास देखनेमें आता है। इस धर्ममतके प्रधान ग्रन्थ बाईबिलमें सृष्टि विकाशके विषयमें लिखा है कि सृष्टिके पहले सर्वत्र घोर अन्धकार छाया हुआ था, परन्तु परमात्माके इच्छा करनेपर सर्वत्र प्रकाश हो गया। आर्यशास्त्रमें भी इसी इच्छाशक्तिका बहुधा वर्णन देखनेमें आता है। यथा—एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय। परमात्मा प्रलयके समय एकाकी ही थे, किन्तु प्रलय गर्भविलीन समष्टि जीवोंके संस्कार जब फलोन्मुख हुए तो उनके भीतर एकसे बहुत होनेकी स्वतः इच्छा उत्पन्न हुई और उसी इच्छासे उनकी शक्तिरूपिणी माया प्रकट होकर उन्होंने समस्त संसारको प्रसव किया। अतः इन दोनों सिद्धान्तोंमें एकताका आभास अवश्य ही देखनेमें आता है। तदनन्तर सेन्टजानके उपदेशमें भी मिलता है यथा—"सृष्टिके प्राक्कालमें शब्द था, वह शब्द ईश्वरके साथ था और ईश्वररूप था।" इसमें आर्यशास्त्रकथित शब्द सृष्टिकी झलक देखनेमें आती है। ईसाई धर्ममतमें जो पिता, पुत्र, पवित्रात्माका वर्णन देखनेमें आता है उसके साथ भी आर्यशास्त्रीय अवतार आदिके विज्ञानकी एकता देखनेमें आती है। उसमें परमात्मा पिता हैं, संसारमें लीला विलासकेलिये नानारूपमें उनका प्रकाश पुत्रभाव है और उन्नत जीवात्माओंको अपनी ओर आकर्षण करना पवित्रात्माका कार्य है। श्रीभगवान् भी आर्यशास्त्रोंमें भक्तजनोंके कल्याणके लिये युगयुगमें वैसी ही महिमाके विस्तार-कर्तारूपसे वर्णित किये जाते हैं।

ईसाई धर्ममतके प्रवर्तक ईसामसीके अनेक वाक्योंमें वेदान्तशास्त्रकी झलक देखनेमें आती है, यथा—"मैं अपने परमपिताके भीतर हूँ और तुम सब मेरे ही भीतर हो" तुम मुझमें हो और मैं तुममें हूँ "मैं और परमपिता एक ही हैं" इसमें प्रथम दोनों—वाक्योंमें कुछ द्वैतका आभास रहनेपर भी तृतीय वाक्यमें अद्वैतभावकी पूरी झलक आई है। यद्यपि पश्चिम देशके लोग अभी तक इन सब गम्भीर भक्तवाणियोंके रहस्य भेदमें समर्थन नहीं हुए हैं, तथापि अद्वैतभावके रहस्य भेदकारी आर्यशास्त्रकी सहायतासे ही इन सब वाणियोंका यथार्थ स्वरूप संसारके सामने प्रकट हो सकता है।

'स्वर्ग मेरा है पृथिवी मेरी है, पुण्यात्मा तथा पापी सभी मेरे हैं' ईश्वर

मेरा है, तुम किसके लिये ढूँढ रहे हो, सब तो तुम्हारे ही हैं" इस प्रकार के वचन जो जनएपेसने कहे थे उसमें भी उसी विज्ञानका स्पष्ट आभास मिलता है क्योंकि मुमुक्षु अपने भीतर ब्रह्मसत्ताका 'अनुभव करके उसीमें समस्त संसारको ओतप्रोत देख सकता है। यह सब आर्यदर्शन शास्त्रकी पञ्चम तथा षष्ठ भूमियोंके अनुभवका प्रमापक है। इसी प्रकार भक्तिशास्त्रमें भी जो "वह मेरा है" "मैं उसका हूँ" तथा "वह और मैं एक ही हूँ" इस प्रकारके तीन अन्तिम लक्ष्य बताये हैं इसका भी आभास कहीं ईसाई महात्माओंके वचनोंसे प्राप्त होता है। यथा "प्रेमका यह स्वरूप ही है कि जिससे प्रेम किया जाय उसके साथ अभिन्न भावकी सिद्धि हो। परमात्माके साथ एकता प्राप्त करनेके सिवाय जीवात्माकी उन्नतिका और कोई भी उपाय या लक्ष्य नहीं हो सकता है।"

अतः उदार विचारकेद्वारा यही सिद्धान्त निश्चय हुआ कि अन्तिम लक्ष्य की अभिन्नताके कारण और ईश्वरप्रेरित ज्ञानज्योतिका विकाश सब जातिके उन्नत मनुष्योंके हृदयमें होनेकी संभावना रहनेके कारण अध्यात्मरहस्यकी ज्योति पृथिवीके सब मतोंमें यथासंभव प्रकाशित होती आई है। आदि अन्त रहित काल समुद्रके गर्भमें अनेक धर्ममत डूब गयें हैं और कितने ही धर्ममत सनातनधर्मके आचार मानते हुए पीछेसे सनातनधर्मके पन्थ बन गये हैं। अभी भी अनेक धर्ममत उस समुद्रके ऊपरके स्तर पर वुदवुदकी नाई तैर रहे हैं। परन्तु उन सभोंमें अनादि सिद्ध, नित्यस्थित सर्वव्यापक, सर्वजीवहितकारी सनातनधर्मकी ज्योति विद्यमान है। सनातनधर्मरूपी सूर्यके अनन्त किरणोंमेंसे एक या ततोधिक किरण-कणकी सहायतासे प्रकाशित होकर पृथिवीके विभिन्न धर्ममत अपनी अपनी श्रेणीके मनुष्योंमें उन्नतिका मार्ग प्रदर्शन किया करते हैं। इसी कारण सनातन-धर्मके प्रवर्तक पूज्यपाद आचार्योंने कहा है कि जो धर्म किसी धर्मको बाधा न दे प्रत्युत सहायता करे वही यथार्थमें सद्धर्म है। इसी कारण सनातनधर्मकी पूर्ण और सर्वजीवहितकारी वैज्ञानिक दृष्टिके सन्मुख पृथिवीके सब धर्ममार्ग उसके प्रिय पुत्र पौत्रवत् हैं। इसी कारण सच्चा सनातनधर्मावलम्बी किसी धर्मपन्थ या धर्ममतसे विरोध नहीं रखता। अपने आचारका पालन करनेमें असमर्थ होने पर भी सब दशामें उनके साथ विचारसे ऐक्य स्थापन करता है और किसीकी निन्दा नहीं करता। इसी कारण श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है कि—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

जो ज्ञान ज्ञानीके अन्तःकरणमें उदय होकर नाना प्रकारकी भिन्नता प्राप्त वस्तु तथा जीवोंमें भी अद्वितीय एकताके भावको ज्ञानीको दिखाया करता है, वही सर्वलोक हितकर सर्व प्रेममय ज्ञान सात्त्विक ज्ञान कहाता है।

षष्ठ समुल्लासका पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीधर्मकल्पद्रुमका षष्ठखण्ड समाप्त हुआ।